श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

श्रीश्रीब्रह्मसंहिता

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

शतााध्यायि–

श्रीश्रीब्रह्मसंहिता

पञ्चमाध्यायः

कलियुगपावन–स्वभजनविभजनप्रयोजनावतारि–श्रीकृष्णचैतन्याम्नायतृतीयाधस्तनवर–
पुरुषराजेन श्रीविश्ववैष्णवराजसभा–सभाजनविभाजन–
श्रीरूप–सनातनानुशासनानुसरण–निपुणगणगरिष्ठेन
श्रीब्रह्ममाध्वगौड़ीयसम्प्रदायसंरक्षकवर्येन
श्रीमता जीवगोस्वामिपादेन कृतया टीकया

श्रीकृष्णचैतन्याम्नायाष्टमाधस्तनपुरुषवर्येन
श्रीमद्भक्तिविनोदठक्कुरेण लिखितैः पाठकाकर्षणानुवादतात्पर्यैः

श्रीचैतन्यमठस्य तथा श्रीगौड़ीयमठानां प्रतिष्ठातृवरेण प्रभुपादेन
श्रीचैतन्याम्नायनवमाधस्तेनान्वयाचार्यभास्करेण
श्रीलभक्तिसिद्धान्तसरस्वतीगोस्वामिठक्कुरेण
लिखितया आकृष्टस्योपलब्ध्याख्यया भूमिकया

राष्ट्रभाषाप्रतिशब्दसमन्वितेन प्रकाशककृतान्वयेन

श्रीगौड़ीयवेदान्तसमितेः प्रतिष्ठातुः श्रीकृष्णचैतन्याम्नायदशमाधस्तनवरस्य
श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरिणः
श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञानकेशवगोस्वामिनः

अनुगृहीतेन

त्रिदण्डिस्वामिना श्रीमद्भक्तिवेदान्तनारायणमहाराजेन

कृतया विवृत्या संवलिता सम्पादिता च

प्रकाशक— त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त तीर्थ महाराज
श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ,
मथुरा (उ॰ प्र॰)

द्वितीय संस्करण— श्रीगौर-पूर्णिमा, २५ मार्च २००५

प्राप्ति-स्थान—

१. श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा (उ॰ प्र॰) & २५०२३३४
२. श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ, वृन्दावन (उ॰ प्र॰) & २४४३२७०
३. श्रीदुर्वासा ऋषि गौड़ीय आश्रम, यमुनापार, मथुरा (उ॰ प्र॰) & ४५०५१०
४. श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ, राधाकुण्ड रोड, गोवर्धन, मथुरा & २८१५६६८
५. श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, कोलेरडांगा लेन, हरितला, नवद्वीप
६. श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ, बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली, & २५५३३५६८
७. श्रीखण्डेलवाल एण्ड सन्स, अठखम्भा बाजार, वृन्दावन & २४४३९०९

मुद्रकका नाम— रेक्मो प्रिंटर्स, नई दिल्ली

श्रीश्रीमायापुरचन्द्रो जयति।

पाठकाकर्षण

श्रीचैतन्यचरितामृत-मध्यलीलाके नवम-परिच्छेदमें ऐसा उल्लेख है—

सेइ दिन चलि आइला पयस्विनी तीरे।
स्नान करि' गेल आदिकेशव-मन्दिरे॥
महाभक्तगणसह ताहाँ गोष्ठी हइल।
'ब्रह्मसंहिताध्याये' पुँथि ताहाँ पाइल॥
पुँथि पाइया प्रभुर हैल आनन्द अपार।
कम्प-अश्रु-स्वेद-स्तम्भ-पुलक-विकार॥
सिद्धान्त-शास्त्र नाहि 'ब्रह्मसंहिता'-समान।
गोविन्दमहिमा-ज्ञानेर परम कारण॥
अल्प अक्षरे कहे सिद्धान्त अपार।
सकल-वैष्णव शास्त्र-मध्ये अति सार॥
बहु यत्ने सेई पुँथि लइला लेखाइया।
'अनन्त-पद्मनाभ' आइला हरषित हइया॥

अर्थात् संन्यास ग्रहणके पश्चात् श्रीशचीनन्दन गौरहरि श्रीपुरी धाममें कुछ दिन रहे। तत्पश्चात् तीर्थ-भ्रमणके बहाने दक्षिण भारतमें भ्रमण करते-करते कन्याकुमारीका दर्शनकर मल्लार देश-स्थित 'वेतपानी' नामक तीर्थस्थलमें श्रीरघुनाथजीका दर्शन किया। रातमें वहीं विश्राम किया। वहाँ भट्टथारियोंका एक दल (कंजड़ जैसा घूमता-फिरता फिरका दल) ठहरा हुआ था। उन्होंने श्रीमन्महाप्रभुके संगी-सेवक कालाकृष्णदासको स्त्रीधनका लोभ देकर फँसा लिया। किन्तु श्रीमन्महाप्रभु किसी प्रकार कृष्णदासको अपनी ऐश्वर्यमयी शक्तिसे बचाकर उसी दिन पयस्विनी नदीके पावन तट पर चले आये। वहाँ उन्होंने स्नान-सन्ध्यादिकर श्रीआदिकेशवका दर्शन किया। दर्शन करते समय वे भावाविष्ट होकर नृत्य, कीर्तन और स्तव-स्तुति करने लगे। उनका

दर्शनकर वहाँ उपस्थित हजारों दर्शनार्थी और विद्वान् भक्तजन बड़े ही आश्चर्य चकित हुए। देव-दर्शनके पश्चात् बड़े-बड़े उच्चकोटिके विद्वान् और तत्त्वज्ञ भक्तोंको 'श्रीब्रह्मसंहिता'के इस पञ्चम अध्यायका पाठ करते हुए देखा। श्रीमन्महाप्रभु उस भक्तिग्रन्थको श्रवणकर बड़े ही उल्लसित हुए। उसके कतिपय श्लोकोंको स्वयं पढ़कर स्थिर नहीं रह सके। उनके अङ्गोंमें अश्रु, पुलक, कम्प आदि अष्टसात्त्विक भाव प्रकाशित होने लगे। वास्तवमें ब्रह्मसंहिता एक अपूर्व और अनुपम भक्तिग्रन्थ है। इसमें स्वयं-भगवान् श्रीगोविन्ददेवका चरम महत्व, भगवत्तत्त्व-ज्ञान, भक्तितत्त्व-ज्ञान आदिके चरम सिद्धान्तोंका वर्णन गागरमें सागरकी भाँति भरा हुआ है। संक्षेपमें यह ग्रन्थ वेद, पुराण, श्रीगीता, श्रीमद्भागवत आदि सभी वैष्णव-शास्त्रोंका सार-संकलन है। श्रीमन्महाप्रभुजी अतिशय प्रयत्नपूर्वक इस महान ग्रन्थकी एक प्रतिलिपि प्रस्तुत करवाकर उसे अपने साथ श्रीधाम पुरीमें लाये थे। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थके विषयमें मेरा अपना कोई वक्तव्य नहीं है। मेरा तो केवलमात्र यही कथन है कि यदि यह ग्रन्थ अति प्राचीन ग्रन्थोंकी श्रेणीमें परिगणित हो, तो यह अतिशय अपूर्व कृष्ण-भक्तिका प्रमाण-स्थल होगा। यदि कोई यह कहे कि इस प्रदेशमें (उत्तर भारत) इस ग्रन्थका कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता; अतएव श्रीचैतन्यमहाप्रभु ही इसके रचयिता हैं। यदि ऐसा ही स्थिर हो, तो इससे अधिक आनन्दका विषय और क्या हो सकता है? क्योंकि श्रीमन्महाप्रभु द्वारा रचित कोई सिद्धान्त-ग्रन्थ प्राप्त होने पर वैष्णव-जगतमें और कोई संशय ही नहीं रहेगा। जैसी भी विवेचना करें, यह ब्रह्मसंहिता-ग्रन्थ वैष्णवमात्रके लिए पूजनीय और पठनीय है।

—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

आकृष्टकी उपलब्धि

श्रीगौरसुन्दर द्वारा संग्रहीत श्रीब्रह्मसंहिताका प्रचार उनसे पूर्व आर्यवर्त्तमें नहीं था—यह विदित है। आर्यवर्त्तमें नैमिष-साहित्य सात्त्वत-संहिता श्रीमद्भागवतका ही बहुल प्रचार था। 'ब्रह्म'—शब्दसे वेद और वेद-प्रतिपाद्य वास्तव वस्तुका बोध होता है। वे वेद-प्रतिपाद्य वास्तव वस्तु—परम पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण या श्रीगोविन्द ही हैं। जहाँ 'अपौरुषेय'—शब्द परम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको लक्ष्य न कर केवल प्राकृत-निराश अर्थात् नेति-नेतिके लिए ही व्यवहृत होता है, वहाँ वैसी उपलब्धि ताटस्थ्य-धर्ममें ही अवस्थित होती है।

श्रीचतुर्मुख ब्रह्माने अपौरुषेय संहितामेंसे अनात्म-विचारको छोड़कर पुरुषोत्तम भगवद् वस्तुकी जिस शुद्धभक्ति-तत्त्वको अपने हृदयमें धारण किया था, उसीको उन्होंने संहिताके आकारमें एक सौ अध्यायोंमें वर्णन किया है। उनमेंसे यह पञ्चम अध्याय जीवमात्रके लिए परमोपयोगी होनेके कारण गौड़ीय-भक्तोंका परमाराध्य-स्वरूप है। विशेषतः श्रीब्रह्म-सम्प्रदायके विचारसे श्रीमद्भागवतके मूल-चतुःश्लोकीमें ही भगवदनुग्रहसे वास्तविक सत्यका प्रकाश हुआ है।

पुरुषोत्तम वस्तु प्राकृत लघु-पुरुषकी श्रेणीमें परिगणित नहीं होती। इन दोनोंमें यह भेद है कि प्रकृतिके परमेश्वर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं, और प्रकृतिका परमाराध्य जीव है और केवल उसीके प्राकृत परिचयके साथ भगवद्दर्शनके विषयमें अपौरुषेय-शब्दका व्यवहार होता है। सात्त्वत संहिताके प्रथम श्लोकमें—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजो-वारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

जिस धामका उल्लेख है, वह कोई प्राकृत स्थान-विशेष नहीं है। 'धाम' शब्दका अर्थ है—आश्रय और प्रकाश। प्रकाशरहित दर्शन संभव नहीं है।

दर्शनके उपास्य दृश्य आलोकाधारमें पुरुषाकारमें प्रतिष्ठित हैं। प्रकृतिके अन्तर्गत पुरुषके रूपमें परिचित जो नश्वर और अपेक्षित सम्बन्ध है, उससे अतीत अप्राकृत धाममें आलोकके अधिष्ठान—नित्य सम्बन्धयुक्त परम पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण सदैव विराजमान रहते हैं।

निर्विशेष-तत्त्वके विचारसे आलोकके द्रष्टृ-दृश्य भाव एकीभूत होता है; वह प्राकृत राज्यके असम्पूर्ण, अनुपादेय परिमितिके ऊपर अधिष्ठित है। मायाशक्ति, अपने ईश्वर अमितशक्तियुक्त महेश्वरके (विष्णु) वैकुण्ठको खर्व करनेमें समर्थ नहीं है। इस ग्रन्थके पञ्चम अध्यायमें वर्णित विचारोंके द्वारा निर्विशेषपरक जागतिक विचारोंको सम्पूर्ण रूपसे अस्वीकार किया गया है।

जागतिक विचारसे निमित्त और उपादान-कारणके शास्त्रीय वर्णनमें जो अश्लीलता-दोषका आरोप देखा जाता है, उसके दूरीकरणके लिए ब्रह्मसंहिताका तत्सम्बन्धीय विचारका तात्पर्य गंभीरतासे अनुशीलनीय है। यह ग्रन्थ अश्लील उपकरणोंसे अश्लील व्यक्तियोंके मनको उल्लसित करनेके लिए परिकल्पित नहीं है; परन्तु अश्लील भावोंसे विकारग्रस्त दुर्बल व्यक्तियोंके हृदयमें पारमार्थिक बलसंचारके लिए ही उसका प्राकट्य है।

भगवद् वस्तुके वास्तविक दर्शन और अवास्तविक दर्शनमें चार प्रकारके विचार सम्पुष्ट होनेके कारण भगवद्वस्तु अवैधभावसे दृष्टिगोचर होने पर ही पञ्चोपासनाकी सृष्टि हुई है, इस विषयको भलीभाँति सहज-सरलरूपमें समझनेके लिए इस ग्रन्थके परिशिष्टमें जो पाँच श्लोक सन्निहित हैं, उनका पाठ करनेसे सुदर्शनकी कृपासे नित्य अभिज्ञता प्राप्त होगी। ऐसा होने पर श्रीधामका विरोधी होकर निर्विशेषवादका प्रचार करना सर्वथा असंभव होगा।

देवीधाम और महेशधामके अतीत निरस्तकुहक (अज्ञानान्धकार रहित) स्वप्रकाशमय स्वधाम-परव्योमका वैशिष्ट्य सौभाग्यसे उदित होता है। परात्पर सदानन्द विचारमें किसी आपेक्षिक कैतव (वंचना)का आश्रय न होनेके कारण वह प्रकृतिसे अतीत व्यापार है। तद्विषयक वर्णन अपौरुषेय-संहिता कहलाता है। अभिधेय साधनभक्तिके प्रभावसे मलिन हृदयवाले मानवोंकी जड़-विषय-भोगसे मुक्तिकी संभावना है। जड़-विषय-भोगोंमें फँसे हुए व्यक्तियोंके लिए शुद्ध भक्तिका आश्रय ग्रहण करना असंभव है। वैसे लोग इस जगत्के कर्माङ्गणमें प्रपीड़ित होनेके ही योग्य हैं। कामदेवके गुणगानके अतिरिक्त जीवोंका भोगवासनोत्थ काम कदापि दूर नहीं हो सकता । किन्तु

निकृष्ट कामके साथ उत्कृष्ट कामदेवको समपर्यायमें ग्रहण करनेसे हितके विपरीत अहित ही होगा। जिस समय हम लोग चतुर्मुख ब्रह्माके अनुगामी होकर भगवत्प्रसाद प्राप्त करेंगे और कृष्ण-स्तुति गानके द्वारा भगवत्प्रीतिके पात्र हो सकेंगे, तभी हमारा 'ब्रह्मसंहिता'—पाठ सफल होगा।

उस समय हमलोग यह जान सकेंगे कि ऐश्वर्य-प्रधान वास्तव-पुरुषोत्तमकी सेवाके परमोच्च स्थानमें माधुर्यमय विग्रह श्रीराधागोविन्द गौरतनु (श्रीगौरसुन्दर) अवस्थित हैं। उसी गोलोकके निम्नार्द्धमें ढ़ाई रस (श्रीनारायण) विराजमान हैं। उसके नीचे महेशधाम और उसके नीचे प्राकृत चौदह भुवनात्मक देवीधाम अवस्थित हैं। देवीधाम-वासी ब्रह्माण्डके पथिकोंकी कामना महेशधाममें अपसारित हुई है। महेशधामकी निष्काम-धारण सेवा-शतमुखीके द्वारा सर्वदा नीराजित है। वही शतमुखी ब्रह्मसंहिताने पञ्चम-पुरुषार्थ कथनके द्वारा श्रीश्रीराधागोविन्दकी प्रेमामृत-सीमाका वर्णन किया है। उसी प्रेमामृतके संग्रहकर्त्ता श्रीगौरसुन्दरने स्वयं उसे जगज्जीवोंको वितरण कर अपनी महावदान्यता और श्रीकृष्णप्रेम-प्रदानलीलाका प्रदर्शन किया है।

—श्रीसिद्धान्त सरस्वती

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

प्रस्तावना

श्रीगौड़ीय वैष्णव साहित्यमें ही नहीं, वरन् वेद, वेदान्त, पुराण, भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत आदि समग्र भारतीय वाङ्मयमें, श्रीब्रह्म-सम्प्रदायके आदिगुरु लोकपितामह ब्रह्मा द्वारा प्रकाशित तथा श्रीश्रीराधाभावद्युति सुवलित श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा संग्रहीत एवं प्रचारित—'श्रीब्रह्मसंहिता' अनेकानेक भक्तिसिद्धान्तरूप परमोज्ज्वल दिव्यरत्नोंसे भरपूर एक अनुपम भक्ति-ग्रन्थ है। मदीय परमाराध्य गुरुपादपद्म ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी कृपा एवं प्रेरणासे आज उक्त 'ब्रह्मसंहिता'को भारतीय राष्ट्रभाषा हिन्दीमें पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है।

परमाराध्य श्रीश्रीगुरुदेवकी यह हार्दिक अभिलाषा थी कि वैदिक भक्ति-साहित्यके साथ-ही-साथ विशेषतः अनुपम हितकारी गौड़ीय-वैष्णव भक्ति-साहित्यका भी हिन्दी भाषा और विश्वकी अन्यान्य प्रधान-प्रधान भाषाओंमें बहुल प्रकाशन और वितरण हो। उन्हींके अनुग्रह और प्रेरणासे कुछ ही वर्षोंमें श्रीमद्भगवद्गीता (श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती टीका समन्वित), श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कृत जैवधर्म, श्रीचैतन्यशिक्षामृत, भजनरहस्य, श्रीमन्महाप्रभुका शिक्षाष्टक, श्रील रूपगोस्वामी कृत उपदेशामृत, श्रील रघुनाथदास गोस्वामीकृत मनःशिक्षा तथा श्रील चक्रवर्ती ठाकुरकृत भक्तिरसामृतसिन्धुबिन्दु, उज्ज्वलनीलमणिकिरण, भागवतामृतकणा आदि चालीस-पचास भक्ति-ग्रन्थोंका प्रकाशन हो चुका है। प्रसन्नताका विषय है कि हिन्दी भाषाके साथ ही विश्वकी अन्यान्य प्रधान-प्रधान भाषाओंमें भी इनके संस्करण प्रकाशित हो रहे हैं। उसी कड़ीमें आज ब्रह्मसंहिताका प्रकाशन परमानन्दका विषय है।

सृष्टिके आधिकारिक देवता आदिकवि लोकपितामह ब्रह्मा, गर्भोदशायी विष्णुके नाभिकमलसे प्रादुर्भूत होकर दशोंदिशाओंमें केवल अन्धकार-ही-अन्धकार देखकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये। तदनन्तर भगवत्कृपासे 'तप' शब्द श्रवण कर कठोर तप करने लगे।[क] तपस्याकी सिद्धि होने पर पूर्ण-

---

[क] ब्रह्मसंहिताके अनुसार श्रीकृष्णकी कृपासे ब्रह्माजी दैववाणीके माध्यमसे अष्टादशाक्षर मन्त्रको पाकर मन्त्रजपरूपी तपस्या करने लगे। फलस्वरूप

भगवत्कृपासे ब्रह्माजीके हृदयमें सच्चिदानन्द–भगवत्तत्त्वका प्रकाश हुआ। सात्त्वतसंहिता श्रीमद्भागवतके प्रारम्भिक मंगलाचरणात्मक श्लोकमें भी ऐसा ही कहा गया है—'तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये' अर्थात् भगवत्कृपासे श्रीब्रह्माके हृदयमें सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्दविग्रह श्रीभगवान्के तत्त्वज्ञानकी स्फूर्ति हुई। तदनन्तर जिन सर्ववेद–सार सिद्धान्तपूर्ण वचनोंसे उन्होंने स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका स्तव किया, उसीको 'ब्रह्मसंहिता' कहते हैं।

इस महान ग्रन्थमें एक सौ अध्याय हैं; उनमेंसे इस पञ्चम अध्यायमें सम्पूर्ण–ग्रन्थका सार गागरमें सागरकी भाँति भरा हुआ है। सचमुचमें समस्त वेद, पुराण, संहिताओं, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि प्रामाणिक वैष्णव शास्त्रोंका सार–सिद्धान्त–समूह इस महाग्रन्थराजमें निहित है। महावदान्य श्रीशचीनन्दन गौरहरि जिस समय लोक–कल्याणके लिए दक्षिण भारतमें केरल–प्रदेशकी राजधानी त्रिवेन्द्रममें श्रीअनन्तपद्मनाभजीका दर्शन करनेके लिए जा रहे थे, उसी समय रास्तेमें पुण्यतोया पयस्विनी नदीके तट पर 'आदिकेशव'जीके मन्दिरमें उपस्थित हुए। वहाँ पर वे बड़े–बड़े भक्तोंको 'ब्रह्मसंहिता'के इस पञ्चम अध्यायका पाठ करते हुए श्रवणकर अत्यन्त आह्लादित हुए। उन्होंने उक्त ग्रन्थकी एक प्रतिलिपि लिखवाकर अपने साथ रख ली। वही पञ्चम अध्याय ही अब ब्रह्मसंहिताके नामसे प्रसिद्ध है।

इस ग्रन्थराजके सम्बन्धमें कुछ अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं समझता। श्रीगौड़ीय सम्प्रदायके तत्त्व–सिद्धान्ताचार्य श्रील जीवगोस्वामीने स्वलिखित 'दिग्दर्शनी' टीका ही इस महान ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयोंका विवेचन करते हुए इसका जो अनवद्य माहात्म्य प्रकाशित किया है, वह अपने–आपमें पूर्णतम है। श्रीचैतन्यचरितामृतकार श्रीलकृष्णदास कविराजने भी इस महान वैष्णव–ग्रन्थके सम्बन्धमें लिखा है—

"सिद्धान्त शास्त्र नाहि 'ब्रह्मसंहिता' समान।
गोविन्द – महिमा–ज्ञानेर परम कारण ॥
अल्प अक्षरे कहे सिद्धान्त अपार ।
सकल वैष्णव–शास्त्र मध्ये अतिसार ॥"

श्रीचैतन्य महाप्रभु दक्षिण भारतसे अपने साथ इस सिद्धान्त ग्रन्थके अतिरिक्त

पुनः वेणुध्वनिके माध्यमसे कामगायत्रीको प्राप्तकर उन्हें द्विजत्वसंस्कार प्राप्त हुआ। तदनन्तर वेदोंके सार–सिद्धान्तपूर्ण श्लोकोंके द्वारा वे श्रीकृष्णका स्तव करने लगे।

एक और कृष्णलीला-ग्रन्थ—श्रीकृष्णकर्णामृत भी लाये थे। श्रीरथ-यात्राके समय उनके लीला-परिकरोंके अतिरिक्त श्रीधाम वृन्दावन आदि उत्तर भारतके विभिन्न प्रदेशोंसे आये हुए भक्तजन बड़े आग्रहसे इन दोनों ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि प्रस्तुत कर अपने-अपने साथ ले गये। उसीसे सारे आर्यवर्तमें भी इसका बहुत प्रचार हुआ। इस सम्बन्धमें श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

'प्रत्येक वैष्णव सब लिखिया लइल।
क्रमे क्रमे दुई पुस्तक जगत् व्यापिल॥"

निगूढ़ भक्तिसिद्धान्तसे भरपूर इस ग्रन्थराजकी टीका गौड़ीय-सिद्धान्ताचार्य श्रील जीवगोस्वामीने लिखी है। टीकाका नाम दिग्दर्शनी है। टीकाकार प्रसिद्ध श्रीसनातन गोस्वामी और श्रीरूपगोस्वामीके अनुज श्रीअनुपमके (श्रीवल्लभ मल्लिक) सुपुत्र हैं। इनका आविर्भाव बंगाल प्रदेशके मालदह जिलेके अन्तर्गत रामकेलिग्राममें लगभग १४२८ शाकाब्दमें हुआ था। श्रीचैतन्य महाप्रभु जिस समय श्रीरूप-सनातनको दर्शन देनेके लिए रामकेलिमें पधारे थे, उस समय शैशवास्थामें श्रीजीवको उनके श्रीचरण-दर्शन और स्पर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

बाल्यकालसे ही वे बड़े मेधावी और गंभीर व्यक्तित्वके धनी थे। पौगण्डावस्थामें ही व्याकरणादि शास्त्रोंका अध्ययन समाप्त करनेके पश्चात् गृहत्यागकरके श्रीचैतन्य महाप्रभुकी आविर्भावस्थली मायापुर योगपीठमें श्रीश्रीनित्यानन्द प्रभुके श्रीचरणकमलोंमें उपस्थित हुए और उनकी अहैतुकी कृपासे उन्हींके साथ सोलह क्रोश श्रीनवद्वीप मण्डलका दर्शन किया। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने स्वकृत श्रीनवद्वीपधाम माहात्म्य नामक ग्रन्थमें इस प्रसंगका रोचक वर्णन किया है।

श्रीनित्यानन्द प्रभुने श्रीजीवको श्रीधाम वृन्दावनमें श्रीरूप-सनातनके निकट जानेकी आज्ञा प्रदान की। श्रीवृन्दावनके मार्गमें श्रीजीव गोस्वामीने वाराणसीमें कुछ समय तक श्रीमधुसूदन विद्यावाचस्पतिके निकट रहकर न्याय-वेदान्त आदि शास्त्रोंका विधिवत् अध्ययन किया। तदनन्तर श्रीधाम वृन्दावनमें श्रीरूपगोस्वामीका शिष्यत्व अङ्गीकारकर उनके ग्रन्थ रचना-रूप महत्कार्यमें विविध प्रकारसे सहायता-सेवा करने लगे।

श्रील रूप-सनातन गोस्वामियोंके अप्रकटकालमें वे ही ब्रजमण्डल, गौड़मण्डल तथा क्षेत्रमण्डलमें एकछत्र गौड़ीय वैष्णवाचार्य-सम्राट थे। उनके ही निकट श्रीनरोत्तम ठाकुर, श्रीनिवासाचार्य और श्रीश्यामानन्द प्रभुने शिक्षा

प्राप्त कर बंगाल, आसाम, मणिपुर, उड़ीसामें श्रीगोस्वामी–ग्रन्थोंका तथा हरिनाम संकीर्तनका प्रबल रूपसे प्रचार किया था। श्रील जीवगोस्वामीने हरिनामामृत व्याकरण, षट्सन्दर्भ, सर्वसंवादिनी, क्रम–सन्दर्भ (श्रीमद्भागवतकी टीका) गोपाल–चम्पू, माधव–महोत्सव, लघु–वैष्णवतोषिणी (दशमस्कन्ध टीका) श्रीब्रह्मसंहिताकी दिग्दर्शनी टीका प्रभृति पच्चीस मूल्यवान ग्रन्थोंकी रचनाएँ कीं।

श्रील जीवगोस्वामीकी दिग्दर्शनी टीकाकी सहायताके बिना ब्रह्मसंहिताके गभीर निगूढ़ सिद्धान्तोंको समझ पाना अत्यन्त दुरूह है। किन्तु दिग्दर्शनी टीकाके रहस्यपूर्ण गंभीर विचारोंको भी समझ पाना नितान्त कठिन है। श्रीचैतन्य महाप्रभुके परिकर, आधुनिकयुगमें भक्ति–भागीरथीको पुनः प्रवाहित कर विश्वको प्रेमप्लावित करनेवाले भगीरथ—श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरने इस ग्रन्थका बंगलानुवाद तथा प्रकाशिनी नामक वृत्ति—तात्पर्य लिखकर वैष्णव जगत्का महान उपकार किया है। इनके द्वारा लिखित 'तात्पर्य' की सहायतासे अति सुगमतापूर्वक श्रीजीवगोस्वामीके गंभीर विचारों तथा मूल–ग्रन्थके अतिगूढ़ भावोंको हृदयङ्गम किया जा सकता है।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुरका आविर्भाव श्रीधाम नवद्वीपके पास ही उला नामक ग्राममें उच्चकोटिके विद्वान् और धार्मिक परिवारमें हुआ था। ये सन् १८३८ ई. से १९१४ ई. तक इस धराधाममें प्रकट थे। इनकी शिक्षा कोलकता महानगरीमें हुई थी। ये संस्कृत, बंगला, हिन्दी, उड़िया, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओंके पारंगत विद्वान थे। ये महापुरुष श्रीगौराविर्भाव स्थली, श्रीधाम मायापुरके वर्तमान आविष्कारकर्ता हैं, सारे विश्वमें हरिनाम–संकीर्तन तथा गौरवाणीके प्रचारक सुप्रसिद्ध जगत्गुरु श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद'के पूज्य पिता और शिक्षागुरु भी हैं।

इन्होंने श्रीचैतन्यशिक्षामृत, श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा, जैवधर्म, श्रीकृष्णसंहिता, भागवतार्कमरीचिमाला, श्रीहरिनाम चिन्तामणि, भजन–रहस्य, दत्त कौस्तुभ आदि लगभग एक सौ ग्रन्थोंकी रचनाएँ की हैं। इनकी भाषा अत्यन्त प्राञ्जल होने पर भी भाव अतिशय गंभीर एवं प्रौढ़ हैं। इनके द्वारा लिखित श्रीब्रह्मसंहिताका तात्पर्य अतिशय गंभीर और भावपूर्ण है। विशेषतः ३७वें श्लोकके 'निजरूपतया' पदकी सुविस्तृत व्याख्यामें इन्होंने श्रीरूप गोस्वामीपादके परकीय–सिद्धान्त तथा श्रीजीव गोस्वामीके स्वकीय–सिद्धान्तके विषयमें जो अत्यन्त सूक्ष्मतम विवेचन द्वारा सुसामञ्जस्य स्थापन किया है, वह अत्यन्त आश्चर्यजनक सुमहान कार्य है।

इस ग्रन्थके अनुवाद कार्यमें स्नेहास्पद श्रीमान भक्तिवेदान्त तीर्थ महाराजने बहुत ही सराहनीय–सहायता की है। यथार्थमें उन्हींके प्रबल आग्रहके कारण ही मुझे अन्यान्य ग्रन्थोंके प्रकाशनसे भी अधिक इस ग्रन्थके प्रकाशनको प्राथमिकता देनी पड़ी। इस ग्रन्थकी पाण्डुलिपि प्रस्तुत करने, कम्प्यूटर द्वारा कम्पोज करने, प्रूफ संशोधन आदि बहुविध सेवाकार्योंके लिए स्नेहास्पद श्रीमान् भक्तिवेदान्त माधव महाराज, श्रीओमप्रकाश ब्रजवासी (एम.ए, एल.एल.बी), श्रीमान् पुण्डरीक ब्रह्मचारी, श्रीमान् पुरन्दर ब्रह्मचारीकी सेवा–प्रचेष्टा अत्यन्त सराहनीय रही हैं। श्रीभूधरदासने आर्थिक आनुकूल्य प्रदानकर श्रीशचीनन्दन गौरहरिकी सेवा की है। श्रीश्रीगुरु–गौराङ्ग–श्रीश्रीगान्धर्विका–गिरिधारीजी इन सब पर प्रचुर कृपा वर्षण करें—उनके श्रीचरणोंमें यही प्रार्थना है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि भक्ति–पिपासु श्रद्धालु साधक और विद्वन्मण्डलीमें इस ग्रन्थका अवश्य ही समादर होगा। वे लोग विमल प्रेमधर्ममें प्रवेश करें—यही अभीष्ट है। परदुःख कातर, भगवत्कृपाकी मूर्त्ति परमाराध्य श्रीगुरुपादपद्म एवं शचीनन्दन श्रीगौरहरि प्रसन्न होकर हमें अपनी मनोभीष्ट सेवामें अधिकार प्रदान करें—उनके श्रीचरणकमलोंमें यही एकमात्र सकातर प्रार्थना है। अलं अतिविस्तरेण।

श्रीगुरुवैष्णव कृपालेश प्रार्थी

—श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

विषय–सूची

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

श्रीश्रीब्रह्मसंहिता

श्लोक १

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥१॥

अन्वय—कृष्णः (व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण) परमः ईश्वरः (परमेश्वर अर्थात् सभी ईश्वरोंके भी ईश्वर—सभी अवतारोंके भी मूल अवतारी) सच्चिदानन्दविग्रहः (सन्धिनी-सम्वित्-ह्लादिनी—स्वरूपशक्तिकी इन तीनों वृत्तियोंसे समन्वित) अनादिः (आदिरहित) आदिः (सभीके मूलरूप) सर्वकारण-कारणम् (समस्त कारणोंके भी कारण अर्थात् मूल-स्वरूप) गोविन्दः (गोविन्द—इन्द्रियोंके सेव्य अभिधेयाधिदेव गोविन्द)॥१॥

अनुवाद—सच्चिदानन्दविग्रह श्रीगोविन्द कृष्ण ही परमेश्वर हैं। वे अनादि, सबके आदि और समस्त कारणोंके कारण हैं॥१॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद-कृता टीका

श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीकृष्णरूपमहिमा मम चित्ते महीयताम्।
यस्य प्रसादाद्व्याकर्तुमिच्छामि ब्रह्मसंहिताम्॥
दुर्योजनापि युक्तार्था सुविचाराद्दृषिस्मृतिः।
विचारे तु ममात्र स्याद्दृषिणां स ऋषिर्गतिः॥
यद्यप्यध्यायशतयुक् संहिता सा तथाप्यसौ।
अध्यायः सूत्ररूपत्वात्तस्याः सर्वाङ्गतां गतः॥
श्रीमद्भागवताद्येषु दृष्टं यन्मृष्टबुद्धिभिः।
तदेवात्र परामृष्टं ततो हृष्टं मनो मम॥
यद्यच्छ्रीकृष्णसन्दर्भे विस्तराद्विनिरूपितम्।
अत्र तत् पुनरामृश्य व्याख्यातुं स्पृश्यते मया॥

अथ श्रीभागवते यदुक्तं,—"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति, तदेव तावत् प्रथममाह,—ईश्वर इति। अत्र 'कृष्ण' इत्येव विशेष्यं तन्नाम एव—'कृष्णावतारोत्सव' इत्यादौ श्रीशुकादिमहाजनप्रसिद्ध्या, "कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय" इत्यादि सामोपनिषदि च प्रथमप्रतीतत्वेन, तन्नामवर्णाविर्भावकृता गर्गेण प्रथममुद्दिष्टत्वेन, तथा च मंत्रमधिकृत्य 'पयसा कुम्भं पूरयति' इति न्यायेन तत्राग्रतः पठितत्वेन, मूलरूपत्वात्। तदुक्तं प्रभासखण्डे पद्मपुराणे च श्रीनारदकुशध्वजसंवादे श्रीभगवदुक्तौ,—"नाम्नां मुख्यतमं नाम कृष्णाख्यं मे परन्तप" इति। अतएव ब्रह्माण्डपुराणोक्त-कृष्णाष्टोत्तर- शतनाम-स्तोत्रे—"सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्या तु यत् फलम्। एकावृत्त्या तु कृष्णस्य नामेकं तत् प्रयच्छति॥" इत्यत्र श्रीकृष्णस्येत्येवोक्तम्। यत्त्वग्रे 'गोविन्द' नाम्ना स्तोष्यते, तत् खलु कृष्णत्वेऽपि तस्य गवेन्द्रत्व-वैशिष्ट्य-दर्शनार्थमेव। तदेवं रूढ़िबलेन प्राधान्यात्तस्यैव 'ईश्वरः' इत्यादीनि विशेषानि। अथ गुणद्वारापि तद्दृश्यते; यथाह गर्गः,—"आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृहण्तोहनुयुगं तनूः। शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥ बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते। गुणकर्म्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः॥"—'अस्य' कृष्णत्वेन दृश्यमानस्य 'प्रतियुगं' नाना 'तनूः' अवतारान् 'गृहण्तः' प्रकाशयतः शुक्लादयो 'वर्णास्त्रयः' 'आसन्' प्रकाशमवापुः; सत्यादौ शुक्लादिरवतार 'इदानीं' साक्षादस्यावतारसमये 'कृष्णतां गतः' एतस्मिन्नेवान्तर्भूतः। अतएव कृष्णे कर्त्तृत्वात् सर्वोत्कर्षकत्वात् कृष्णेति मुख्यं नाम; तस्मादस्यैव तानि रूपाणीत्याह,—बहूनीति। तदेवं गुणद्वारा तन्नाम्नि प्राधान्यसूचकस्य कृष्णस्य तन्नाम्नः प्राधान्ये लब्धे "कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥" इति योगवृत्तित्वेऽपि तस्य तादृशत्वं लभ्यते। न चेदं पद्यमन्यपरम। तदुपासना-तन्त्र-गौतमीयतन्त्रेऽष्टादशाक्षर-मन्त्रव्याख्यायां तदेतत्तुल्यं पद्यं दृश्यते—"कृषिशब्दश्च सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः। सुखरूपो भवेदात्मा भावानन्दमयस्ततः॥" इति। तस्मादयमर्थः—'भवन्त्यस्मात् सर्वेऽर्थाः' इति भू-धात्वर्थ उच्यते भावशब्दवत्। स चात्र कर्षतेरेवार्थः। गौतमीये भू-शब्दस्य सत्ता-वाचकत्वेऽपि तद्धात्वर्थः सत्तैवोच्यते। घट-शब्दस्य प्रतिपाद्यमानत्वेन सह सामानाधिकरण्यासम्भ-

वाद्धेतुमत्तावद्भेदोपचारः कार्य्यः। तच्चाकर्षाभिप्रायः। घटत्वं सत्ता–वाचकमित्यु–क्तेर्घटसत्तैव गम्यते, न तु पटसत्ता, न सामान्यसत्तेति। अथ 'निर्वृतिः' आनन्दः; तयोरैक्यं सामानाधिकरण्येन व्यक्तम्। यत् 'परं ब्रह्म' सर्वतोऽपि सर्वस्यापि बृंहणं वस्तु तत् बृहत्तमम्। 'कृष्ण इत्यभिधीयते' ईर्य्यते इति वा पाठः। किन्तु कृषेराकर्षमात्रार्थकेन ण–शब्दस्य च प्रतिपाद्येनानन्देन सह सामानाधिकरण्यासम्भ–वाद्धेतुहेतुमतोरभेदोपचारः कार्य्यः। तच्चाकर्षप्राचुर्य्यार्थम् 'आयुर्घृतम्' इतिवत्। परब्रह्मशब्दस्य तत्तदर्थश्च—"बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च यद्ब्रह्म परमं विदुः" इति विष्णुपुराणात्; "अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म बृंहति बृंहयति" इति श्रुतेश्च। एवमेवोक्तं बृहद्गौतमीये—"कृषिशब्दो हि सत्तार्थो णश्चानन्द–स्वरूपकः। सत्ता–स्वानन्दयोर्योगात् तत् परं ब्रह्म चोच्यते॥" इति। अद्वयब्रह्मवादिभिरपि सत्तानन्दयोरैक्यं तथा मन्तव्यम्। शाब्दिकैर्भिन्नाभिधेयत्वेन प्रतीतेः सत्ता–शब्देन चात्र सर्वेषां सतां प्रवृत्तिहेतुर्यत् परमं सत्तदेवोच्यते—"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इति श्रुतेः। अभिन्नाभिधेयत्वे 'वृक्षः तरुः' इतिवद्विशेषेण विशेष्यत्वायोगादेकस्य वैयर्थ्याच्च। गौतमीयपद्यञ्चैवं व्याख्येयं—पूर्वार्द्धे सर्वाकर्षणशक्तिविशिष्ट आनन्दात्मा कृष्ण इत्यर्थः; तदुत्तरार्द्धे यस्मादेवं सर्वाकर्षकसुखरूपोऽसौ तस्मादात्मा जीवश्च तत्र सुखरूपो भवेत्। तत्र हेतुः—'भावः' प्रेमा, तन्मयानन्दत्वादिति। तदेवं स्व–रूपगुणाभ्यां परमबृहत्तमः सर्वाकर्षक आनन्दः कृष्णशब्दवाच्य इति ज्ञेयम्। स च शब्दः श्रीदेवकीनन्दन एव रूढ़ः। अस्यैव सर्वानन्दकत्वं वासुदेवोपनिषदि दृष्टं—"देवकीनन्दनो निखिलमानन्दयेत्" इति। आनन्दोऽत्राविकारोऽनन्यसिद्धः। ततश्चासौ शब्दो नान्यत्र संक्रमणीयः; यथाह भट्टः—"लब्धात्मिका सती रूढ़िर्भवेद्योगापहारिणी। कल्पनीया तु लभते नात्मानं योगवाधतः॥" इति। परब्रह्मत्वञ्च भागवते—"गूढ़ं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्" इति, "यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्" इति च; श्रीविष्णुपुराणे—"यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परं ब्रह्म नराकृति"; गीतासु—"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" इति; तापनीषु च —"योऽसौ परं ब्रह्म गोपालः" इति।

अथ मूलमनुसरामः,—यस्मादेतादृक् कृष्णशब्दवाच्यस्तस्मात् 'ईश्वरः'—सर्ववशयिता। तदिदमुपलक्षितं बृहदगौतमीये कृष्णशब्दस्यैवार्थन्तरेण,—"अथवा

कर्षयेत् सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्। कालरूपेण भगवांस्तेनायं कृष्णोच्यते॥" इति;—कलयति नियमयति सर्वमिति हि 'काल'-शब्दार्थः; तथा च तृतीय तमुद्दिश्योद्धवस्य पूर्ण एव निर्णयः,—"स्वयन्त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्या-प्तसमस्तकामः। बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोटीड़ितपादपीठः॥" इति; गीतासु—"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति; तापन्यां च—"एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः" इति। यस्मादेतादृक् ईश्वरस्तस्मात् 'परमः'—पराः सर्वोत्कृष्टा मा लक्ष्मीरूपाः शक्तयो यस्मिन्; तदुक्तं श्रीभागवते,—"रेमे रमाभिर्निजकामसंप्लुतः" इति;"नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः" इत्यादि; "तत्राति शुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः" इति च; अत्रैवाग्रे वक्ष्यते,—"श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः" इति; तापन्यां च—"कृष्णो वै परमं दैवतम्" इति। यस्मादेतादृक् परमस्तस्मात् 'आदिः' च; तदुक्तं श्रीदशमे,—"श्रुत्वाऽजितं जरासन्धं नृपतेर्ध्यायतो हरिः। आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह॥" इति; टीका च,—"आद्यो हरिः श्रीकृष्णः" इत्येषा; एकादशे तु तस्य श्रेष्ठत्वमाद्यत्वञ्च युगपदाह,—"पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोहस्मि" इति। न चैतदादित्वं तदवतारापेक्षं, किन्तु 'अनादिः'—न विद्यते आदिर्यस्य तादृशम्; तापन्याञ्च—"एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः" इत्युक्त्वाह,—"नित्यो नित्यानाम्" इति। यस्मादेतादृशतया आदिस्तस्मात् 'सर्वकारणकारणम्'—सर्वेषां कारणं महत्स्रष्टा पुरुषस्तस्यापि कारणम्; तथा च दशमे तं प्रति देवकीवाक्यं,—"यस्यांशांशभागेन विश्वस्थित्यप्योद्भवाः। भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता॥" इति; टीका च,—"यस्यांशः पुरुषस्तस्यांशो माया तस्या अंशा गुणास्तेषां भागेन परमाणुमात्रलेशेन विश्वोत्पत्त्यादयो भवन्ति; तं त्वा त्वां गतिं शरणं गतास्मि" इत्येषा। तथा च ब्रह्मस्तुतौ—"नारायणोऽङ्गं नर-भू-जलायनात्" इति; नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः। तस्य तान्ययनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥" इत्यनेन लक्षितो नारायणस्तवाङ्गं त्वं पुनरङ्गीत्यर्थः। गीतासु—"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति। तदेवं कृष्णशब्दस्य यौगिकार्थोपि साधितः। ये च तच्छब्देन कृषि-णाभ्यां परमानन्दमात्रं वाचयन्ति, तेऽपि ईश्वरादिविशेषणैस्तत्र स्वाभाविकीं शक्तिं मन्येरन्। तस्मिन् तस्मान्नद्वितीयत्वेन सर्वकारणत्वेन च

वस्त्वन्तरशक्त्यारोपायोगात्। तथाच श्रुतिः—"आनन्दः ब्रह्मेति", "को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् य आकाश आनन्दो न स्यात्", "आनन्दाद्धीमानि भूतानि जायन्ते","न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान–बल–क्रिया च॥" इति।

ननु स्वमते योगवृत्तौ च सर्वाकर्षकः परमवृहत्तमानन्दः कृष्ण इत्यभिधानादविग्रह एव स इत्यवगम्यते, आनन्दस्य विग्रहानवगमात्? सत्यं, किन्त्वयं परमापूर्वः पूर्वसिद्धानन्दविग्रह इति। 'सच्चिदानन्दविग्रहः' इति—सच्चिदानन्दलक्षणो यो विग्रहस्तद्रूप एवेत्यर्थः; तथा च श्रीदशमे ब्रह्मणस्तवे—"त्वय्येव नित्यसुखबोधतनौ" इति; तापनी–हयशीर्षयोरपि —"सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे" इति; ब्रह्माण्डे चाष्टोत्तरशत–नामस्तोत्रे—"नन्दव्रजजनानन्दी सच्चिदानन्दविग्रहः" इति। एतदुक्तं भवति,—'सत्त्वं' खल्वव्यभिचारित्वमुच्यते; तद्रूपत्वञ्च तस्य श्रीदशमे ब्रह्मादिवाक्ये,—"सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यम्" इत्यत्र व्यक्तम्; देवकीवाक्ये च,—"नष्टे लोके द्विपरार्द्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु। व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः॥" इति, मर्त्त्यो मृत्युर्व्यालभीतः पलायन् सर्वाल्लौकान्निर्भयं नाध्यगच्छत्" इत्यादि; "एकोऽसि प्रथमम्" इत्यादि; ब्रह्मणो वाक्ये—"तदिदं ब्रह्माद्वयं शिष्यते" इति; श्रीगीतासु—"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" इति,"यस्मात् क्षरमतीतोहहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥" इति; तापन्यां—"जन्मजराभ्यां भिन्नः स्थाणुरयमच्छेद्योऽयं योऽसौ सौर्य्ये तिष्ठति, योऽसौ गोषु तिष्ठति, योऽसौ गाः पालयति, योऽसौ गोपेषु तिष्ठति" इत्यादि, "गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति" इत्यादि चात्र पूर्वत्र 'सौर्य्य' इति—सौरी यमुना तददूरभवदेश–वृन्दावन इत्यर्थः। अथ 'चिद्रूपत्वं'—स्वप्रकाशत्वेन परप्रकाशत्वम्; तच्चोक्तं श्रीदशमे ब्रह्मणा—"एकस्त्वमात्मा" इत्यादौ "स्वयं ज्योतिः" इति, तापन्यां—"यो ब्रह्मणा विदधाति पूर्वं यो ब्रह्मविद्यां तस्मै गाः पालयति स्म कृष्णः। तं हि देवमात्मवृत्तिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणममुं व्रजेत्॥" इति, "न चक्षुषा पश्यति रूपमस्य" "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृनुते तनुं स्वाम्" इति श्रुत्यन्तरवत्। अथ 'आनन्दरूपत्वं'—सर्वांशेन निरुपाधिपरमप्रेमास्पदत्वम्।

तच्च श्रीदशमे ब्रह्मस्तवान्ते—"ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे" इत्यादि प्रश्नोत्तरयोर्व्यक्तम्। तथा चानुभूतमानकदुन्दुभिना—"विदितोऽसि भवान् साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः। केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्॥" इति;—"आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्" इति श्रुत्यन्तरवत्। तदेवं सच्चिदानन्दविग्रहरूपत्वे सिद्धे विग्रह एवात्मा तथात्मैव विग्रह इति सिद्धम्। ततो जीववद्देहित्वं तस्य नेत्यपि सिद्धान्तितम्; यथोक्तं श्रीशुकेन,—"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्। जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥" इति; तथापि तस्य देहिवल्लीला कृपा-परवशतयैवेत्यर्थः, —"माया दम्भे कृपायाञ्च" इति विश्वप्रकाशः।

तदेवमस्य तथा तल्लक्षणं श्रीकृष्णरूपत्वे सिद्धे चोभयलीलाभि-निविष्टत्वेन क्वचिद्वृष्णीन्द्रत्वं क्वचिद्गोविन्दत्वञ्च दृश्यते। यथाह द्वादशे सूतः—"श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्णृषभावनिध्रुग्राजन्य- वंशदहनानपवर्गवीर्य्य। गोविन्द गोपवनिता-व्रजभृत्यगीत-तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गल पाहि भृत्यान्॥" इति। तदेवं स्वाभीष्ट-रूप-लीला- परिकरविशिष्टतया गोविन्दत्वमेव स्वाराध्यत्वेन योजयति,—गोविन्द इति। यथात्रैवाग्रे स्तोष्यते—"चिन्तामणिप्रकरसद्मसु- कल्पवृक्षलक्षावृतेषु" इत्यादि; श्रीदशमे श्रीगोविन्दाभिषेकारम्भे सुरभिवाक्यं—"त्वं न इन्द्रो जगत्पते" इति; अभिषेकान्ते "गोविन्द इति चाभ्यधात्" इत्युक्त्वा तत्प्रकरणान्ते श्रीशुकप्रार्थना—"प्रीयान्न इन्द्रो गवाम्" इति,—'गवां' सर्वाश्रय-त्वाद्गवेन्द्रत्वेनैव सर्वेन्द्रत्वसिद्धेः। न चेदं न्यूनं मन्तव्यम्। तथा हि गोसूक्तं—"गोभ्यो यज्ञाः प्रवर्त्तन्ते, गोभ्यो देवाः समुत्थिताः। गोभिर्वेदाः समुदगीर्णाः सषड़ङ्गपदक्रमाः॥" इति। अस्तु तावत् परमगोलोकादवतीर्णानां तासां गवामिन्द्रत्वमिति, तापनीषु च ब्रह्मणा तदीयमेव स्वेनाराधितं प्रकाशितं,—"गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं सुरभूरुहतलासीनं सततं स-मरुदगणोऽहं तोषयामि" इति; तथैव श्रीदशमे—"तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुले" इत्यादि। तत्र श्रीनन्दनन्दनत्वेनैव च तल्लब्धम्। तत्प्रार्थना—"नौमीड्यतेऽभ्रवपुषे तड़िदम्बराय" इत्यादौ "पशुपाङ्गजाय" इति। तदेवं गाविन्दादि-शब्दस्य परमैश्वर्य्यमयस्य सार्थकतापि तेनाभिमता। तथा चोक्तं ईश्वरत्व- परमेश्वरत्वानुवादपूर्वक-तात्पर्य्यावसानतया गौतमीयतन्त्रे श्रीमद्दशाक्षर- मन्त्रार्थकथने,—"गोपीति प्रकृतिं

विद्याज्जनस्तत्त्वसमूहकः। अनयोराश्रयो व्याप्त्या कारणत्वेन चेश्वरः॥ सान्द्रानन्दं परं ज्योतिर्वल्लभेन च कथ्यते। अथवा गोपी प्रकृतिर्जनस्तदंशमङ्गलम्॥ अनयोर्वल्लभः प्रोक्तः स्वामी कृष्णाख्य ईश्वरः। कार्य्यकारणयोरीशः श्रुतिभिस्तेन गीयते॥ अनेकजन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा। नन्दनन्दन–इत्युक्तस्त्रैलोक्या–नन्दवर्द्धनः॥" इति।—'प्रकृतिम्' इति मायाख्यां जगत्कारण–शक्तिमित्यर्थः; 'तत्त्वसमूहकः' महदादिरूपः; 'अनयोराश्रयः' 'सान्द्रानन्दं परं ज्योतिः' ईश्वरो 'वल्लभ'–शब्देन कथ्यते; ईश्वरत्वे हेतुः—'व्याप्त्या' 'कारणत्वेन' चेति; 'प्रकृतिः' इति स्वरूपभूता मायातीता वैकुण्ठादौ प्रकाशमाना महालक्ष्म्याख्या शक्तिरित्यर्थः; 'अंशमण्डलं' सङ्कर्षणादित्रयम्; 'अनेकजन्मसिद्धानाम्' इत्यत्र 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन" इति भगवद्गीता– वचनादनादिजन्मपरम्परायामेव तात्पर्यम्। तदेवमत्रापि नन्दनन्दनत्वेनाभिमतम्; श्रीगर्गेण च तथोक्तं,—"प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः" इति। युक्तं च तत्;—आत्मजत्वं हि तस्य श्रीवसुदेव–स्यापि मनस्याविर्भूतत्वमेव मतम्—"आविषेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः" इति। व्रजेश्वरस्यापि तथासीदेव,—श्रीभगवत्प्रादुर्भावस्य पूर्वाव्यवहितकालं व्याप्य तथा सर्वत्र दर्शनात्। किन्त्वात्मनि तस्याविर्भावे सत्यप्यात्मजत्वाय पितृभावमयशुद्धमहाप्रेमैव प्रयोजकम्; यथा ब्रह्मणः सकाशाद्वराहदेवस्याविर्भावेहपि ब्रह्मणि वराहदेवे लोके च तदवगमादर्शनात्। तादृशशुद्धप्रेमा तु श्रीव्रजराज एव; श्रीवसुदेवे त्वैश्वर्य्यज्ञान प्रतिबन्ध इति साधूक्तं "प्रागयं वसुदेवस्य" इति। अतः श्रीमद्दशाक्षरविनियोगेऽपि तन्मय एव दृश्यते॥१॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद कृत टीकाका भावानुवाद

मैं श्रीश्रीराधाकृष्णको प्रणाम करता हूँ, जिनके अनुग्रहसे मैं श्रीब्रह्मसंहिताकी व्याख्या करनेकी अभिलाषा कर रहा हूँ। उन श्रीकृष्णकी रूप–महिमा मेरे हृदयमें उत्कृष्ट रूपसे उदित हो।

महान् ऋषि श्रीब्रह्माजीके हृदयमें जो सुविचार अवस्थित हैं, उनके सुयुक्तिपूर्ण यथार्थ अर्थोंको प्रकाश करना मेरे लिए असम्भव होनेपर भी वे ऋषियोंके ऋषि श्रीब्रह्माजी मेरी एकमात्र गति हैं।

यद्यपि यह संहिता सौ अध्यायोंमें सम्पूर्ण है, फिर भी यह (पञ्चम) अध्याय सम्पूर्ण ग्रन्थका सूत्ररूप—साररूप होनेसे इसमें सब कुछ उपलब्ध है।

श्रीमद्‌भागवत आदि ग्रन्थोंमें निर्मल बुद्धिवालोंका जो विचार देखा जाता है, उन सबको यहाँ एकत्र देखकर मेरा मन अतिशय आनन्दित हो रहा है।

श्रीकृष्णसन्दर्भमें मैंने जो कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, उसे पुनः विचारपूर्वक व्यक्त करनेके लिए मेरे द्वारा यह ग्रन्थ स्पर्श किया जा रहा है।

अनन्तर श्रीमद्भागवतमें जिन्हें परिभाषा वाक्यके रूपमें निरूपित किया गया है—"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" अर्थात् जितने भी भगवान्‌के अवतार हुए हैं, उनमेंसे कोई परमपुरुषके अंश तथा कोई अंशके अंश—कला हैं, परन्तु श्रीकृष्ण ही स्वयं-भगवान् हैं; उन स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णको ही प्रस्तुत श्लोकमें "ईश्वरः परमः" परमेश्वर या सर्वेश्वरेश्वर कहा गया है। क्योंकि दूसरे-दूसरे अवतार भी ईश्वर हैं, अतएव उन सबके अवतारी श्रीकृष्णको ही एकमात्र परमेश्वर कहा गया है। शास्त्रमें ऐसा कहा गया है—जो ईश्वरसमूहमें परमेश्वर, देवताओंमें परम देवता, समस्त प्रजापतियोंमें परम-पति हैं तथा जो समस्त भुवनोंके स्वामी हैं, ऐसे महान् देव श्रीकृष्णको मैं जाननेका प्रयास करता हूँ।

उपर्युक्त श्लोकमें वर्णित 'कृष्ण' शब्द—विशेष्य पद है और अवशिष्ट सभी शब्द विशेषण पद हैं। श्रीशुकदेव आदि प्रसिद्ध महाजनोंने 'कृष्णावतारमहोत्सव' आदि पदोंके द्वारा श्रीकृष्णको ही सभी अवतारोंके अवतारीके रूपमें प्रतिष्ठित किया है। 'कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय' इत्यादि मन्त्रोंसे सामोपनिषद्‌में कृष्णनामकीर्तनके द्वारा मंगलाचरण किया गया है। श्रीकृष्णाविर्भावके समय श्रीगर्गाचार्यने नन्दगोकुलमें पहुँचकर जब उनका नामकरण किया था, तब उन्होंने कहा था—हे नन्दजी! आपके इस बालकने पूर्व युगोंमें भी अवतार लिया है। सत्ययुगमें शुक्लमूर्ति, त्रेतायुगमें रक्तमूर्ति, कलियुगमें पीतमूर्ति और इस द्वापरमें कृष्णवर्ण ग्रहणकर अवतरित हुआ है। इसलिए इस बालकका नाम कृष्ण है। और भी 'कृष्णतां गतः' अर्थात् 'कृष्णस्वरूपतां गतः'—इसके द्वारा भी यही प्रतीत होता है कि जितने भी अवतार हैं, वे सभी कृष्ण-स्वरूपमें प्रवेशकर कृष्णमयताको प्राप्त हुए हैं।

इस प्रकार इन मंत्रोंके द्वारा 'पयसा कुम्भं पूरयति' न्यायसे इसी सिद्धान्तकी पुष्टि होती है। जैसे घड़ा दूधसे भरा है, वैसे ही शास्त्रोंमें सर्वत्र 'श्रीकृष्ण' की ही पुनरावृत्ति की गयी है। जो सर्वेसर्वा हैं, जो परात्पर तत्त्व हैं, जो अद्वयज्ञान परतत्त्व हैं, उन्हींको यहाँ 'श्रीकृष्ण' कहा गया है।

प्रभासखण्ड और पद्मपुराणके अन्तर्गत श्रीनारद–कुशध्वज–संवादमें श्रीभगवान्‌की उक्ति है—'नाम्नां मुख्यतमं नाम कृष्णाख्यं मे परन्तप'—हे परन्तप! नामोंमें मेरा मुख्यतम नाम कृष्णनाम है। अतएव ब्रह्माण्ड पुराणमें वर्णित श्रीकृष्णाष्टोत्तरशतनाम स्तोत्रमें कहा गया है—'सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्त्या तु यत् फलम्। एकावृत्त्या तु कृष्णस्य नामैकं तत् प्रयच्छति।।'—विष्णु सहस्रनाम तीन बार जप करनेसे जो फल होता है—वह फल एकबार कृष्णनाम जप करनेसे ही मिलता है। इस प्रकार यहाँ भी श्रीकृष्ण नामकी विशेषता दिखायी गयी है। प्रस्तुत श्लोकमें भी श्रीब्रह्माजीने गोविन्द नामके द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति की है। गोविन्द स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं। गो–गोप–गोपी आदि ब्रजजनोंके जो पालक हैं, वे हैं—श्रीगोविन्द। इसलिए 'गवेन्द्रत्व'—उनका वैशिष्ट्य प्रकाश करनेके लिए प्रयुक्त हुआ है। ऐसे रूढ़िबलके द्वारा अर्थात् मुक्तप्रग्रह वृत्ति और सुदृढ़ शास्त्र–प्रमाणोंके द्वारा कृष्णका ही प्राधान्य प्रमाणित है। वह भी मूल श्लोकमें कथित 'ईश्वर' आदि विशेषणोंके द्वारा विशेष रूपसे संपुष्ट है।

अनन्तर गुणोंके द्वारा भी उनका वैशिष्ट्य लक्षित होता है। जैसे श्रीगर्गाचार्यने कहा है—

आसन् वर्णा स्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनुः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥
बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः॥

अर्थात् हे नन्द महाराज! आपके पुत्रके बहुतसे गुण तथा कर्म हैं। उनके अनुरूप बहुतसे नाम समय–समयपर प्रकाशित होते रहेंगे। यह केवल मैं ही जानता हूँ, दूसरे नहीं। इस समय ये कृष्णरूपमें प्रकट हुए हैं, ऐसे ही ये प्रत्येक युगमें बहुतसे अवतारोंको प्रकट करते हैं। प्रारम्भमें जो शुक्ल आदि अवतार प्रकट हुए हैं, वे सभी 'इदानीं कृष्णतां गतः'—कृष्णमें अन्तर्भूत होकर आये हैं अर्थात् समस्त अवतारोंका समावेश कृष्णमें हुआ है। इसलिए यहाँ कृष्णका ही कर्त्तृत्व है अर्थात् उन्हींकी सर्वोत्कर्षता प्रकाशित है। अतः

वे सभी कृष्णके ही रूप हैं। 'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि' से जितने नाम और रूप हैं, वे सभी कृष्णके ही नाम-रूप हैं। वैसे गुणोंके द्वारा भी उनका वैशिष्ट्य सिद्ध है।

अतएव कृष्ण नामकी विशेषतासे यही सिद्ध होता है—'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृति वाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते'—यह पद्य कृष्णपरक है, अन्य किसीके लिए यह नहीं कहा गया है। 'कृष्' धातु भू—सत्तावाचक और ण—निर्वृत्ति वाचक है, इन दोनोंका मिलित-स्वरूप ही श्रीकृष्ण हैं। उनकी उपासनासम्बन्धी सात्त्वत-तंत्र—गौतमीय तन्त्रमें अष्टादशाक्षर मन्त्रकी व्याख्यामें ठीक ऐसा ही एक श्लोक देखा जाता है—'कृषि शब्दस्य सत्तार्थो णश्चानन्द-स्वरूपकः। सुखरूपो भवेदात्मा भावानन्दमयस्ततः॥' अर्थात् कृषि शब्द सत्तावाचक और ण—आनन्दस्वरूप है अर्थात् जो परमानन्दमय सत्ताविशेष हैं अथवा जो सबके आकर्षक तथा आनन्द विधाता हैं, ऐसे स्वरूप ही श्रीकृष्ण हैं। वे सुखस्वरूप तथा परमानन्दमय हैं। इससे बहुतसे अर्थ प्रकाशित होते हैं। 'भू' धातुका अर्थ सत्तावाचक है, जो भाव शब्दकी भाँति है। इससे आकर्षण अर्थ भी लिया जाता है। गौतमीय तन्त्रमें 'भू' शब्दका अर्थ सत्तावाचक लिया गया है। घट शब्दको प्रतिपादित करते हुए समानाधिकरणमें भेदका वर्णन किया गया है, जैसे घट कहनेसे घटकी सत्ताको ही समझा जाता है, परन्तु पट (वस्त्रको) या अन्य किसी भी वस्तुको नहीं समझा जाता, वैसे ही भू—सत्तासे यहाँ श्रीकृष्णका ही सर्वोकर्षत्व उद्घोषित होता है।

अनन्तर 'निर्वृति' कहनेसे आनन्दको ही लिया जाता है। 'तयोरैक्यं'—इससे दोनोंके समानाधिकरणमें एकता दिखायी है। उसीसे कृष्ण शब्दकी व्युत्पत्ति हुई है। 'तयोरैक्यं परंब्रह्म' अर्थात् अखण्ड सत्ता और अखण्ड आनन्द दोनों मिलकर परं ब्रह्म—जो सब प्रकारसे सर्वश्रेष्ठ हैं, समस्त बृहद् वस्तुओंमें जो सर्व बृहत्तम हैं, उन्हींको कृष्ण कहा जाता है। यहाँ किन्तु 'कृष्' धातुका आकर्षण अर्थ और 'ण' शब्दका आनन्द अर्थ होनेसे उसके साथ समानाधिकरण रूपमें नहीं, परन्तु हेतुहेतुमत् भावसे अभेदरूपमें वर्णित हुआ है।

'आयुर्घृतम्'—अर्थात् घी ही आयु है—इस न्यायके अनुसार श्रीकृष्णरूप सत्तामें आकर्षणकी प्रचुरता है। "बृहत्त्वाद् बृंहणत्त्वाच्च यद् ब्रह्मं परमं विदुः" (विष्णुपुराण), जो बृहद् हैं तथा दूसरोंको भी बड़ा बनाते हैं, उनको परम ब्रह्म कहा जाता है। श्रुतिमें भी ऐसा ही कहा गया है—"अथ कस्मादुच्यते

ब्रह्म बृंहति बृंहयति च" अर्थात् ब्रह्म किसे कहते हैं? जो स्वयं बृहत् हैं तथा दूसरोंको भी बृहत् बनाते हैं, वे ब्रह्म हैं। अद्वैतवादी सत्ता और आनन्दको एक ही अर्थमें ग्रहण करते हैं, परन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है। शाब्दिकोंके द्वारा जो अर्थ प्रतीत होता है, उससे भी सत्ता शब्द और परम सत्तावाचक होनेसे श्रीकृष्णमें समस्त सन्तजनोंका आकर्षण देखा जाता है। श्रुतिमें—'सदेव सौम्य इदमग्रमासीत्' अर्थात् हे सौम्य! सृष्टिसे पहले एकमात्र सत्स्वरूप भगवान् ही थे। सत्स्वरूप भगवानमें पूर्ण आनन्द और पूर्ण आकर्षण दोनों हैं। अतः प्रस्तुत श्लोकमें 'कृष्णः' पद विशेष्य और दूसरे पद विशेषण हैं—यह निश्चित हुआ। इसके विपरीत 'वृक्षः—तरुः' यह कहनेसे इनमें विशेष्य विशेषण पदका सम्बन्ध नहीं बैठता है। इसलिए अद्वैतवादियोंका यह कथन कि सत्ता और आनन्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, सर्वथा युक्ति विरुद्ध है।

गौतमीय पद्यकी व्याख्या इस प्रकार है कि श्लोकके पूर्वार्द्धमें सर्व आकर्षण-शक्तिविशिष्ट आनन्दात्मा 'श्रीकृष्ण' हैं। उसके उत्तरार्द्धमें जो सर्वाकर्षकस्वरूप तथा सुखस्वरूप हैं, यहाँ 'सर्व' पद आत्माओं अर्थात् जीवात्माओंके लिए है, क्योंकि श्रीकृष्ण उनको आकर्षणकर उन्हें आनन्दित करते हैं। उसका कारण है—'भाव' अर्थात् प्रेम। उस प्रेमानन्दमें जो सदा डूबे हुए हैं, दूसरोंको भी प्रेमानन्दमें डुबोते हैं। अतएव अपने रूप और गुणोंके द्वारा परम बृहत्तम सर्वाकर्षक आनन्दस्वरूप हैं—वे 'कृष्ण' शब्दवाच्य हैं। 'कृष्ण' शब्द देवकीनन्दनमें ही पर्यवसित होता है। श्रीकृष्णका सर्व आनन्दकन्दत्व वासुदेवोपनिषद्में देखा जाता है—देवकीनन्दनो निखिलमानन्दयेत्—देवकीनन्दन कृष्ण चराचर विश्वके समस्त प्राणियोंको आनन्दित करते हैं। यहाँ आनन्द अविकारी अनन्य सिद्ध है। तत्पश्चात् श्लोक स्थित 'असौ' शब्द भी अन्यत्र संक्रमित नहीं होता है अर्थात् श्रीकृष्णके लिए ही व्यवहृत हुआ है। जैसे भट्टजीने कहा है—'लब्ध्वात्मिका सती रूढ़िर्भवेद्योगापहारिणी। कल्पनीया तु लभते नात्मानं योगबाधतः॥'

श्रीकृष्णके परमब्रह्म होनेका उल्लेख श्रीमद्भागवतमें स्पष्टरूपसे है—'गूढ़ं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्'—श्रीकृष्ण नराकार स्वरूपमें छिपे हुए परम ब्रह्म हैं; और भी—'यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्'—परमानन्द पूर्ण ब्रह्म, सनातन पुरुष श्रीकृष्ण जिनके मित्र हैं। विष्णु पुराणमें भी—'यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परं ब्रह्म नराकृति।' गीतामें—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' और तापनीमें भी—'योऽसौ

परं ब्रह्म गोपालः।' इन शास्त्रवचनोंसे सर्वत्र श्रीकृष्णका ही परं ब्रह्मत्व प्रतिपादित होता है।

यहाँ मूल श्लोकका अनुसरण करते हुए वर्णन किया जा रहा है। इस प्रकार नाम-रूप-गुणविशिष्ट श्रीकृष्ण 'ईश्वर' हैं। 'ईश्वर' अर्थात् जो सबको वशमें रखनेवाले तथा सर्व समर्थ हैं। इसीके उपलक्षणमें बृहद्गौतमीय तन्त्रमें 'कृष्ण' शब्दका दूसरा अर्थ इस प्रकार देखा जाता है—

अथवा कर्षयेत सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
कालरूपेण भगवांस्तेनायं कृष्णोच्यते॥

अर्थात् जो भगवान् कालरूपमें स्थावर-जङ्गम आदि समस्त प्राणियोंका आकर्षण करते हैं, उनको 'श्रीकृष्ण' कहा जाता है। 'कलयति नियमयति सर्वमिति हि काल शब्दार्थः' अर्थात् जो कालरूपमें सबका नियमन करते हैं, वे काल हैं। तृतीय स्कन्ध श्रीमद्भागवतमें परम भागवत श्रीउद्धवजीका यह निर्णय है—

स्वयन्त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोटीडितपादपीठः॥

(श्रीमद्भा. ३/२/२९)

—जो स्वयं सम्पूर्ण (अखण्ड) हैं, जिनके समान या जिनसे बढ़कर अन्य कोई नहीं है, जो त्रिलोकीके अधीश्वर हैं, जो अपनी राज्यलक्ष्मीके द्वारा पूर्णकाम हैं, चिरलोकपालगण भी जिनके श्रीचरणकमलोंमें करोड़ों-करोड़ों मस्तकोंद्वारा प्रणाम करते हैं, ऐसे परिपूर्णकाम हैं—भगवान् श्रीकृष्ण। श्रीगीतामें भी इसकी पुष्टि की गयी है—'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' अर्थात् मैं, कृष्ण, अपने एक अंशसे इस समस्त जगत्को धारणकर अवस्थित हूँ। तापनीमें भी ऐसा ही कहा गया है—'एकोवशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः' अर्थात् श्रीकृष्ण एक हैं, वे सबको वशीभूत रखनेवाले, सर्वज्ञ तथा सबके पूज्य हैं।

ऐसे जो ईश्वर हैं, वे हैं 'परमः'—परा अर्थात् सर्वोत्कृष्टा 'मा'=लक्ष्मी-रूपा शक्तिसमूह हैं जिनके, वे हैं परमेश्वर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ लक्ष्मी अर्थात् श्रीराधाके साथ जो सर्वदा अवस्थित हैं, वे हैं परमेश्वर श्रीकृष्ण। जैसे श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—'रेमे रमाभिर्निजकामसंप्लुतः' अर्थात् भगवान् कृष्णने अपनी लक्ष्मियों—श्रीमती राधिकाादि गोपियोंके साथ रमण किया। और भी—'नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्त रतेः प्रसादः' अर्थात् गोपियोंको श्रीकृष्णके साथ

रास–विलासमें जो सौभाग्य प्राप्त हुआ, वह रुक्मिणी–सत्यभामादि द्वारकाकी राजमहिषियों, वैकुण्ठकी लक्ष्मियों तथा देवलोककी लक्ष्मियोंको प्राप्त नहीं हुआ; स्वर्गकी देवियोंकी तो बात ही क्या? और भी श्रीमद्भागवतमें—'तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः'—अर्थात् देवकीनन्दन श्रीकृष्ण उन गोपियोंके मध्य अतिशयरूपसे शोभा पाने लगे। इसी ग्रन्थमें आगे यह कहा जायेगा—'श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः'—अर्थात् गोलोक–वृन्दावनमें परमपुरुष श्रीकृष्ण ही एकमात्र कान्त और गोपीरूप लक्ष्मियाँ उनकी अपनी कान्ताएँ हैं। तापनीमें—'कृष्णो वै परमं दैवतम्'—अर्थात् श्रीकृष्ण ही एकमात्र परम देवता हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्ण जैसे परम पुरुष हैं, वैसे ही वे आदि पुरुष भी हैं। जैसे श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें कहा गया है—

श्रुत्वाऽजितं जरासन्धं नृपतेर्ध्यायतो हरिः।
आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह॥
(श्रीमद्भा. १०/७२/१५)

—दिग्विजयके पश्चात् महाराज युधिष्ठिर जरासन्धको अपराजेय जानकर उसको पराजित करनेका उपाय सोचने लगे। इतनेमें आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्णने उद्धव द्वारा बतलाये गये उपायको ही कह सुनाया। इस श्लोककी टीकामें टीकाकारोंने 'आद्यो हरिः श्रीकृष्ण' अर्थात् आदिहरि श्रीकृष्ण हैं—ऐसा उल्लेख किया है। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धमें भी श्रीकृष्णकी सर्वश्रेष्ठता तथा उनके सर्वआदित्व दोनोंका उल्लेख है—'पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि'—अर्थात् मैं सबके आदि सनातन पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्णको प्रणाम करता हूँ। उनका आदित्व केवल इसीलिए नहीं है कि वे सभी अवतारोंके अवतारी हैं, बल्कि इसलिए भी कि वे अनादि हैं—उनका कोई आदि नहीं है। तापनीमें भी ऐसा उल्लेख है—'एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः'—जो एक हैं, सबको अपने वशीभूत करनेवाले, सर्वत्र गमन करनेवाले, सर्वज्ञ और सबके पूज्य हैं, वे स्वयं–भगवान् श्रीकृष्ण हैं। और भी उपनिषदोंमें कहा गया है—'नित्यो नित्यानाम्'—जो नित्योंमें परम नित्य, चेतनसमूहमें परम चेतन, जो एक होकर भी सबकी कामना पूर्ण करते हैं।

इन सब श्रुति–वचनोंके द्वारा सर्वादित्व प्रतिपादित होनेसे वे सर्वकारणकारण—महत्स्रष्टा पुरुष कारणाब्धिशायी महाविष्णुके भी कारण हैं। जैसे—श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धमें श्रीकृष्णके प्रति माता देवकीने कहा है—

यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदया।
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता॥
(श्रीमद्भा. १०/२५/३१)

अर्थात् हे निखिल विश्वके अन्तर्यामि! हे आदि पुरुष! जिनके अंशभूत महावैकुण्ठनाथके अंशस्वरूप—कारणाब्धिशायी महाविष्णुकी अंशरूपा प्रकृति है, उस प्रकृतिके अंश–परमाणुमात्रसे अथवा रज आदि गुणोंके द्वारा इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और संहार आदि क्रियाएँ साधित होती हैं, ऐसे आदिपुरुष आप—श्रीगोविन्दजीका आश्रय ग्रहण करती हूँ। और भी, ब्रह्मस्तुतिमें कहा गया है—'नारायणोऽङ्ग नर–भू–जलायनात्' (श्रीमद्भा. १०/१४/१४) अर्थात् हे भगवान्! हे श्रीकृष्ण! आप ही मूल नारायण हैं। नार–शब्दका अर्थ जीवसमूह है। अतः नार अयन—निखिल जीवोंके आश्रय, भू—अखिल लोकोंके आश्रय और साक्षी अर्थात् त्रिकालज्ञ, नारायण जिनके अंग अर्थात् विलासमूर्ति हैं, ऐसे आप अपरिच्छिन्न स्वरूप हैं। अतः परिच्छिन्न जल आपका आश्रय कैसे हो सकता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—आपका परिच्छिन्नत्व सत्य नहीं; परन्तु यह प्रतीति आपकी मायासे होती है। आप अपरिच्छिन्न होते हुए भी परिच्छिन्नकी भाँति अवस्थान करते हैं। यह आपकी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे होता है। यह सत्य होनेपर भी विराट्–स्वरूपकी भाँति आपका नारायण–स्वरूप मायिक नहीं है। अतएव नारायण आपके अङ्ग हैं और आप स्वयं उनके अंगी या अंशी हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा गया है—'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' अर्थात् मेरे एक अंशसे यह सारा जगत् स्थित है। इस प्रकार कृष्ण–शब्दका यौगिक अर्थ भी साधित होता है; यथा—'कृष्' और 'ण' इन दो पदोंसे उनका सर्वाकर्षकत्व और परमानन्दत्व सूचित होता है; जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है। अतः वे कोई द्वितीय वस्तु या तत्त्व नहीं हैं। उनके समान भी कोई दूसरा नहीं है। इसलिए वे अद्वितीय तत्त्व, अद्वय परतत्त्व और सर्वकारण–कारण हैं। उनमें किसी पृथक् वस्तु या पृथक् शक्तिका आरोप नहीं किया जा सकता; क्योंकि उनसे पृथक् स्वतंत्र सत्ताशील कोई भी दूसरी वस्तु या शक्ति ही नहीं है। श्रुति भी ऐसा ही कहती है—'आनन्दः ब्रह्मेति', 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् य आकाश आनन्दो न स्यात्', 'आनन्दाद्धीमानि भूतानि जायन्ते', 'न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी

ज्ञानबलक्रिया च॥' अर्थात् ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। यदि वे आनन्दस्वरूप नहीं होते तो, दूसरा कौन प्राण धारण कर सकता था? उस आनन्दसे ही सारी प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं। उनका कोई प्राकृत कार्य नहीं है, और न उनकी कोई प्राकृत इन्द्रियाँ हैं। न कोई दूसरा उनके समान है और न कोई उनसे बढ़कर ही है। उनकी नित्य और स्वाभाविकी एक पराशक्ति है। वह पराशक्ति विविध प्रकारसे प्रकाशित होती है। उसी पराशक्तिसे ज्ञान, बल और क्रिया प्रकाशित हुई हैं।

यदि कोई ऐसा कहे कि 'योग और वृत्तिके द्वारा सर्वाकर्षक परम बृहत्तम आनन्द ही श्रीकृष्ण हैं; उपर्युक्त प्रकारके अभिधानसे उनका कोई विग्रह या रूप सिद्ध नहीं होता है; क्योंकि आनन्दका कोई स्वरूप नहीं होता है, वह अमूर्त्त है।' हाँ, यह बात तो ठीक है; परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण परम अपूर्व, पूर्व-सिद्ध आनन्द-विग्रह हैं। इसलिए वे प्रस्तुत श्लोकमें 'सच्चिदानन्द-विग्रहः' अर्थात् श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द-विग्रह—सच्चिदानन्दघनके मूर्त विग्रह हैं। श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धमें वर्णित ब्रह्मस्तुति (१०/४/२२) में ऐसा ही कहा गया है—'त्वय्येव नित्यसुखबोधतनौ' अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व अनित्य है। इसलिए स्वप्नवत्, अचिरस्थायी, ज्ञानशून्य जड़ और दुःखप्रद है। उधर आप सच्चिदानन्दस्वरूप, अनन्त और अपार हैं। आपकी ही अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे इस विश्वकी उत्पत्ति और संहार होता है; फिर भी वह (विश्व) सत्यकी भाँति प्रतीत होता है। तापनी और हयशीर्ष पञ्चरात्रमें भी श्रीकृष्णके सच्चिदानन्दघन-विग्रहका प्रतिपादन किया गया है—'सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णयाक्लिष्टकारिणे। नमो वेदान्त वेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे'—अर्थात् जो सच्चिदानन्दघन-विग्रह हैं, जो वेदान्त शास्त्रके प्रतिपाद्य हैं, जो अनायास ही निरपेक्षरूपसे अखिल विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयके सम्पादक हैं, जो भक्तोंकी अविद्या आदि पंचक्लेशोंका हरण करते हैं, जो हमारे गुरु हैं अर्थात् गुरुरूपसे इन सबकी बुद्धिके प्रेरक तथा साक्षी हैं—ऐसे श्रीकृष्णको मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ। ब्रह्माण्ड पुराणके शतनाम-स्तोत्रमें भी ऐसा ही कहा गया है—'नन्दव्रजजनानन्दी सच्चिदानन्दविग्रहः'—अर्थात् श्रीनन्द-व्रजके सारे व्रजवासियोंका आनन्दवर्द्धन करनेवाले सच्चिदानन्दघन-विग्रह श्रीकृष्ण ही हैं। आगे भी कहा जायेगा—'सत्त्वं खल्वव्यभिचारित्वमुच्यते' अर्थात् श्रीकृष्ण विशुद्धसत्त्व हैं, उनकी सत्ता कभी विलुप्त नहीं होती।

श्रीमद्भागवत (१०/२/२६) में ब्रह्मादिके वचनोंद्वारा इसी सिद्धान्तका

प्रतिपादन किया गया है—'सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यम्' अर्थात् हे भगवन्! आप सत्य-संकल्प हैं—आप जो भी संकल्प करते हैं, वह सत्य होता है, आप स्वयं उसकी सत्यताका संरक्षण करते हैं; अतएव आप सत्यव्रत हैं; सत्य ही आपको पानेका उपाय है, इसलिए आप सत्यपर हैं। सृष्टि, स्थिति, प्रलय—इन तीनों कालोंमें आप समानरूपसे वर्तमान हैं। अतः आप सत्य हैं। आप पंचमहाभूतोंकी उत्पत्तिके कारण हैं, पुनः उनकी उत्पत्तिके पश्चात् आप उनमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं; प्रलय होनेपर भी आप अवशेष रहते हैं। कृत अर्थात् सुसत्य वचन और सत्य अर्थात् समदर्शिता—आप इन दोनोंके प्रवर्त्तक हैं। अतएव हमलोग सत्यात्मकस्वरूप आपके शरणागत हो रहे हैं।

और भी यहीं पर माता देवकीके वचनोंसे भी इसी सिद्धान्तकी पुष्टि होती है—

नष्टे लोके द्विपरार्द्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः॥

(श्रीमद्भा. १०/३/२५)

—महाप्रलयमें कालशक्तिद्वारा चराचर विश्व विलीन हो जानेपर पृथ्वी आदि स्थूल भूतसमूह, सूक्ष्म तन्मात्रत्व प्राप्त होनेपर तथा व्यक्त पदार्थसमूह अव्यक्तरूपमें विलीन होनेपर शेषसंज्ञक आप ही अवशेष रहते हैं। आगे और भी—'मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् सर्वाल्लोकान्निर्भयं नाध्यगच्छत्' इत्यादि अर्थात् इस मृत्युलोकके प्राणी मृत्युरूप महासर्पके भयसे डरकर ब्रह्मलोक आदि सभी लोकोंमें आश्रय पानेके लिए भागते हुए कहीं भी निर्भय नहीं हो पाते हैं। परन्तु ऐसे भयभीत जीव सौभाग्यवश महत् पुरुषोंका संग प्राप्तकर आपकी भक्तिके प्रभावसे आपके श्रीचरणकमलोंका आश्रय पाकर संसार भयसे सदाके लिए मुक्त हो जाते हैं; मृत्यु भी उन्हें छोड़कर दूर भाग जाती है। 'एकोऽसि प्रथमम्'—अर्थात् सृष्टिसे पूर्व मैं एक (अकेला) था। ब्रह्माजीने भी कहा है—'तदिदं ब्रह्माद्वयं शिष्यते' अर्थात् अंतमें एक अद्वयब्रह्म ही अवशेष रहता है। श्रीगीतामें भी कहा गया है—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'—उस ब्रह्मकी भी मैं प्रतिष्ठा हूँ। और भी गीतामें—'यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥' अर्थात् मैं इस क्षर तत्त्वसे अतीत और अक्षर तत्त्वसे भी उत्तम हूँ। इसीलिए जगत्में और वेदोंमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ। भगवान् सदा-सर्वदा पुरुष-तत्त्व

हैं, वे स्त्री या क्लीव नहीं हैं। उनके पुरुष–तत्त्वका विचार जाननेसे उनमें स्त्री या क्लीवत्वका भ्रम नहीं रहता है। जितने भी विष्णुतत्त्व हैं, उन सबमें जो उत्तम हैं—उत्कृष्टतम या परम हैं, वे ही पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं।

तापनीमें भी ऐसा ही कहा गया है—'जन्मजराभ्यां भिन्नः स्थाणुरयमच्छेद्योऽयं योऽसौ सौर्य्ये तिष्ठति, योऽसौ गोषु तिष्ठति, योऽसौ गाः पालयति योऽसौ गोपेषु तिष्ठति' इत्यादि। भगवान् अकामी हैं। वे जन्म, मृत्यु, क्षुधा, पिपासा, जरा, शोक आदि छह प्रकारके विकारोंसे रहित हैं, वे परमब्रह्म हैं, वे सदा एकरूप अपक्षयशून्य हैं तथा जो सूर्यमण्डलके मध्यवर्ती या सौरि—यमुनाके तटवर्ती कुञ्जकुटीरमें, कामधेनुओंके बीचमें, गोपसखाओंके मध्यमें अवस्थित होकर लीला–विलास करते हैं, जिनसे मृत्यु भी डरती है—वे परम पुरुष श्रीगोविन्द हैं। यहाँ 'सौर्य्ये' पदसे सौरी या यमुना और उसके तटवर्ती भूतलपर प्रकटित श्रीवृन्दावनको समझना चाहिए।

अब उनके चित्–स्वरूप होनेका प्रतिपादन करते हैं। श्रीकृष्ण स्वप्रकाश–स्वरूप हैं; इसीलिए वे दूसरोंको भी प्रकाश करते हैं। जैसे श्रीमद्भागवत (१०/१४/२३) में श्रीब्रह्माजीने कहा है—'एकस्त्वमात्मा', 'स्वयं ज्योतिः' अर्थात् हे भगवान्! आप ही एकमात्र सत्य हैं; क्योंकि आप सभी आत्माओंकी आत्मा—परमात्मा हैं। आप इस परिदृश्यमान जगत्से भिन्न हैं। आप ही जगत्की सृष्टि–स्थिति आदिके मूलकारण, पुराण पुरुष और सनातन परम ब्रह्म हैं। आप पूर्ण नित्यानन्दमय कूटस्थ, अमृतस्वरूप, उपाधिरहित, निरञ्जन अर्थात् मायिक गुणरहित विशुद्ध, अनन्त, अपरिच्छिन्न तथा अद्वयज्ञान परतत्त्व हैं।

तापनीमें कहा गया है—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो ब्रह्मविद्यां तस्मै गा पालयति स्म कृष्ण। तां हि देवमात्मवृत्ति–प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणममुं व्रजेत्॥'—जिस परमेश्वरने सृष्टिके प्रारंभमें सर्वप्रथम ब्रह्माको प्रकट किया, जिन्होंने प्रलयसमुद्रमें निमज्जित वेदशास्त्रोंको श्रीमत्स्य, श्रीहयग्रीव आदि अवतारोंके द्वारा उद्धार कर ब्रह्माको ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया, ऐसे परमदेव, स्वप्रकाश–स्वरूप श्रीकृष्णका आश्रय समस्त भक्तजन ग्रहण करते हैं। और भी श्रुतिमें कहते हैं—'न चक्षुषा पश्यति रूपमस्य', 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।' अर्थात् इन प्राकृत नेत्रोंके द्वारा जिनके दिव्यरूपका दर्शन नहीं होता है, जो आश्रितजनोंके हृदयमें स्वयंको

प्रकाशित करते हैं, ऐसे स्वप्रकाश-स्वरूप स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इसलिए उनको चित्स्वरूप अर्थात् स्वप्रकाश कहा जाता है।

अनन्तर वे आनन्दस्वरूप भी हैं। आनन्दस्वरूपका तात्पर्य है—सर्वतोभावेन निरुपाधिक परम-प्रेमास्पद। श्रीमद्भागवत (१०/१४/४९) ब्रह्म-स्तवके अन्तमें महाराज परीक्षित्‌जीने कहा है—'ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्ण।' अर्थात् हे ब्रह्मन्! व्रजवासियोंका अपने-अपने पुत्रोंके प्रति भी पहले जो प्रेम नहीं था, दूसरेके पुत्र श्रीकृष्णके प्रति वैसा महान् प्रेम कैसे हुआ? इसके उत्तरमें श्रीशुकदेवजी बोले-हे राजन्! अपनी आत्मा ही समस्त प्राणियोंको प्रिय होती है। आत्माके अतिरिक्त पुत्र, धन आदि पदार्थ—आत्माके प्रियहेतु ही गौणरूपमें प्रिय होते हैं, परन्तु साक्षाद्‌रूपमें प्रिय नहीं होते। देहधारी प्राणियोंका अपनी-अपनी आत्माके प्रति जैसा स्नेह होता है, वैसा पुत्र, धन और गृह आदिमें स्नेह नहीं होता है। अतएव समस्त प्राणियोंको अपनी आत्मा सर्वाधिक प्रिय होती है। यह सम्पूर्ण चराचर विश्व उस आत्माके हेतु ही सुखका कारण है। इसलिए श्रीकृष्ण ही सारे जीवोंके आत्मस्वरूप हैं—ऐसा समझिए। वे जगत्‌के कल्याणके लिए करुणापूर्वक अवतीर्ण हुए हैं। यह समस्त ब्रह्माण्ड श्रीकृष्णका ही स्थूल रूप है अर्थात् श्रीकृष्ण ही मूल-कारण हैं। अतः श्रीकृष्णसे सम्बन्धरहित कुछ भी नहीं है।

श्रीवसुदेवजीने अपने अनुभवकी बात कही है—

विदितोऽसि भवान् साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः।
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्॥

(श्रीमद्भा. १०/३/१३)

—हे प्रभो! आप प्रकृतिसे परे परमेश्वर, सर्वान्तर्यामी परम पुरुष, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप और साक्षात् भगवान् हैं।

श्रुतिमें भी ऐसा ही कहा गया है—'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्।' इसलिए समस्त श्रुतियोंके प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द-विग्रह हैं। अतः विग्रह ही आत्मा है तथा आत्मा ही विग्रह है—ऐसा समझना चाहिए। यही सारे शास्त्रोंका सिद्धान्त है। भगवान् विग्रहस्वरूप होनेसे वे जीवकी भाँति प्राकृत देहधारी हैं अथवा उन्होंने मायाके द्वारा प्राकृत देह धारण किया है—यह विचार सर्वथा भ्रान्त है। श्रीशुकदेव गोस्वामीने ऐसा ही कहा है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

(श्रीमद्भा. १०/१४/५५)

अर्थात् हे राजन्! इन श्रीकृष्णको समस्त जीवोंके आत्मास्वरूप परम ब्रह्म समझें। ये जगत्के कल्याणके लिए कृपापूर्वक अवतीर्ण होकर साधारण मनुष्य तथा प्राणियोंके इन्द्रियग्राह्य स्थूल देहधारी मनुष्य रूपमें प्रतीत हो रहे हैं। इनकी लीला साधारण मनुष्योंकी चेष्टाओं जैसी होनेपर भी ये साधारण मनुष्य नहीं हैं। प्रकटलीलामें भगवान्की जो नरवत् लीलाएँ होती हैं, उनको माधुर्यमयी लीला कहते हैं। उनकी ये लीलाएँ जीवोंके प्रति करुणा करके ही इस जगत्में प्रकाशित होती हैं। यहाँ 'माया' शब्दसे कृपा समझना चाहिए। विश्वप्रकाश (शब्दकोष) में 'माया' का अर्थ दम्भ या कृपा कहा गया है।

इस प्रकार शास्त्रीय प्रमाण और युक्तियोंके द्वारा श्रीकृष्णकी परमेश्वरता सिद्ध होनेपर अब उनकी लीला परायणताका वर्णन करते हैं। उनकी लीलाएँ दो प्रकारकी देखी जाती हैं—एक ऐश्वर्यमयी पुरलीला और दूसरी माधुर्यमयी व्रजलीला। इनमेंसे वे कभी मथुरापुरीमें और कभी द्वारकापुरीमें निवासकर ऐश्वर्यमयी लीलाएँ करते हैं। उस समय वहाँपर उनको यादवेन्द्र या वृष्णीन्द्र कहा जाता है। व्रजमें उनकी जब बाल्य, पौगण्ड तथा कैशोरावस्थाकी लीलाएँ होती हैं, तब उनको व्रजेन्द्रनन्दन या गोविन्द कहा जाता है। जैसे द्वादश–स्कन्धमें श्रीसूतजीने कहा है—

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्राजन्यवंश दहनानपवर्गवीर्य।
गोविन्द गोपवनिता–व्रजभृत्यगीत–तीर्थश्रवः श्रवणमंगल पाहि भृत्यान्॥
(श्रीमद्भा. १२/११/२५)

—हे श्रीकृष्ण! हे कृष्णसख! हे वृष्णिश्रेष्ठ! हे पृथ्वीद्रोही–राजन्यवंश–दहनकारिन्! हे श्रवण–मंगल–स्वरूप! आप गोपवनिता आदि व्रजजनोंके द्वारा कीर्तित पुण्यकीर्त्तिशालिन् हे गोविन्द! हे श्रीकृष्ण! आप हम भृत्यजनोंकी रक्षा करें। इस श्लोकमें श्रीसूतगोस्वामीने अपने इष्टदेवका परिचय कराया है। श्रीकृष्ण अर्जुनके सखा हैं। इसके द्वारा उनकी पाण्डवोंके प्रति वशीभूततारूप अतिशय स्नेह सूचित हुआ है। उससे अधिक उनका स्नेह यादवोंके प्रति स्पष्ट है। पृथ्वीद्रोही राजाओंका विनाशकर आपने पाण्डवों और यादवोंकी रक्षा की है—यही नहीं उनका सर्वतोभावेन पालन किया है। यादवोंसे भी अधिक आपका स्नेह व्रजवासियोंके प्रति है। उन व्रजवासियोंमें भी व्रजवनिताओंके प्रति आपका सर्वाधिक स्नेह प्रकाशित हुआ है। आपके प्रिय भृत्य उद्धवजीने व्रजमें उपस्थित होकर व्रजवनिताओंकी श्रीचरण–रजकी पुनः–पुनः वन्दना की है।

इस प्रकार श्रीब्रह्माजी अपने अभीष्ट रूप, गुण, लीला और परिकरसे युक्त श्रीगोविन्दजीको अपना आराध्यदेव मानते हैं। प्रस्तुत संहितामें भी आगे श्रीब्रह्माजीने—'चिन्तामणिप्रकरसद्मसुकल्पवृक्षलक्षावृतेषु' आदि श्लोकोंमें अपने आराध्य, नाम-रूप-गुण-लीला-परिकर विशिष्ट श्रीगोविन्दजीकी स्तुति की है।

दशम स्कन्धमें श्रीगोविन्दनामसे श्रीकृष्णका अभिषेक करते हुए सुरभिने कहा है—'त्वं न इन्द्रो जगत्पते।'—हे अचिन्त्य महाशक्तियुक्त! हे विश्वान्तर्यामिन्! हे विश्वसंभव! हे अच्युत! हे श्रीकृष्ण! हे जगत्पते! आप ही हमारे इष्ट देवता हैं। साधु, गो, विप्र और देवताओंके कल्याण हेतु आप ही इन्द्र हैं। हे विश्वात्मन्! आप भूभार हरण करनेके लिए जगतीतलपर अवतीर्ण हुए हैं। लोकपितामह ब्रह्माजीके द्वारा प्रेरित होकर हम सब आराध्यदेव आपका अभिषेक कर रहे हैं। ऐसा कहकर सुरभि गायने अपने दुग्धद्वारा, देवराज इन्द्रदेव तथा ऋषियोंके साथ ऐरावतके सूँड़ द्वारा लाये गये मन्दाकिनीके पवित्र जलसे श्रीकृष्णका अभिषेक किया तथा उनका 'श्रीगोविन्द' नामकरण किया। (श्रीमद्भा. १०/१७/२९) अभिषेकके अन्तमें श्रीशुकदेव गोस्वामीने भी अपनी प्रार्थनामें ऐसी ही अभिव्यक्ति की है—'गोविन्द इति चाभ्यधात्' एवं 'प्रीयान्न इन्द्रो गवाम्'। अर्थात् गायोंके इन्द्र 'गोविन्द' आप हमारे प्रति प्रसन्न हों। यहाँ गायोंके इन्द्र अर्थात् स्वामी कहनेसे उनकी हीनता या न्यूनताका बोध नहीं होता, बल्कि उनके सर्वेन्द्रत्वका ही प्रतिपादन हुआ है। क्योंकि गोसूक्तमें ऐसा ही कहा गया है—'गोभ्यो यज्ञाः प्रवर्त्तन्ते, गोभ्यो देवाः समुत्थिताः। गोभिर्वेदाः समुद्गिर्णाः सषडङ्गपदक्रमाः।' अर्थात् गायोंसे ही यज्ञ प्रवर्तित हुए हैं, गायोंसे ही देवता प्रकट हुए हैं, गायोंसे ही षडङ्गपदक्रमसहित वेद प्रकटित हुए हैं। इसलिए उस गोलोकधामसे अवतीर्ण होनेके कारण श्रीकृष्ण ही गायोंके इन्द्र हैं। तापनीमें भी ब्रह्माजीने अपने आराध्यदेवका स्तव करते हुए सनकादि ऋषियोंसे कहा है—गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं, सूरभूरुहतलासीनं सततं समरुद्गणोऽहं तोषयामि।'—मैं इन्द्रादि देवताओंके साथ नित्य-निरन्तर विशुद्ध सत्त्वमय गुणादि विशिष्ट वासुदेवका स्तव करता हूँ, जो अद्वितीय परतत्त्व होकर भी सच्चिदानन्द विग्रह हैं तथा श्रीधाम वृन्दावनमें कल्पतरुके नीचे विराजमान हैं।

वैसे दशम स्कन्धमें भी ब्रह्माजीने प्रार्थना की है—'तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुले'—आज तक श्रुतियाँ जिनके पदरजका अन्वेषण कर

रही हैं, भगवान् मुकुन्द जिनके जीवन स्वरूप हैं, ऐसे गोकुलवासियोंकी पदधूलि द्वारा अभिषिक्त होनेके लिए इस भौम व्रजविपिनमें या गोकुलके किसी प्रान्तमें मेरा किसी भी रूपमें जन्म हो जाय, तभी मेरा जीवन सार्थक होगा।' अतएव यहाँ भगवान् मुकुन्द स्वयं व्रजराजनन्दन हैं, वैसे रूपमें ही उनको व्रजमें पाया जाता है।

ब्रह्माजीने और भी प्रार्थना की है—'नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय'—हे जगद्वन्दनीय! हे व्रजराजनन्दन! हे नव घनश्याम! आपके श्याम श्रीअङ्गमें स्थिर–विद्युत्की भाँति यह पीताम्बर सुशोभित हो रहा है। आपके कानोंमें गुञ्जाओंसे विरचित कर्णभूषण और मस्तकपर शिखिपिच्छका चूड़ा, गलदेशमें वनमाला, हाथमें दधि–मिश्रित अन्नका कवल, कमल जैसे नेत्र, वेणु विषाण आदिसे आपकी परम शोभा हो रही है। लक्ष्मीजीके आश्रय–स्वरूप आपके श्रीचरणयुगल अतिशय कोमल तथा स्निग्ध हैं। ऐसे सुकोमल चरणोंसे आप वृन्दावन में सदा विहार करते हैं, इस प्रकार गायोंका पालन करनेवाले व्रजेन्द्र नन्द महाराजके पुत्र! आपकी जय हो, आपको मेरा प्रणाम स्वीकार हो। इस प्रकार गोविन्द आदि नामोंसे श्रीकृष्णका परम ऐश्वर्य प्रकट होता है और इसीमें इसकी सार्थकता है।

इस प्रकार ईश्वरत्त्व एवं परमेश्वरत्त्वका प्रतिपादन कर उपसंहारमें श्रीकृष्णकी विशेषताका वर्णन कर रहे हैं। गौतमीय तन्त्रमें दशाक्षर मंत्रका अर्थ बतलाते हुए कहा गया है—

गोपति प्रकृतिं विद्याज्जनस्तत्त्वसमूहकः।
अनयोराश्रयो व्याप्त्या कारणत्वेन चेश्वरः॥
सान्द्रानन्दं परं ज्योतिर्वल्लभेन च कथ्यते।
अथवा गोपी प्रकृतिर्जनस्तदंश मण्डलम्॥
अनयोर्वल्लभः प्रोक्तः स्वामी कृष्णाख्य ईश्वरः।
कार्यकारणयोरीशः श्रुतिभिस्तेन गीयते॥
अनेक जन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा।
नन्दनन्दन–इत्युक्तस्त्रैलोक्यानन्दवर्द्धनः ॥

—जो गो, भूमि और वेदोंमें प्रसिद्ध हैं, जो इन सबको प्राप्त होकर अवस्थान कर रहे हैं, वे श्रीगोविन्ददेव हैं। जो अतुलनीय ऐश्वर्य और माधुर्यसे परिपूर्ण होकर भी गो समूहसे परिवेष्टित होकर स्वतन्त्र लीला विहार परायण हैं, जो समस्त भुवनोंमें और समस्त वेदोंमें प्रसिद्ध हैं, अर्थात् जो श्रीमन्

नन्द गोकुलमें अपने व्रजजन-मनोहारी नव-जलधर श्यामसुन्दर रूपमें विराजमान रहकर सुमधुर लीलाका विस्तार कर रहे हैं, समस्त भुवन एवं वेदसमूह जिनकी लीला माधुरीका उच्चस्वरसे गान कर रहे हैं, जो भुवनमें और वेदोंमें प्रसिद्ध हैं, वे गोपाल वेशधारी गोकुलचन्द्र श्रीकृष्ण ही 'गोविन्द' शब्दवाच्य हैं।

यहाँ इस श्लोकके द्वारा ब्रह्माजीका जो भाव प्रकट हुआ है, उसे देखनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्माजीने पहले श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंमें आत्मसमर्पण किया, परन्तु उनके हृदयमें जितना अधिक प्रेमरस प्रकट होता गया, उतना ही उनकी मधुरमूर्त्तिमें पानेकी लालसा बढ़ती गयी। इसलिए वे गोविन्दस्वरूप कृष्णमें अर्थात् व्रजराजनन्दन और माता यशोदाके प्राणधन 'गोपाल' कृष्णमें आत्मसमर्पण करने लगे। परन्तु उनका प्रेमरस सम्पूर्ण रूपसे परिपक्व होनेपर उस प्रेमरसमें निमग्न रसिक-हृदय ब्रह्माजी—कमलनयना व्रजललनाओंके द्वारा परिवेष्टित श्रीकृष्णके उस परम सुन्दर नवकिशोर-नटवर श्यामसुन्दर मदनमोहन मूर्त्तिको पानेके लिए व्याकुल हो गये। तब उस समय उन्होंने उस अनुपम गोपी-प्रेमरसमें निमग्न होकर 'गोपीजनवल्लभ' रूप श्रीकृष्णमें आत्मसमर्पण किया। तब उनके गोपी-प्रेम-रसपिपासु व्याकुल हृदयमें केवल 'कृष्णाय स्वाहा' अथवा 'कृष्णाय गोविन्दाय स्वाहा' कहकर भी तृप्ति नहीं हो पाती है। तब वे प्रेम-विभोर होकर कहने लगे—'कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा'—ऐसा कहनेसे उनकी आकांक्षा पूरी हुई।

उक्त गौतमीय तन्त्रके दशाक्षर मन्त्रार्थ-कथनमें 'गोपी' शब्दसे गुप् धातुका अर्थ रक्षा करना, पालन करना होता है, अतएव श्रीकृष्णकी जो विशिष्ट शक्ति प्रेमदान कर भक्तोंका पालन करती है, वह शक्ति ही गोपी है। उस शक्तिका नाम ह्लादिनी-शक्ति है। श्रीराधा ही यह ह्लादिनी शक्ति हैं। अतएव गोपी शब्दसे श्रीराधाजीको ही समझा जाता है। और भी 'गोपी तु प्रकृति राधा'जन' तदंश मण्डलः।'—यहाँ जन शब्दसे इन श्रीराधाके अंशमण्डल अर्थात् कायव्यूहरूपा गोपीमण्डलको समझा जाता है। अतएव गोपीजन शब्दसे श्रीराधिका और तदीय कायव्यूहरूपा ललिता-विशाखा आदि सखियोंको समझना चाहिए। इनका वल्लभ कहनेसे श्रीकृष्ण ही इनके स्वामी या प्राणप्रियतम हैं।

वल्लभ शब्दका अर्थ प्रेरक अर्थात् प्रवर्त्तक या प्रवर्त्तनकर्त्ता, रमण है। अर्थात् जो नायक रूपमें गोपियोंके साथ परम मधुर लीला-विलास आदि

करते हैं, वे ही श्रीगोपीजनवल्लभ या गोपियोंके पति अर्थात् श्रीललिता–विशाखा आदि समन्विता श्रीराधाके प्राणपति हैं। वे ही रसिकशेखर नन्दनन्दन श्रीकृष्ण, जो श्रीवृन्दावनमें गोपी अर्थात् कमलनयना नवीना सुन्दरीगण परिवृता 'श्रीराधिका' के साथ मदनमोहन रूपमें विराजमान हैं। अतएव श्रीकृष्णका तथा गोविन्द रूप अर्थात् गोपाल रूप श्रीकृष्णकी यह नवकिशोर मदनमोहन मूर्त्ति ही श्रीगोपीजनवल्लभ हैं। ये गोपीजनवल्लभ ही नित्य राधालिङ्गित विग्रह हैं। अतएव गोपीजनवल्लभ कहनेसे स्वाभाविक रूपसे श्रीराधाकृष्ण–युगलको ही समझा जाता है।

'अनेक जन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा। नन्दनन्दन–इत्युक्त स्त्रैलोक्यानन्दवर्द्धनः'—इसका तात्पर्य यह है कि जो गोपियाँ अनेक जन्मोंमें साधन करती हुई नन्दनन्दन श्रीकृष्णको पतिरूपमें या उपपति प्राणप्रियतम रूपमें प्राप्त हुई हैं। त्रिलोकीके आनन्द वर्द्धनकारी, नवीनमदन कामदेव, समस्त जगत्वासी जीवोंके हृदयमें इच्छाको (काम या प्रेमको) जगानेवाले तथा सबकी इच्छाको पूर्ण करनेवाले, भक्तजनोंके हृदयमें भक्तिको बढ़ाने वाले, अपने प्रिय परिकरोंके प्रेमको बढ़ानेवाले, स्वयं–भगवत्स्वरूप ही वृन्दावनमें नवीनमदन कामदेव हैं।

(अतएव ऐसे श्रीकृष्ण ही हमारे सम्प्रदायके प्रथमगुरु कमलासन श्रीब्रह्माजीके अभीष्ट देव हैं।)

और भी 'प्रकृति' अर्थात् मायाख्या शक्ति और तत्त्वसमूह–महदादि तत्त्व इन सबके जो आश्रय हैं। जो सान्द्रानन्द घनीभूत आनन्दस्वरूप हैं, परं ज्योति अर्थात् इन्द्रनीलमणि स्वरूप हैं। ईश्वर अर्थात् वल्लभ हैं, ईश्वर कहनेसे जो सर्वव्यापक हैं अथवा जो व्रजगोपियोंके हृदय, मन, बुद्धि आदिमें सर्वव्यापक होकर अवस्थित हैं। 'प्रकृति' पदका मूल तात्पर्य स्वरूपभूता शक्ति, मायातीत वैकुण्ठ आदिमें ही महालक्ष्मी नामसे जिनकी प्रसिद्धि है, वे व्रजगोपियाँ विराजमान हैं।

अंशमण्डल कहनेसे चतुर्व्यूहके अन्तर्गत संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्धको समझा जाता है। परन्तु यहाँ अंशमण्डल कहनेसे श्रीराधाजीके कायव्यूह रूपा गोपियोंको समझना चाहिए।

'अनेक जन्म सिद्धानां' कहनेसे—अनेकानेक अर्थात् बहुतसे जन्मोंमें जिन गोपियोंने प्रेमकी सिद्धि की है, इसमें गोपियोंका तथा श्रीकृष्णका बहुत बार जन्म हुआ है, यही सिद्ध होता है।

'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन'—इस भगवद् गीता वाक्यके अनुसार—हे अर्जुन! तुम्हारा और मेरा जन्म बहुत बार हो चुका है। इस प्रकार गोपियोंका एवं नन्दनन्दन श्रीकृष्णका भी जन्म बहुत बार हो चुका है।

वैसे गर्गाचार्यने भी कहा है,—'प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः'—हे नन्द महाराज! तुम्हारा इस बालक (आत्मज) ने पहले कभी वसुदेवका पुत्र होकर जन्म लिया था। यह युक्तिसिद्ध भी है, क्योंकि श्रीकृष्ण नन्दात्मज हैं, पहले कभी वसुदेवके मनमें आविर्भूत हुए—'आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः'—आनक दुन्दुभिः अर्थात् वसुदेव महाराजके मनमें (हृदयमें) अंश भागके द्वारा प्रकट हुए। वैसे व्रजेश्वर नन्दमहाराजजीके हृदयमें भी उनका प्रकाश हुआ। इसमें कुछ विशेषता रही है। वसुदेवजीमें जो प्रकाश हुआ—वह अंश रूपसे पूर्णप्रकाश और ब्रजेश्वर नन्दमहाराजमें जो प्रकाश हुआ है वह पूर्णतम प्रकाश है। भगवान्के जन्मसे पहले नन्द महाराज अपने हृदयमें तथा सर्वत्र उनका दर्शन करने लगे। किन्तु आत्मामें आविर्भूत होनेपर भी कृष्णको पुत्र रूपमें पानेके लिए पितृभावमय महावात्सल्य-प्रेमकी आवश्यकता होती है। इस प्रकार शुद्धप्रेम एकमात्र ब्रजराज श्रीनन्द महाराजमें ही देखा जाता है। केवल पिता होनेसे या भगवान्के पुत्र होकर आनेसे ही पुत्र भावमय सम्बन्ध नहीं हो पाता—जबतक वह वात्सल्य प्रेम नहीं हो। श्रीवराहदेव ब्रह्माके नासाछिद्रसे प्रकट होनेपर भी उन्हें ब्रह्माजीका पुत्र नहीं कहा जाता; क्योंकि ब्रह्माजीमें उनके प्रति वात्सल्य भाव नहीं है।

इसलिए माधुर्यमय प्रेममें ऐश्वर्यज्ञान प्रतिबन्धक है। वसुदेवमें ऐश्वर्य ज्ञान है और व्रजराजमें विशुद्ध वात्सल्य-प्रेम है। अतएव जहाँ प्रेमकी प्रबलता है वहाँ श्रीकृष्ण विद्यमान हैं। वैसे गोपियोंमें प्रेमकी पराकाष्ठा है, इसलिए कृष्ण वहीं सर्वोत्तम रूपसे प्रकाशित होते हैं। अतः दशाक्षर मंत्रका तात्पर्य भी नन्दनन्दन श्रीकृष्णमें ही पर्यवसित होता है॥१॥

श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर–कृत ब्रह्म–संहिता प्रकाशिनी–वृत्ति

प्रचुर सिद्धान्त–रत्न संग्रहे विशेष यत्न
करि' ब्रह्मा श्रीकृष्णे स्तविल।
एइ ग्रन्थे सेइ स्तव, मानवेर सुवैभव,
पञ्चम अध्याये निवेशिल॥
श्रीगौराङ्ग कृपासिन्धु, कलि जीवेर एक बन्धु,
दाक्षिणात्य भ्रमिते भ्रमिते।
ए 'ब्रह्म संहिता' धन करिलेन उद्धरण,
गौड़–जीवे उद्धार करिते॥
नाना–शास्त्र विचारिया, तार टीका विरचिया
श्रीजीव गोस्वामी महोदय।
श्रीगौड़ीय–भक्तगणे, महाकृपापूर्ण मने,
ए ग्रन्थ अर्पिला सदाशय॥
सेइ व्याख्या अनुसारे, आर किछु वलिवारे,
प्रभु मोर विपिन विहारी।
आज्ञा दिला अकिञ्चने, ए दास हर्षित मने,
बलियाछे कथा दुइ चारि॥
प्राकृताप्राकृत भेदि'★ शुद्धबुद्धि–सह यदि
भक्तगण करेन विचार।
कृतार्थ हइबे दास, पुरिबे मनेर आश
शुद्धभक्ति हइबे प्रचार॥
भक्तजन प्राणधन, रूप, जीव, सनातन
तव कृपा समुद्र समान।
टीकार आशय गूढ़, याते बुझि आमि मूढ़
सेइ शक्ति करह विधान॥
श्रीजीव वचनचय, पुष्पकलि शोभामय
प्रस्फुटित करिया यतने।

★भक्तिके प्रभावसे जिनको 'प्राकृत' और 'अप्राकृत' वस्तुमें भेद समझनेकी शक्ति उत्पन्न हुई है, केवल मात्र वे ही 'प्रकाशिनी' गौड़ीय भाषा विवृति पठन–पाठनके अधिकारी हैं।

गुरु कृष्णे प्रणमिया, शुद्धभक्त-करे दिया,
धन्य हइ,—एइ इच्छा मने॥

श्रीकृष्णकी कृपासे दैववाणीके माध्यमसे श्रीचतुर्मुख ब्रह्माजीने अष्टादशाक्षर मंत्र प्राप्त किया। तदनन्तर बहुत समय तक उन्होंने उक्त मंत्र-जपरूप आराधना की। उस आराधनाके फलस्वरूप श्रीकृष्णकी वेणुध्वनिरूप कामगायत्रीको प्राप्तकर उसके द्वारा द्विजत्व संस्कार लाभकर वेदोंके सार-स्वरूप सिद्धान्तरत्नरूपी वचनों द्वारा उन्होंने श्रीकृष्णका स्तव किया। जीवोंके कल्याणके लिए वे सिद्धान्तरूपी रत्नसमूह, श्रीब्रह्मसंहिता-ग्रन्थरूप सम्पुटमें संग्रहीत हैं। विशेषतः इस ग्रन्थका पंचम अध्याय अत्यन्त अधिक मूल्यवान रत्नोंसे भरा हुआ है। कलिहत जीवोंके एकमात्र बन्धु करुणावरुणालय श्रीशचीनन्दन गौराङ्ग महाप्रभुने दक्षिण भारतके तीर्थोंमें भ्रमण करते समय इस ग्रंथ-रत्नको पाकर बड़ी सावधानीसे अपने पास रखा; उसकी अनेकानेक प्रतिलिपियाँ प्रस्तुत कराकर अपने परिकरोंको प्रदान कीं। तदनन्तर श्रीजीव गोस्वामीपादने नाना शास्त्रोंके सुसिद्धान्तपूर्ण विचारोंसे पूर्ण इस ग्रन्थकी सर्वाङ्गपूर्ण एक सुन्दर टीकाकी रचना की तथा कृपापूर्वक उसे श्रीगौड़ीय भक्तोंको प्रदान किया।

श्रीजीव गोस्वामीपादकी टीकासे समन्वित इस ग्रन्थको भक्तोंके लिए महत्वपूर्ण समझकर मेरे गुरुदेव श्रीश्रीविपिनविहारी गोस्वामीने मुझे सरल-सहज शब्दोंमें उक्त टीकाकी कुछ और व्याख्या—तात्पर्य रचना करनेका आदेश दिया। मैंने उनके इस आदेशको मस्तकपर धारण कर अपने 'तात्पर्य' में और भी दो-चार महत्वपूर्ण विचारोंको सन्निवेशित किया है। प्राकृत और अप्राकृत विचारोंमें पार्थक्य समझकर यदि सरल और शुद्ध मनसे भक्तजन इसका पठन-पाठन और अनुशीलन करें, तो यह दास अपने जीवनको कृतार्थ समझेगा तथा इससे शुद्धभक्तिका सर्वत्र प्रचार होगा।

भक्तोंके प्राणधन हे श्रीरूप गोस्वामि! हे श्रीसनातन गोस्वामि! हे श्रीजीव गोस्वामि! आपलोगोंकी कृपा अगाध-अनन्त महासागरकी भाँति है। टीकाका आशय भी अत्यन्त गूढ़ है। अतः आपलोग मुझ मूढ़पर ऐसी कृपा करें—मुझमें ऐसी शक्तिका संचार करें कि मैं इस टीकाके निगूढ़ तात्पर्यसे अवगत होकर उसे व्यक्त कर सकूँ। अहा! श्रीजीवगोस्वामीपादके वचनसमूह पुष्पकलिकाओंकी भाँति परम सुन्दर हैं। मेरी यह आंतरिक अभिलाषा है कि इन सुन्दर कलियोंको प्रस्फुटित कराकर, श्रीगुरु-कृष्णको प्रणामकर शुद्धभक्तोंके करकमलोंमें इसे समर्पित कर सकूँ।

श्रीश्रील भक्तिविनोद ठाकुरकृत तात्पर्य

अपने नित्य नाम, नित्य रूप, नित्य गुण और अपनी नित्य–लीलासे युक्त एक श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ रूपसे विराजमान परमतत्त्व हैं। 'कृष्ण' ही उनका प्रेमाकर्षण लक्षण परम सत्तावाचक नित्य नाम है। सच्चिदानन्दघन द्विभुज मुरलीधर श्यामसुन्दर स्वरूप ही उनका अपना नित्य रूप है। अपने अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे विभु होकर भी मध्यमाकार स्वरूपमें नवकिशोर नटवर गोपवेश वेणुकर हैं। अतएव उस नित्य रूपमें समस्त वस्तुओंको आकर्षण करनेवाले चमत्कारपूर्ण चिन्मय गुणसमूह तथा इन्द्रियादि युक्त परम पुरुषत्व, समस्त विरुद्ध–अविरुद्ध भावोंको लेकर सामञ्जस्य–पूर्वक अवस्थित हैं। सत्, चित् और आनन्द घनीभूत होकर उन्हींमें सुशोभित हैं। उस स्वरूपके जगत् प्रकाशकारी अंश ही 'परमात्मा', 'ईश्वर' या 'विष्णु' हैं।

अतएव कृष्ण ही एकमात्र परमेश्वर हैं। उनकी चिन्मय इन्द्रियाँ और गुणसमूह पृथक्–पृथक् होकर भी उनकी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे यथायथ रूपसे विन्यस्त होकर एक परम शोभामय अद्वितीय चिद्विग्रह रूपमें नित्य प्रकाशमान् हैं।

वही श्रीविग्रह कृष्णकी आत्मा है तथा श्रीकृष्णकी आत्मा ही वह श्रीविग्रह है। घनीभूत सच्चिदानन्द तत्त्व ही मूर्त्तिमान रूपमें श्रीविग्रह हैं। इसलिए शिथिल–सच्चिदानन्द–तत्त्वरूप निर्विशेष निराकार ब्रह्म, पूर्वोक्त घनीभूत–तत्त्वकी अंग–प्रभामात्र हैं और जीवोंके हृदयस्थित अंगुष्ठपरिमाण स्वरूपवाले, साक्षी या नियन्ता परमात्मा, उसी परमतत्त्वके आंशिक प्रकाश मात्र हैं। सच्चिदानन्द–घनीभूत कृष्णविग्रह ही स्वयंरूपमें अनादि तत्त्व हैं एवं वे ही ब्रह्म–परमात्माके भी आदि हैं।

लीलाओंके द्वारा सुशोभित गोपति, गोपपति, गोपीपति, गोकुलपति और गोलोकपति, लक्ष्मियोंके द्वारा सेवित श्रीकृष्ण ही गोविन्द हैं।

वे प्रकृति और पुरुषरूप कारणोंके भी कारण हैं। उनके अंश पुरुषावतारके ईक्षणके द्वारा प्रेरित होकर उनकी अपरा प्रकृति जड़ जगत्को प्रसव करती है। उसी परमात्माकी तटस्थाशक्ति द्वारा प्रकटित किरणसमूह ही अनन्त जीव हैं। यह ब्रह्मसंहिता—उसी श्रीकृष्णका प्रतिपादक ग्रन्थ है। अतएव उनके नामोंका उच्चारण ही इस ग्रन्थका मंगलाचरण है॥१॥

श्लोक २

सहस्रपत्र-कमलं गोकुलाख्यं महत्पदम् ।
तत् कर्णिकारं-तद्धाम तदनन्तांश-सम्भवम् ॥२॥

अन्वय—गोकुलाख्यं (गोकुल नामक) महत्पदम् (श्रीकृष्णका सर्वश्रेष्ठ धाम—गो-गोप-गोपी-ग्वालबाल, गोवत्स आदिका निवास स्थल) सहस्रपत्रकमलं (चिन्मय सहस्रदलविशिष्ट कमल विशेष); तत्कर्णिकार-तद्धाम (उसी सहस्रदल कमलकी कर्णिका ही श्रीकृष्णका अपना अन्तःपुर है, जहाँ श्रीनन्दयशोदा आदि गोप-गोपियाँ निवास करती हैं।) तदनन्तांशसम्भवम् (वह गोकुल अनन्त अर्थात् श्रीबलदेवका अंश है अर्थात् उनकी विशेष प्रकारकी ज्योति द्वारा आविर्भाव-विशिष्ट है अथवा सहस्रदल कमलकी कर्णिका—अनन्तदेव भी जिनके अंश हैं उन बलदेवका भी संभव अर्थात् निवास स्थल है)॥२॥

अनुवाद—श्रीकृष्णका सर्वश्रेष्ठ स्थान श्रीगोकुलधाम है। वह श्रीअनन्तदेव जिनके अंश हैं, उन श्रीबलदेवके द्वारा नित्य प्रकाशमान है। नित्य चिन्मय वह गोकुल धाम हजारों पंखुड़ियों वाले एक कमलके स्वरूपमें है। उसके मध्यभागमें स्थित कर्णिका ही श्रीकृष्णका अपना निवास-स्थान है॥२॥

टीका—अथ तस्य तद्रूपता-साधकं नित्यं धाम प्रतिपादयति, —सहस्रपत्रमित्यादिना। सहस्राणि पत्राणि यत्र तत् कमलमित्यादिना "भूमिश्चिन्तामणिगणमयी" इति वक्ष्यमाणाच्चिन्तामणिगणमयं पद्मं तद्रूपम्। तच्च 'महत्' सर्वोत्कृष्टं 'पदं' स्थानम्; 'महतः' श्रीकृष्णस्य महाभागवतो वा 'पदं' महावैकुण्ठरूपमित्यर्थः। तत्तु नानाप्रकारं श्रूयते इत्याशंक्य विशेषणत्वेन निश्चिनोति,—गोकुलाख्यामिति। 'गोकुलम्' इत्याख्या रूढिर्यस्य तत् गोपावासरूपमित्यर्थः,—"रूढ़िर्योगमपहरति" इति न्यायेन तस्यैव प्रतीते। एतदभिप्रेत्योक्तं श्रीदशमे—"भगवान् गोकुलेश्वरः" इति। अतएव तदनुकूलत्वेनोत्तरग्रन्थेऽपि व्याख्येयम्। तस्य श्रीकृष्णस्य श्रीनन्दयशोदादिभिः सह वासयोग्यं महान्तःपुरम्। तैः सह वासिता त्वग्रे समुद्देक्ष्यते। तस्य स्वरूपमाह,—तदिति। 'अनन्तस्य' बलदेवस्य 'अंशेन' ज्योतिर्विभागविशेषेण 'सम्भवः' सदाविर्भावो यस्य तत्; तथा तन्त्रेणैतदपि बोध्यते;—अनन्तोऽंशो यस्य तस्य श्रीबलदेवस्यापि सम्भवो निवासो यत्र तदिति॥२॥

टीकानुवाद—पूर्व श्लोकमें श्रीकृष्णकी परमेश्वरता, अनादित्व एवं सर्वकारण-कारणत्वका वर्णन हुआ है। अब यहाँ उनके निज नित्य निवास-स्थानका निरूपण कर रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्णका वह गोकुल धाम सहस्रदल

कमलके स्वरूपमें सुशोभित है। उसकी विशेषता—वह चिन्तामणि स्वरूप है, भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति वह भी सच्चिदानन्दमय है, सर्वव्यापक, विभु एवं सर्वत्र प्रकाशमान है। उस लोकको सर्वश्रेष्ठ लोक कहा जाता है। उसे कुछ लोग महावैकुण्ठ लोक भी कहते हैं।

इस विषयमें किसीको कोई शंका उपस्थित न हो, इसके लिए कहा है कि वह गोकुल नामक धाम है, जहाँ गोपावास अर्थात् गोप–गोपियोंका निवास स्थान है। इसी सन्दर्भमें दशम स्कन्ध श्रीमद् भागवतमें कहा है—'भगवान् गोकुलेश्वरः' अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण गोकुलके ईश्वर, गोकुलपति हैं। इस प्रकारका वर्णन इस ग्रन्थमें भी हुआ है, जो आगे चलकर वर्णन करेंगे। भगवान् श्रीकृष्ण जहाँ पिता नन्द महाराज तथा माता यशोदा आदिके साथ सदा निवास करते हैं, ऐसे महान् अन्तःपुरको गोकुल धाम कहा गया है।

अतएव वहाँ समस्त ब्रजजनोंके साथमें निवास करते हुए श्रीकृष्णके उस धामका वर्णन इसमें भी हुआ है। अनन्तर उस धामके स्वरूपका परिचय देते हुए कहा कि वह धाम श्रीबलरामजीके अंश श्रीअनन्तदेव द्वारा नित्य प्रकटित है। यहाँ इस श्लोकमें जो सम्भव शब्दका प्रयोग हुआ है—उसका तात्पर्य आविर्भाव विशेषसे है अर्थात् श्रीबलदेवजीके अंशसे ही जिसका सदा आविर्भाव है। इस 'अनन्तांश' पदका एक और अर्थ पाया जाता है वह यह कि अनन्त जिनके अंश हैं, वे हैं श्रीबलदेव। अतएव वहाँ श्रीकृष्णके साथ–साथ श्रीबलदेवजीका भी निवास स्थान है॥२॥

तात्पर्य—गोलोकधाम या गोकुल किसी भी प्रकारका सृजन किया हुआ कोई प्राकृत जगत् नहीं है। वह नित्य प्रकाशमान है। उस धामको 'अनन्तांश सम्भवम्' कहा गया है, वह अनन्त–धर्म भगवान् श्रीकृष्णकी शैषी शक्ति अर्थात् भगवान् शेषकी शक्ति है। इसका तात्पर्य यह है कि अनन्तदेव या शेष–भगवान् जिनके अंश हैं, उन बलदेव प्रभुके द्वारा वह धाम प्रकटित है। इस शक्तिके आधार या आश्रय श्रीकृष्णके विलास विग्रह श्रीबलदेवजी हैं। उन्हींसे चित्–अचित् समस्त जगत प्रकटित हुआ है।

श्रीबलदेवजीका यह आनन्त्य–धर्म दो प्रकारसे प्रकाशित होता है—पहला अनन्त चिद्धाम रूप चिदानन्त्य और दूसरा अनन्त जड़–जगत् रूप जड़ानन्त्य। एकपाद विभूतिरूप जड़ानन्त्यका विवेचन उपयुक्त स्थान पर आगे किया जायेगा। चिदानन्त्यरूप अनन्त चिज्जगत् ही भगवान्की अशोक, अमृत, और अभय त्रिपाद विभूति है। यह विभूति सम्पूर्ण ज्योतिर्मय अर्थात् विशुद्ध चिन्मय

विभूति है। इसी चिन्मय विभूतिको महा-ऐश्वर्यमय महावैकुण्ठ या परव्योमधाम भी कहते हैं। यह महावैकुण्ठ धाम जड़ा-प्रकृतिसे सर्वथा अगोचर, विरजाके उस पार सदैव ब्रह्मज्योति द्वारा परिवेष्टित रहकर विराजमान है।

उपरोक्त परव्योम धामके भी उर्द्ध्व और निम्न दो प्रकाश हैं। उर्द्ध्व प्रकाशको परम माधुर्यमय प्रकाश तथा निम्न प्रकाशको महा-ऐश्वर्यमय प्रकाश कहते हैं। परम माधुर्यमय प्रकाशको गोलोक या गोकुल धाम भी कहते हैं। वह नाना प्रकारके रसगत विभागोंमें विभक्त अतिशय शोभाविशिष्ट रमणीय धाम है। उसीको कोई-कोई महानारायण या मूल नारायण धाम भी कहते हैं। अतएव गोलोकरूप गोकुल ही सर्वोत्कृष्ट धाम है। वह एक ही धाम ऊपर और नीचे अवस्थित होकर गोलोक और गोकुलरूपमें देदीप्यमान है। समस्त शास्त्रोंके मीमांसामय श्रीबृहद्भागवतामृतमें श्रील सनातन गोस्वामिपादने कहा है—'यथा क्रीडति तद्भूमौ गोलोकेऽपि तथैव सः अधउर्द्धतया भेदोऽनयोः कल्पते केवलम्।' अर्थात् प्रपञ्चस्थित गोकुलमें कृष्ण जैसे क्रीड़ा-विलास करते हैं, उर्द्धस्थित गोलोकमें भी वैसे लीला-विलास करते हैं। इसलिए गोलोक और गोकुलमें कुछ भेद नहीं है। केवल इतना ही समझना चाहिए कि जो सबसे ऊपर अवस्थित गोलोक धाम है, वही प्रपञ्च जगत्में कृष्णलीला-भूमि गोकुलरूपमें विराजमान है।

षट् सन्दर्भके निर्घण्टमें श्रीजीव गोस्वामीपादने लिखा है—'गोलोकनिरूपणं; वृन्दावनादीनां नित्यकृष्णधामत्वं; गोलोक-वृन्दावनयोरेकत्वञ्च।' अर्थात् गोलोक और गोकुल दोनों अभिन्न होकर भी कृष्णकी अचिन्त्य शक्तिसे गोलोक चिज्जगत्की सर्वोच्च भूमिस्वरूप है और मथुरा मण्डलस्थित गोकुल—जड़मायाप्रसूत एकपाद विभूतिरूप जड़-जगत्में अवस्थित है। चिन्मयधाम त्रिपाद विभूतिमय होकर भी एक पाद विभूतिमय निकृष्ट जड़ जगतमें कैसे अवस्थित है? बद्धजीवोंकी तुच्छ बुद्धिसे यह समझा नहीं जा सकता है। यह कृष्णकी अचिन्त्य-शक्तिके प्रभावका परिचायक है। गोकुल—चिन्मयधाम है। अतएव वह प्रपञ्चमें प्रकट होकर भी किसी भी प्रकारके जड़ देशकाल आदिके द्वारा सीमाबद्ध नहीं होता है। परम वैकुण्ठ-तत्त्व असीमित रूपमें विराजमान है। परन्तु जड़धर्ममें आविष्ट रहनेके कारण बद्धजीवकी मायिक इन्द्रियाँ और बुद्धि, चिन्मय गोकुलके विषयमें भी कुण्ठामय भावका दर्शन करती हैं। जिस प्रकार मेघ द्रष्टाके नेत्रको ही आच्छादन करता है, सूर्यको आच्छादित नहीं कर सकता; तथापि मेघ द्वारा आच्छादित

जड़–नेत्रयुक्त व्यक्ति सूर्यको ही मेघ द्वारा आच्छादित देखता है; वैसे ही बद्धजीव मायिक दोषों द्वारा आच्छादित अपनी इन्द्रियों और बुद्धि द्वारा चिन्मय गोकुलके विषयमें भी मायिक धर्मोंका आरोप करता है। बहुत सौभाग्यके फलस्वरूप जिनका मायिक धर्मसे सम्बन्ध सम्पूर्ण रूपसे छूट चुका है, केवल वे ही गोकुलमें गोलोक और गोलोकमें गोकुलका दर्शन करते हैं। नेति–नेति रूप आत्मारामताजनक ब्रह्मज्ञानके द्वारा कभी भी संकुचित सच्चिदानन्द–चिन्मात्र ब्रह्मके ऊपरमें अवस्थित वैकुण्ठ तत्त्वको देखनेमें समर्थ नहीं हुआ जा सकता है।

इसलिए ज्ञान–चेष्टाके द्वारा गोलोक या गोकुलका दर्शन सम्भव नहीं है। क्योंकि निर्विशेष शुष्क ज्ञानी अपनी सूक्ष्म दृष्टिपर निर्भर करके ही तत्त्वानुसन्धान करते हैं, परन्तु वे अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न कृष्णकी कृपापर निर्भर नहीं करते। गोलोक–वृन्दावनकी प्राप्तिके लिए आध्यात्मिक ज्ञान–चेष्टा भी व्यर्थ है। इसी प्रकार कर्माङ्गरूप योगचेष्टा भी कृपा–योग्य नहीं होती। इसलिए ये दोनों चेष्टाएँ कैवल्यको भेदकर उसके ऊपर अवस्थित चिद्विलासका अनुसन्धान नहीं कर सकतीं। जो लोग केवल शुद्धा भक्तिका आश्रय ग्रहण करते हैं, वे ही अचिन्त्य–शक्ति–सम्पन्न श्रीकृष्णकी कृपा लाभ करनेमें समर्थ होते हैं। श्रीकृष्णकी कृपाद्वारा ही मायिक–धर्मका सम्बन्ध दूर होता है और तभी गोकुल दर्शनका सौभाग्य प्राप्त होता है।

ऐसा होनेपर भक्तिकी सिद्धि भी दो प्रकारसे होती है—एक स्वरूपसिद्धि, दूसरी वस्तुसिद्धि। स्वरूपसिद्धि होनेपर गोकुलमें गोलोक दर्शन और वस्तुसिद्धि होनेपर गोलोकमें गोकुलका दर्शन होता है। यह एक परम गूढ़ रहस्य है। प्रेमकी प्राप्ति ही स्वरूपसिद्धि है। उस स्वरूपसिद्धिके पश्चात् श्रीकृष्णकी कृपासे साधक जीवके स्थूल और सूक्ष्म दोनों मायिक आवरण दूर होते हैं। तब कृष्णलीलास्थलीमें परिकर रूपमें जन्मलाभरूप वस्तुसिद्धि होती है। जैसा भी हो, जबतक भक्तिकी सिद्धि नहीं होती, तबतक गोलोकसे गोकुलको पृथक् रूपमें देखा जाता है। इस प्रकार अनन्त–वैचित्र्ययुक्त सहस्र–सहस्र पत्र विशिष्ट चिद्विलासमय पीठस्वरूप श्रीगोकुल ही श्रीकृष्णका नित्य धाम है॥२॥

टीकाका भावार्थ—अनन्तर चिद्‌विलासमय श्रीकृष्णके विलास–पीठरूप अप्राकृत गोकुल धामका वर्णन कर रहे हैं। सहस्र दलवाले कमल पुष्प–जैसा श्रीगोकुलमण्डलका स्वरूप है। वही गोकुल स्वयं भगवान् नन्दनन्दन श्रीकृष्णका

नित्यधाम है। वहाँकी भूमि चिन्तामणिमयी है अर्थात् चिन्तामणिमय कमलस्वरूप गोकुल है। वह गोकुल महत्—सर्वोत्कृष्ट पद अर्थात् स्थान है। अथवा महत् शब्दका तात्पर्य—महाभगवान् श्रीकृष्ण हैं। उनका पद या धाम ही महावैकुण्ठ स्वरूप है। 'महत्' शब्दका यही अर्थ है। यह पद नाना प्रकारसे सुना जाता है—इस आशंकाको दूर करनेके लिए विशेषणके द्वारा निश्चित रूपसे कहा गया है कि इसी पदका नाम गोकुल है। यहाँ पर 'गोकुल'-शब्दकी रूढिवृत्ति हेतु यह गोपोंका वासस्थान है। रूढिवृत्ति योगार्थका अपहरण कर लेती है; इस न्यायके अनुसार 'गोकुल'-शब्दसे गो-गोपोंके वासस्थलका ही बोध होता है; अन्य किसीका बोध नहीं होता है। इसी अभिप्रायसे श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध १०वें अध्यायके ३४वें श्लोकमें कहा गया है—"भगवान् गोकुलेश्वरः" अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण ही गोकुलके ईश्वर हैं। अतएव इसीके अनुकूल उत्तरग्रन्थमें भी ऐसी ही व्याख्या करनी उचित है। गोकुल धाम, नन्द-यशोदा आदिके साथ श्रीकृष्णका निवास करने योग्य है—इसीलिए यहाँ महत्-शब्दका प्रयोग हुआ है। अब उसी महत्-पदका स्वरूपगत अर्थ कह रहे हैं। अनन्त अर्थात् श्रीबलदेवके अंश या ब्रह्मज्योर्तिविभाग द्वारा उत्पन्न होनेके कारण गोकुलको 'महत्' पद कहा जा सकता है; अथवा अनन्त ही जिनके अंश हैं, ऐसे श्रीबलराम, जिस स्थानमें वास करते हैं—इसलिए भी गोकुल महत् धाम है। उसी सहस्रदल गोकुल नामक कमल पुष्पकी कर्णिकाके बीचमें श्रीकृष्णके अविर्भाव हेतु गोकुलको ही महत् धाम कहा गया है॥२॥

श्लोक ३–४

कर्णिकारं महद्यन्त्रं षट्कोणं वज्रकीलकम्।
षडङ्ग षट्पदी–स्थानं प्रकृत्या पुरुषेण च॥
प्रेमानन्द–महानन्द–रसेनावस्थितं हि यत्।
ज्योतीरूपेण मनुना कामबीजेन सङ्गतम्॥३॥
तत् किञ्जल्कं तदंशानां तत् पत्राणि श्रियामपि॥४॥

अन्वय—कर्णिकारं (उस सहस्रदलवाले कमलके कर्णिकार अर्थात् गोकुलके मध्य भागमें) महद्यन्त्रं (महायन्त्र–विशेष), षट्कोणं (छह कोण विशिष्ट); वज्रकीलकम् (हीरेकी भाँति उज्ज्वल चिन्मय शक्तिमान श्रीकृष्णतत्त्व वज्रकीलकके रूपमें उसमें अवस्थित हैं) षडङ्ग–षट्पदी स्थानं (उसमें अष्टादशाक्षररूप मन्त्रराज—छह अङ्गोंसे छह भागोंमें स्थित होकर षडङ्ग–षट्पदी स्थानके रूपमें व्यक्त हैं); प्रकृत्या पुरुषेण च (उसमें मूल प्रकृति और पुरुष अधिष्ठित हैं) यत् हि प्रेमानन्द–महानन्द–रसेनावस्थितं (वह गोकुल प्रेमानन्द रूप महानन्द–रसका अधिष्ठान है) ; ज्योतीरूपेण मनुना कामबीजेन सङ्गतम् (यह ज्योतिस्वरूप कामबीज और काम गायत्री–मन्त्रयुक्त है) तत् किञ्जल्कं तदंशानां (उस कमलके केशररूप कृष्णांश–स्वरूप परम प्रेमी भक्त अर्थात् स्वजातीय गोपोंके साथ) (एवं) तत्पत्राणि श्रियामपि (पत्रसमूह श्रीराधा आदि श्रीकृष्णकी प्रेयसियोंके उपवन स्वरूप धाम विशेष हैं)॥३–४॥

अनुवाद—उस चिन्मय कमलका मध्यभाग ही कर्णिकार है अर्थात् श्रीकृष्णका आवास स्थान है। वह प्रकृति और पुरुषके द्वारा अधिष्ठित छह कोणमय यन्त्र विशेष है। हीरेकी भाँति वह उज्ज्वल चिन्मय शक्तिमान कृष्णतत्त्व कीलक रूपमें मध्य भागमें अवस्थित है तथा अष्टादशाक्षरमय मन्त्रराज—छह अङ्गोंसे छह भागोंमें अवस्थित होकर षड्ङ्ग षट्पदी स्थानके रूपमें प्रकाशित है।

उसी गोकुल नामक नित्यधामका कर्णिकार ही षट्कोणमयी श्रीकृष्णकी निवास भूमि है। उसका किञ्जल्क अर्थात् केशर और पँखुड़ियाँ ही श्रीकृष्णके अंशस्वरूप परम प्रेमीभक्त—सजातीयगोपोंकी आवासभूमि है। वे प्राचीरकी भाँति चारों ओर सुशोभित हो रही हैं। उस कमलके विस्तृत दलसमूह ही श्रीकृष्ण प्रेयसी श्रीराधा आदि ब्रजाङ्गनाओंके उपवन–स्वरूप धामविशेष हैं॥३–४॥

टीका—सर्वमन्त्रगणसेवितस्य श्रीमदष्टादशाक्षराख्यमहामन्त्रराजपीठस्य मुख्यपीठमिदमित्याह,—कर्णिकारमिति द्वयेन। 'महद्यन्त्रम्' इति— यत्प्रतिकृतिरेव सर्वत्र यन्त्रत्वेन पूजार्थं लिख्यत इत्यर्थः। यन्त्रत्वमेव दर्शयति,—षटकोणान्यभ्यन्तरे यस्य तत्; 'व्रजकीलकं' कर्णिकारे वीजरूपहीरक-कीलकशोभितम्; मन्त्रे च 'च'-कारोपलक्षिता चतुरक्षरी कीलकरूपा ज्ञेया। षट्कोणत्वे प्रयोजनामाह,—षट् अङ्गानि यस्याः सा षट्पदी श्रीमदष्टादशाक्षरी, तस्याः स्थानम्। 'प्रकृतिः' मन्त्रसद्मरूपं स्वयमेव श्रीकृष्णः कारणरूपत्वात्; तच्चोक्तं ऋष्यादिस्मरणे—"कृष्णः प्रकृतिः" इति; पुरुषश्च;—स एव तदधिष्ठातृदेवतारूपः, ताभ्याम् 'अवस्थितम्' अधिष्ठितम्। स हि चतुर्धा प्रतीयते,—मन्त्रस्य कारणत्वेन, वर्णसमुदायरूपत्वेन, अधिष्ठातृदेवतारूपत्वेन, आराध्यरूपत्वेन प्रागुक्तः—"ईश्वरः परमः कृष्णः" इति। वर्णरूपत्वेनाग्रत उद्धरिष्यते—"कामः कृष्णाय" इति। यथोक्तं हयशीर्षपञ्चरात्रे—"वाच्यत्वं वाचकत्वञ्च देवतामन्त्रयोरिह। अभेदेनोच्यते ब्रह्मन् तत्त्वविद्भिर्विचारिते॥" इति; गोपालतापनीश्रुतिषु "वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव। कृष्णस्तथैकोऽपि जगद्धितार्थं शब्देनासौ पञ्चपदो विभाति॥" इति।

क्वचिद्दुर्गाया अधिष्ठातृत्वन्तु शक्तिशक्तिमतोरभेदविवक्षया; अतएवोक्तं गौतमीयकल्पे—"नारदोऽस्य ऋषिः प्रोक्तश्छन्दो विराडिति स्मृतम्। श्रीकृष्णो देवता वास्य दुर्गाऽधिष्ठातृदेवता॥ यः कृष्णः सैव दुर्गा स्याद् या दुर्गा कृष्ण एव सः। अनयोरन्तरादर्शी संसारान्नो विमुच्यते॥" इत्यादि। अतः स्वयमेव श्रीकृष्णस्तत्र स्वरूपशक्तिरूपेण दुर्गा-नाम; तस्मान्नेयं मायांशभूता दुर्गेति गम्यते। निरुक्तिश्चात्र—"कृच्छ्रेण दुराराधनादि-बहुप्रयासेन गम्यते ज्ञायते" इति। तथा च श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रुतिविद्या-संवादे—जानात्येका परा कान्तं सैव दुर्गा तदात्मिका। या परा परमा शक्तिर्महाविष्णुस्वरूपिणी॥ यस्या विज्ञानमात्रेण पराणां परमात्मनः। मुहूर्त्तादेव देवस्य प्राप्तिर्भवति नान्यथा॥ एकेयं प्रेमसर्वस्वभावा श्रीगोकुलेश्वरी। अनया सुलभो ज्ञेय आदिदेवोऽखिलेश्वरः॥ भक्तिर्भजनसम्पत्तिर्भजते प्रकृतिः प्रियम्। ज्ञायतेऽत्यन्तदुःखेन सेयं प्रकृतिरात्मनः। दुर्गेति गीयते सद्भिरखण्डरसवल्लभा॥ अस्य आवरिका शक्तिर्महामायाऽखिलेश्वरी। यया मुग्धं जगत् सर्वं सर्वदेहाभिमानिनः॥"इति। तथा च सम्मोहनतन्त्रे—"यन्नाम्ना नाम्नि दुर्गाहं गुणैर्गुणवती ह्यहम्। यद्वैभवान्महालक्ष्मी राधा नित्या पराद्वया॥" इति

दुर्गावाक्यम् किञ्च, प्रेमरूपा य आनन्द–महानन्दरसास्तत् परिपाकभेदात्मकेन तथा 'ज्योतीरूपेण' स्वप्रकाशेन 'मनुना' मन्त्ररूपेण 'कामबीजेन सङ्गतम्' इति मूलमन्त्रान्तर्गतत्वेऽपि कामबीजस्य पृथगुक्तिः कुत्र च न स्वातन्त्र्यापेक्षया।

तदेवं तद्धामोक्त्वा तदावरणान्याह,—तदित्यर्द्धेन। तस्य कर्णिकारूपधाम्नः 'किञ्जल्कं',—'किञ्जल्काः शिखरावलिवलित–प्राचीरपंक्तयः' इत्यर्थः; तत्तु 'तदंशानां'—तस्मिन्नंशादयो विद्यन्ते येषां परमप्रेमभाजां सजातीयानां धामेत्यर्थः। 'गोकुलाख्यम्' इत्युक्तेरेव तेषां तत्सजातीयत्वञ्चोक्तं स्वयं श्रीबादरायणिना,—"एवं ककुद्मिनं हत्वा स्तूयमानः स्वजातिभिः। विवेश गोष्ठं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः॥" इति। अतएव तस्य कमलस्य 'पत्राणि' 'श्रियां' तत्प्रेयसीनां गोपीरूपाणां श्रीराधादीनामुपवनरूपाणि धामानीत्यर्थः। गोपीरूपत्वञ्चासां—मन्त्रस्य तन्नाम्ना लिङ्गितत्वात्; राधादित्वं च,—"देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता। सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः संमोहिनी परा॥" इति बृहद्गौतमीयात्,"राधा वृन्दावने वने" इति मत्स्यपुराणात्; "राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका" इति ऋक्परिशिष्टाच्च। तत्र 'पत्राणाम्' उच्छ्रितप्रान्तानां सन्धिषु वर्त्मान्यग्रिमसन्धिषु गोष्ठानि ज्ञेयानि। अखण्डकमलस्य गोकुलत्वात् तथैव गोकुलसमावेशाच्च गोष्ठं तथैव। यत्तु स्थानान्तरे वचनमस्ति,—"सहस्रारं पद्मं दलततिषु देवीभिरभितः परीतं गोसंघैरपि निखिलकिञ्जल्कमिलितैः। कवाटे यस्यास्ति स्वयमखिलशक्ति–प्रकटित–प्रभावः सद्यः श्रीपरमपुरुषस्तं किल भजे॥" इति,—तत्र 'गो–संखैः' इति तु पाठः समञ्जसः। गोसंख्याश्च गोपा इति,—'गोपागोपाल–गोसंख्य–गोधुगाभीरवल्लवाः' इत्यमरः। कवाट इति कवाटनामभ्यन्तरे कर्णिका–मध्यदेश इत्यर्थः। अखिलशक्त्या प्रकटितः प्रभावो येन स परमपुरुषः श्रीकृष्ण इत्यर्थः॥३–४॥

टीकानुवाद—अब 'कर्णिकारमिति'—इन दो श्लोकोंसे समस्त मन्त्रोंके द्वारा परिसेवित श्रीमत् अष्टादशाक्षर महामन्त्रराजके अनेकानेक पीठोंमेंसे मुख्य–पीठका वर्णन कर रहे हैं। वह पीठस्थान एक महान् यन्त्रविशेष है; जिसकी प्रतिकृति पूजाके निमित्त सर्वत्र यन्त्रके रूपमें अंकित की जाती है।

अब उस यन्त्रका स्वरूप बतलाया जा रहा है—वह यन्त्र षट्कोण–

विशिष्ट है। (वे छह कोण दो त्रिभुजोंके परस्पर विपरीत रूपमें मिलनेसे बनते हैं।) उसके मध्यमें 'वज्र कीलक' अर्थात् कर्णिकारके मध्यभागमें बीजरूप (क्लीं) हीरेकी कील सुशोभित है। इस मन्त्रमें 'च' कारसे चार अक्षरयुक्त कामबीज ही कीलक रूपमें जाना जाता है, जो कर्णिकारमें अवस्थित है। इस षट्कोणकी क्या आवश्यकता है? इसके उत्तरमें कहा गया है कि छह अङ्ग हैं जिसके, ऐसी षट्पदी श्रीमन् अष्टादशाक्षरी-मन्त्रका स्थान है।

इसलिए उसे छह कोणयुक्त दिखाया गया है। उसमें प्रकृति और पुरुष अधिष्ठित होते हैं। वह प्रकृति मन्त्रके सद्म (भवन) रूपमें अवस्थित हैं। वह प्रकृति भी स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं; क्योंकि प्रकृतिका कारण होनेसे उनको यहाँ प्रकृति कहा गया है। इस मन्त्रके ऋषि आदिके स्मरणमें कहा है—'कृष्णः प्रकृतिः' इति।

अर्थात् कृष्ण ही प्रकृति हैं। पुरुष अर्थात् उस मन्त्रके अधिष्ठातृ देवताके रूपमें जो अवस्थित हैं। इसलिए इस मन्त्रमें प्रकृति और पुरुष रूपमें श्रीकृष्ण ही अधिष्ठित हैं। उनकी चार प्रकारकी प्रतीतियाँ हैं; यथा—मन्त्रके कारण रूपमें, वर्ण-समुदायके रूपमें, अधिष्ठातृ देवताके रूपमें और आराध्यदेवके रूपमें। उनमेंसे यहाँ श्रीकृष्णको कारण रूपमें तथा अधिष्ठातृ देवताके रूपमें दिखलाया गया है। आराध्य देवताके रूपमें पहले वर्णन किया गया है, जैसे—'ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः'। वर्ण रूपमें इसको आगे उद्धृत किया जायेगा—'कामः कृष्णाय' आदि पदोंमें।

हयशीर्ष पञ्चरात्रमें कहा गया है—'हे ब्राह्मण! तत्त्वदर्शी विद्वज्जन वाच्य, वाचक, देवता और मन्त्रको एक या अभेद रूपमें वर्णन करते हैं।'

इसी प्रकार गोपालतापनी श्रुतिमें भी कहा गया है—वायु जैसे एक है, वह भुवनमें (शरीर) प्रविष्ट होकर प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान भिन्न-भिन्न रूप और नामसे प्रतीत होता है। वैसे ही जगतके हितकारी भगवान् श्रीकृष्ण भी पञ्चपदोंमें मन्त्ररूपसे अवस्थित हैं।

कहीं-कहीं इस मन्त्रके अधिष्ठातृ देवताके रूपमें दुर्गाजीका उल्लेख पाया जाता है। ऐसा उल्लेख शक्ति-शक्तिमानमें अभेदके कारण है। जैसे कि गौतमीय कल्पमें (तन्त्रमें) कहा गया है—'यः कृष्णः सैव दुर्गा स्याद् या दुर्गा कृष्ण एव सः। अनयोरन्तरादर्शी संसारान्नो विमुच्चते॥' अर्थात् जो कृष्ण हैं, वही दुर्गा हैं। जो दुर्गा हैं, वही कृष्ण हैं। इन दोनोंमें भेद देखनेवाला व्यक्ति संसारसे मुक्त नहीं होता है। इसलिए यहाँ स्वयं श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्ति

ही दुर्गा नामसे परिचित हैं। यह दुर्गा मायाकी अंशभूता दुर्गा नहीं है। निरुक्तिमें ऐसा उल्लेख है—'कृच्छ्रेण दुराराधनादि–बहुप्रयासेन गम्यते ज्ञायते' अर्थात् जिनको अति कठोर साधनासे—बहुत प्रयाससे जाना जाता है, उनको दुर्गा कहा जाता है। श्रीनारद पञ्चरात्रमें भी कहा गया है—

जानात्येका परा कान्ता सैव दुर्गा तदात्मिका।
या परा परमाशक्तिर्महाविष्णु स्वरूपिणी॥
यस्या विज्ञानमात्रेण पराणां परमात्मनः।
मुहूर्त्तादेव देवस्य प्राप्तिर्भवति नान्यथा॥
एकेयं प्रेमसर्वस्वभावा श्रीगोकुलेश्वरी।
यथा मुग्धं जगत् सर्वं सर्वदेहाभिमानिनः॥

अर्थात् जो सर्वश्रेष्ठ परमा शक्ति महाविष्णु–स्वरूपिणी हैं, जो कृष्णात्मिका हैं और जो कान्ताओंमें सर्वश्रेष्ठा हैं, वही दुर्गा हैं। उनके विज्ञानके द्वारा क्षणभरमें अवश्य ही परम परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति होती है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। ये प्रेम–सर्वस्व स्वभाव अर्थात् महाभाव–स्वरूपा गोकुलेश्वरी श्रीराधा हैं। इन्हींकी कृपा द्वारा अखिलेश्वर आदिदेव भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति होती है। ये श्रीकृष्णकी अन्तरङ्गा प्रकृति स्वरूप–शक्ति श्रीराधा हैं। ये भक्ति तथा भजन सम्पत्तिके द्वारा प्रियतम श्रीकृष्णकी आराधना करती हैं। अथवा प्रियतम श्रीकृष्ण भक्ति और भजन सम्पदके द्वारा जिनकी आराधना किया करते हैं। ऐसे भगवान्की प्रियतमा स्वरूपशक्ति श्रीराधाको अत्यन्त कठोर आराधनासे परिज्ञात हुआ जाता है। इसीलिए सज्जनगण उन्हें श्रीकृष्णकी अखण्ड–रस–वल्लभा दुर्गा कहते हैं। इन्हींकी आवरणिका शक्ति—महामाया अखिलेश्वरी हैं, जिनसे समस्त देहाभिमानी जगत् आवृत और मुग्ध है। सम्मोहन तन्त्रमें भी श्रीदुर्गाजीका ऐसा ही कथन दृष्टिगोचर होता है—

'यन्नाम्ना नाम्नि दुर्गाहं गुणैर्गुणवती ह्यहम्।
यद्वैभवान्महालक्ष्मी राधा नित्या पराद्वया॥'

—जिनके नामसे मैं दुर्गा और जिनके गुणोंसे मैं गुणवती रूपमें प्रसिद्ध हूँ, जिनके वैभवसे मैं वैभवशालिनी हुई हूँ, ऐसी महालक्ष्मी श्रीराधा श्रीकृष्णसे अभिन्न उनकी सर्वकान्ताशिरोमणि प्रियतमा हैं।

इस प्रकार जो प्रेमरूपा, आनन्दरूपा, महानन्दरस–स्वरूपा, कृष्ण–प्रेमकी चरम पराकाष्ठा महाभाव–स्वरूपा हैं एवं जो ज्योतिरूपसे अपने प्रकाशके

द्वारा 'मनुना' मन्त्ररूपमें अवस्थित हैं, ऐसे स्वरूपको 'श्रीराधा' कहते हैं। 'कामबीजेन सङ्गतम्'—यह मूल मन्त्रके अन्तर्गत होकर भी पृथक् कथन, कामबीजको कहीं-कहीं स्वतन्त्रताकी अपेक्षामें कहा गया है॥३॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण-धामके वर्णनके अनन्तर 'तत्' इति आधे श्लोकके द्वारा उसके आवरणका भी वर्णन करते हैं। उस कमलकी कर्णिकारूप धामके किञ्जल्क समूह ही प्राचीर-पंक्तियाँ हैं। किञ्जल्क कहनेसे शिखरावलि अर्थात् शिखरसमूहयुक्त प्राचीरकी पंक्तियोंसे तात्पर्य है, जिनके द्वारा वह धाम चारों ओरसे परिवेष्टित है। 'तत्तदंशानां'—इसके द्वारा उन परमपुरुष श्रीकृष्णमें गोप, गोपी आदि परिकररूप अंश आदिका भी बोध होता है। जिस धाममें श्रीकृष्णके परम प्रेम-भाजन सजातीय परिकरगण रहते हैं, ऐसे परिकरोंके साथ निवासस्थानरूप वह गोकुल धाम है। इस प्रकार उनके सजातीय परिकरोंके धाम गोकुलका वर्णन करते हुए श्रीमत् कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजीने कहा है—'एवं कुकुद्मिनं हत्वा स्तूयमानः सजातिभिः। विवेश गोष्ठं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः'—वृषभासुरका वध करनेके पश्चात् गोपियोंके नयनानन्दवर्द्धनकारी श्रीकृष्णने बलदेवजीके साथ गोष्ठमें प्रवेश किया। उस समय गोपवृन्द उनकी स्तव-स्तुति द्वारा प्रशंसा करने लगे।

इस प्रकार उस कमलकी पंखुड़ियाँ, उनकी प्रेयसी गोपियों—श्रीराधा आदि प्रियतमाओंके उपवन-स्वरूप धामसमूह हैं। श्रीकृष्णकी प्रेयसियोंको गोपी कहते हैं। यह उनके मन्त्रमें स्पष्टरूपसे गोपी पदके द्वारा उल्लिखित हुआ है। इन सभी गोपियोंमें सर्वश्रेष्ठ श्रीराधा हैं। श्रीकृष्ण जैसे सबके आदि और स्वयं अनादि हैं, वैसे ही श्रीराधा भी श्रीकृष्णसे अभिन्न सभीकी आदि और स्वयं अनादि हैं।

इसीलिए बृहद् गौतमीय-तन्त्रमें कहा गया है—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा॥

श्रीराधिका परदेवता हैं। देवी—कृष्ण क्रीड़ाकी एकमात्र आश्रयस्थली हैं। समस्त लक्ष्मियोंकी आश्रयस्वरूप महालक्ष्मी हैं। परमसुन्दरी हैं। कृष्ण जिनके बाहर-भीतर हैं, जो सदैव कृष्णमें तन्मय रहती हैं, समस्त सौन्दर्यकी मूर्त्ति हैं तथा कृष्णमनमोहिनी हैं। और भी, वे वृन्दावनकी अधीश्वरी हैं।

जैसे मत्स्य पुराणमें कहा है—

वाराणस्यां विशालाक्षी विमला पुरुषोत्तमे।
रुक्मिणी तु द्वारावत्यां राधा वृन्दावने वने॥

—वाराणसीमें विशालाक्षी, पुरुषोत्तममें विमलादेवी, द्वारावतीमें रुक्मिणी और वृन्दावनमें श्रीराधा विराजमान हैं।

इस प्रकार ऋक् परिशिष्टमें भी कहा गया है—'राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका विभ्राजन्ते जनेष्वा'—राधाजीके साथ माधव और माधवके साथ श्रीराधिका सुशोभित होती हैं।

'तत्र प्रत्राणाम्'—उस गोकुल धामरूप कमलके दलोंके मध्यभागके सन्धिस्थलमें पहले पथसमूह और अनन्तर गोष्ठ अर्थात् गौवोंके वासस्थान हैं—ऐसा समझना चाहिए। गोकुल एक अखण्ड कमल विशेष है। उसीमें इन सबका समावेश है। इस प्रकार गोष्ठ भी उसमें सुशोभित हो रहे हैं, और भी अन्य स्थानोंमें पाया जाता है—वह गोकुल धाम—सहस्रपत्र कमल विशेष है। उन कमलदलकी पंखुड़ियोंमें (दलोंमें) गोपियोंके वासस्थान हैं, चारों ओर असंख्य गायोंके वासस्थल हैं, कमलकोष–बीजमें स्वयं परमपुरुष ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण अपनी अखिल कान्ताओंके साथ विराजित हैं, उनका मैं भजन करता हूँ।

यहाँ 'गोसंख्यैः'—ऐसा पाठ होना ठीक है। इस श्लोकमें गोसंख्य शब्दसे गोप समुदायका बोध होता है। क्योंकि अमरकोषमें—गो–शब्दके गोपा, गोपाल, गोसंख्य, गोधु, गाभीर, वल्लभाः—आदि बहुतसे अर्थोंका वर्णन हुआ है। कवाट कहनेसे उसके मध्यस्थित कर्णिकाके मध्यदेशको समझना चाहिए। जिन्होंने अपनी अखिल शक्तियोंके द्वारा अपने प्रभावको सदैव प्रकाशित कर रखा है, वे स्वयं परमपुरुष श्रीकृष्ण हैं यही मूल तात्पर्य है॥३–४॥

तात्पर्य—श्रीकृष्णकी लीला—प्रकट और अप्रकट भेदसे दो प्रकार की होती है। साधारण मनुष्योंके नेत्रोंसे दीखनेवाली वृन्दावनकी लीलाको प्रकट कृष्णलीला कहते हैं और जो लीला चर्मचक्षुओंसे लक्षित नहीं होती, उस कृष्णलीलाको अप्रकट कृष्णलीला कहते हैं। गोलोकमें अप्रकट–लीला सब समय प्रकट रहती है और श्रीकृष्णकी इच्छा होनेपर जब वह अप्रकट–लीला गोकुलमें इन प्रापञ्चिक नेत्रोंसे गोचर होती है, तब उसे प्रकट–लीला कहा जाता है।

कृष्ण–सन्दर्भमें श्रीजीव गोस्वामीपादने कहा है—'अप्रकट–लीलातः प्रसूतिः प्रकटलीलायामभिव्यक्तिः'। अर्थात् अप्रकट–लीलाकी अभिव्यक्ति ही प्रकट लीला है। कृष्ण–सन्दर्भमें और भी कहा है—'श्रीवृन्दावनस्य प्रकाशविशेषो गोलोकत्वम्, तत्र प्रापञ्चिकलोकप्रकट–लीलावकाशत्वेनावभासमानं प्रकाशो

गोलोक इति समर्थनीयम्'। अर्थात् प्रापञ्चिक जगतमें प्रकट-लीलाका जो अवकाश होता है, उसमें जो अप्रकट रूपमें अवस्थित रहती है, वही गोलोककी लीला है। अतएव श्रीरूप गोस्वामीपादकृत लघु-भागवतामृत ग्रन्थमें इस विषयका समाधान किया गया है—

यत्तु गोलोक नाम स्यात्तच्च गोकुलवैभवम्।
तादात्म्यवैभवत्वञ्च तस्य तन्महिमोन्नतेः॥

अर्थात् गोकुलका तादात्म्य-वैभव ही उनकी महिमाकी उन्नति है। अतएव गोलोक—गोकुलका वैभवमात्र है। श्रीकृष्णकी समस्त लीलाएँ गोकुलमें अप्रकट होनेपर भी गोलोक धाममें नित्य प्रकट हैं।

इसका रहस्य इस प्रकार है कि गोलोक और वृन्दावन (गोकुल) दोनों एक ही तत्त्व हैं। दोनोंमें कोई भेद नहीं है। एक ऊपरमें है, तो दूसरा नीचे; परन्तु विशेष विचारसे देखनेपर मथुरा मण्डलमें जैसे गोकुल है, वैसे गोलोकमें ही वृन्दावन है। तब गोलोक वृन्दावनका बहिः प्रकाशमात्र माना जाता है। दोनोंमें लीलाकी दृष्टिसे एकत्व है। भेद केवल प्रकट और अप्रकट-लीलामें देखा जाता है। गोलोकमें श्रीकृष्णकी लीला नित्य प्रकट है, परन्तु भेदकी दृष्टिसे देखनेपर केवल गोलोककी लीला ऐश्वर्य-भाव संयुक्त और वृन्दावनकी लीला विशुद्ध माधुर्ययुक्त लीला है। इसलिए गोलोकको गोकुलका वैभव कहा गया है।

उस गोकुलके वैभवरूप गोलोकमें बद्धजीवके विषयमें अप्रकट लीलाकी जो प्रकटता है अर्थात् साधक जीव उस लीलाकी जो साधना करते हैं—वह दो प्रकारकी होती है—एक मन्त्रोपासनामयी और दूसरी स्वारसिकी उपासना।

श्रीजीव गोस्वामीपादने कहा है—'तत्तदेकतर स्थानादि—नियत स्थितिक एवं तत्तन्मन्त्रध्यानमय' अर्थात् श्रीकृष्णकी केवल एक स्थानमें स्थित किसी एक लीलाका मंत्र द्वारा जो निरन्तर चिन्तन-मनन किया जाता है और उसी प्रकारसे उनकी आराधना की जाती है—उसे मन्त्रमयी उपासना कहते हैं और जिस लीलामें नाना-प्रकारके क्रीड़ा-विलास लगातार परस्पर गुथे हुए चलते रहते हैं तथा जो लीला नाना-स्थान व्यापिनी होती है, वह विविध प्रकारकी स्वेच्छामयी होती है, अतएव स्वारसिकी (स्वाभाविकी) कहलाती है। इस श्लोकमें उपर्युक्त दोनों प्रकारके अर्थ प्रकाशित होते हैं। एक अर्थ यह है कि अष्टादशाक्षरमयी लीलामें मन्त्रस्थित पदसमूह स्थान-स्थानमें विन्यस्त होकर कृष्णकी केवलमात्र एक ही लीलाको प्रकाश

करते हैं। जैसे—'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन वल्लभाय स्वाहा।' इस मन्त्रको षडङ्ग षट्पदी मन्त्र कहा जाता है। (१) कृष्णाय, (२) गोविन्दाय, (३) गोपीजन, (४) वल्लभाय, (५) स्वा, (६) हा—यह षडङ्ग षट्पदी क्रमानुसार उत्तरोत्तर विन्यास होने पर मन्त्रकी अवस्थिति होती है अर्थात् वह मन्त्रका रूप ग्रहण करता है।

षट्कोण महायन्त्र इस प्रकार है—बीज अर्थात् कामबीज क्लीं—यह यन्त्रके कील-स्वरूप मध्यमें अवस्थित है। इस प्रकार यन्त्रको अंकित कर चिन्मय तत्त्वका चिन्तन करने पर चन्द्रध्वज राजाकी भाँति तत्त्वज्ञान उदित होता है। 'स्वा'—शब्देन च क्षेत्रज्ञो हेति चित् प्रकृतिः परा' इति गौतमीय तन्त्रोपदेशे'—अर्थात् 'स्वा' शब्दके द्वारा क्षेत्रज्ञ जीव और 'हा' शब्दसे चिन्मय प्रकृति अर्थात् जीवके नित्य स्वभावको समझना चाहिए।

श्रीहरिभक्तिविलासके अनुसार—'उत्तराद्गोविन्दायेत्यस्मात् सुरभिं गोजातिम्। तदुत्तराद्गोपीजनेत्यस्मात् विद्याश्चतुर्दश। तदुत्तराद् वल्लभ' इत्यादि—अर्थात् 'क्लीं'-पदके पश्चात् 'गोविन्दाय' सुरभि—गोजातिके आनन्दवर्द्धक तथा पालक श्रीकृष्ण ही गोविन्द हैं; उसके पश्चात् 'गोपीजन'—श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्तिकी चौदह विद्याएँ हैं, इनकी प्रतिमूर्त्ति ब्रजगोपियाँ हैं, इनका समुदाय ही गोपीजन है। उसके पश्चात् 'वल्लभाय'—ऐसी गोपियोंके वल्लभ श्रीकृष्णचन्द्र ब्रजनागर हैं। ऐसे अर्थके द्वारा मन्त्रोपासनामयी एक स्थानमें अवस्थित जो लीलानुभूति होती है—वही मन्त्रोपासनाका तात्पर्य है। इसका साधारण तात्पर्य यह है कि कृष्णकी चिन्मयी लीलामें प्रवेश करनेके लिए जिनकी एकान्त अभिलाषा होती है, वे भक्तिरसजनित सम्बन्धज्ञानका अनुशीलन करते हुए अपने चित्-स्वरूपगत कृष्णसेवाका विधान करेंगे।

(१) कृष्ण स्वरूप (२) कृष्णके चिन्मय ब्रजलीला-विलासका स्वरूप, (३) उनके परिकर गोपियोंका स्वरूप, (४) उनके वल्लभ अर्थात् गोपियोंके अनुगत होकर कृष्णमें आत्मनिवेदनका स्वरूप, (५) शुद्ध जीवकी चिन्मयताका स्वरूप एवं (६) चित् प्रकृति अर्थात् कृष्णसेवाका स्वरूप (स्वभाव)। इन स्वरूपोंका ज्ञान उदय होनेपर जीवका श्रीकृष्णके साथ सम्बन्ध स्थापित होता है। उसमें आत्मसंयोग-स्वरूप अभिधेय भक्तिकी निष्ठासे परमाश्रय श्रीकृष्णरूप पुरुष और श्रीराधाकी दासीरूपा 'अहं' प्रकृति—यह भगवत्-सेवा-सुख ही एकमात्र रस है। यही इसका अर्थ है।

साधन अवस्थामें गोलोक या गोकुलमें मन्त्रोपासना-ध्यानमयी लीला

है और सिद्धावस्थामें निःसंकोच विहाररूप लीलाका उदय होता है। यही गोलोक या गोकुलकी स्थिति है, वह क्रमशः प्रकाशित होगी। 'ज्योतीरूपेण मनुना'—इस कथनका अर्थ यह है कि मन्त्रमें चिन्मय अर्थका प्रकाश या अनुभव हो। उसमें अप्राकृत कामरूप शुद्ध कृष्णप्रेमको सम्मिलित कर सेवा करते-करते साधक जीवका सिद्ध-परिकर रूपमें प्रेमानन्द-महानन्द रसके साथ अवस्थान होता है। इस प्रकारकी नित्यलीला गोलोकमें सदा प्रकाशमान है।

चिन्मय गोकुलका आकार कमलके विकसित पुष्प जैसा है। उसके बीचों-बीच कर्णिकाकी आकृति षट्कोणमयी है। उसमें अष्टादशाक्षरात्मक मंत्रके तात्पर्य स्वरूप श्रीराधाकृष्ण-तत्त्वको बीचमें रखकर उनकी अनुगत स्वरूपशक्ति द्वारा प्रकटित कायव्यूहसमूह (गोपियाँ) अवस्थित हैं। यहाँ बीज स्वरूप श्रीराधाकृष्ण युगल हैं। गोपालतापनीमें कहा है—'तस्मादोङ्कार-सम्भूतो गोपालो-विश्व सम्भवः। क्लीमोङ्कारस्य चैकत्वं पठ्यते ब्रह्मवादिभिः॥ अर्थात् 'ॐकार'का अर्थ शक्ति-शक्तिमान मिलित पूर्णतत्त्व गोपाल हैं—उन्हींसे विश्वका उद्भव हुआ है। ब्रह्मवादिगण क्लीं और ॐकारको एक मानकर पाठ करते हैं। अतः ॐकार ही गोपाल हैं तथा क्लीं शब्द भी ॐकार है। अतएव यह कामबीज राधाकृष्णका तत्त्ववाचक है॥३-४॥

श्लोक ५

चतुरस्रं तत्परितः श्वेतद्वीपाख्यमद्भुतम्।
चतुरस्रं चतुर्मूर्त्तेश्चतुर्द्धाम चतुष्कृतम्॥
चतुर्भिः पुरुषार्थैश्च चतुर्भिर्हेतुभिर्वृतम्।
शूलैर्दशभिरानद्धमूर्द्धाधो दिग्विदिक्ष्वपि॥
अष्टभिर्निधिभिर्जुष्टमष्टभिः सिद्धिभिस्तथा।
मनुरूपैश्च दशभिर्दिक्पालैः परितो वृतम्॥
श्यामैर्गौरैश्च रक्तैश्च शुक्लैश्च पार्षदर्षभैः।
शोभितं शक्तिभिस्ताभिरद्भुताभिः समन्ततः॥५॥

अन्वय—तत्परितः (उस गोकुलके बाहर चारों ओर) श्वेतद्वीपाख्यम् (श्वेतद्वीप-नामके) अद्भुतम् (अद्भुत) चतुरस्रं (चतुष्कोण स्थान है); चतुरस्रं (चतुष्कोण स्थान) चतुर्मूर्त्तेः (श्रीवासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामके चतुर्व्यूहके रूपमें) चतुष्कृतम् (चार भागोंमें विभक्त है) चतुर्द्धाम (चारों धाम) चतुर्भिः पुरुषार्थैः (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार पुरुषार्थोंके) चतुर्भिः हेतुभिः च (साधनकारी मन्त्रात्मक ऋक्, साम, यजु और अथर्व रूप चारों वेदोंके द्वारा) वृतम् (आच्छादित है) उर्द्धाधः दिक् विदिक्षु अपि (पुनः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ईशान, अग्नि, नैॠत, वायु, उर्द्ध और अधः—इन दशदिशाओंमें दस शूलोंके द्वारा) अनद्धं (आबद्ध अर्थात् घिरे हुए हैं) अष्टभिः निधिभिः (आठ दिशाओंमें—महापद्म, पद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द और नील—इन आठ रत्नोंके द्वारा) तथा अष्टभिः सिद्धिभिः (तथा उसी प्रकार अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, ईशित्व, वशित्व, प्राप्ति और प्राकाम्य-रूप अष्ट सिद्धियोंके द्वारा) जुष्टम् (सेवित) मनुरूपैश्च (और मन्त्रात्मक) दशभिः दिक् पालैः (इन्द्रादि दश दिक्पालोंके द्वारा) परितः (दश दिशाओंमें) वृतम् (सुरक्षित है) श्यामैः गौरैः रक्तैः शुक्लैः च पार्षदर्षभैः (श्यामवर्ण, गौरवर्ण, रक्तवर्ण और शुक्लवर्ण वाले श्रेष्ठ पार्षदोंके द्वारा) ताभिः अद्भुताभिः शक्तिभिः (और विमला आदि अद्भुत शक्तियोंके द्वारा) समन्ततः (समस्त दिशाओंमें) शोभितं (वह श्वेतद्वीप धाम शोभित हो रहा है॥५॥

अनुवाद—उक्त गोकुलकी आवरण-भूमिका परिचय दिया जा रहा है। गोकुलके बाहर अवस्थित चारों ओर श्वेतद्वीप नामका अद्भुत चतुष्कोण युक्त स्थान है। श्वेतद्वीप—चार खण्डोंमें चारों ओरसे विभक्त है। उसके एक-एक

भागमें वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धका धाम है। उन चारों धामोंमें—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार पुरुषार्थ हैं और उन पुरुषार्थोंके हेतुस्वरूप मन्त्रमय ऋक्, यजु, साम और अथर्व—ये चारों वेद सुशोभित हैं। आठ दिशाएँ एवं उर्द्ध और अधः क्रमसे दस दिशाओंमें दस शूल निबद्ध हैं तथा आठों दिशाओंमें महापद्म, पद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द और नील—ये आठ रत्न हैं। मन्त्ररूपी दश दिक्पाल दश दिशाओंमें वर्तमान हैं। श्यामवर्ण, गौरवर्ण, रक्तवर्ण और शुक्लवर्णके पार्षदसमूह तथा विमला आदि अद्भुत शक्तियोंके समुदायसमूह समस्त दिशाओंमें शोभित हो रहे हैं॥५॥

टीका—अथ गोकुलावरणान्याह,—चतुरस्रमिति चतुर्भिः। तस्य गोकुलस्य बहिः सर्वतः 'चतुरस्रं' चतुष्कोणात्मकं स्थलं श्वेतद्वीपाख्यम्। तदेतदुपलक्षणं गोकुलाख्यञ्चेत्यर्थः। यद्यपि गोकुलेऽपि श्वेतद्वीपत्वमस्त्येव तदेवान्तरभूमिमयत्वात्, तथापि विशेषनाम्ना स्वातन्त्र्यत्वात्तेनैव तत् प्रतीयत इति तथोक्तम्। किन्तु चतुरस्रेऽप्यन्तर्मण्डलं वृन्दावनाख्यं ज्ञेयम्। तथा च स्वायम्भुवागमे—"ध्यायेत्तत्रविशुद्धात्मा इदं सर्वं क्रमेणैव" इत्यादिकमुक्त्वा तन्मध्ये "वृन्दावनं कुसुमितं नानावृक्षैर्विहङ्गमैः संस्मरेत्" इत्युक्तम्। तथा च वृहद्वामनपुराणे श्रीभगवति श्रुतीनां प्रार्थना-पूर्वकानि पद्यानि—"आनन्दरूपमिति यद्विदन्ति हि पुरा विदः। तद्रूपं दर्शयास्माकं यदि, देयो वरो हि नः॥ श्रुत्वैतद्दर्शयामास गोकुलं प्रकृतेः परम्। केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमध्वगम्। यत्र वृन्दावनं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः॥" इत्यादीनि। तच्च चतुरस्रं 'चतुर्मूर्त्तेः' चतुर्व्यूहस्य श्रीवासुदेवादिचतुष्टयस्य 'चतुष्कृतं' चतुर्द्धा विभक्तं 'चतुर्द्धाम' । किन्तु देवलीलत्वात्तदुपरि व्योमयानस्था एव ते ज्ञेयाः। 'हेतुभिः' तत्तत्पुरुषार्थसाधनैः 'मनुरूपैः' स्व-स्व-मन्त्रात्मकैरिन्द्रादिभिः सामादयश्चत्वारो वेदास्तैरित्यर्थः। 'शक्तिभिः' विमलादिभिर्गोलोकनामायं लोकः श्रीभागवते साधितः। तदेवं तस्य लोको वर्णितः; तथा च श्रीभागवते,—"नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम्। कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत्॥ ते चौत्सुक्यधियो राजन्मत्वा गोपास्तमीश्वरम्। अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः॥ इति स्वानाः स भगवान् विज्ञायाखिलदृक् स्वयम्। सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत्॥ जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्या-कामकर्म्मभिः। उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन्॥ इति संचिन्त्य भगवान्महाकारुणिको विभुः। दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्॥ सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्। यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥ ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः। ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोहध्यगात् पुरा॥

नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः। कृष्णञ्च तत्रच्छन्दोभिस्तूयानं सुविस्मिताः॥" इति,—'अतीन्द्रियम्' अदृष्टपूर्वं; 'स्वगतिं' स्वधाम; 'सूक्ष्मां' दुर्ज्ञेयां; 'उपाधास्यत्' उपधास्यति अस्मान् प्रापयिष्यतीत्यर्थः सङ्कल्पितवन्त इति शेषः। 'जनो'ऽसौ व्रजवासी मम स्वजनः,—"सालोक्यसार्ष्टि इत्यादिपद्ये "जनाः" इतिवदुभयत्राप्यन्यजनत्वमश्रुतमिति, व्रजजनस्य तु तदीयस्वजनतमत्वं तेन स्वयमेव विभावितं,—"तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्। गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः॥" इत्यनेन; स 'एतस्मिन्' प्रापञ्चिके लोके अविद्यादिभिर्या 'उच्चावचाः' देवतिर्य्यगादिरूपा गतयस्तासु 'स्वां गतिं' 'भ्रमन्' तन्मिश्रतयाभिव्यक्तेस्तन्निर्विशेषतया जानन् तामेव स्वां गतिं न वेदेत्यर्थः; मदीय–लौकिक–लीला–विशेषेण ज्ञानांश–तिरोधानादिति भावः;—"इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा। कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविदन् भववेदनाम्॥" इति दशमोक्तेरविद्या–कामकर्म्मणां तत्रासामर्थ्यात्। गोपानां 'स्वं लोकं' गोलोकम् अर्थात्तान् प्रत्येवं दर्शयामास 'तमसः' प्रकृतेः 'परं' स्वरूपशक्त्यभिव्यक्तत्वात्। ऋत एव सच्चिदानन्दरूप एवासौ लोक इत्याह,—सत्यमिति। अथ श्रीवृन्दावने च तादृश–दर्शनं कथमन्यदेशः स्थितानां तेषां जातमित्याह,—'ब्रह्महृदम्' अक्रूरतीर्थं कृष्णेन नीताः पुनश्च तेनैव 'मग्नाः' मज्जिताः पुनश्च तस्मात्तेनैव 'उद्धृताः' उद्धृत्य पुनः स्वस्थानं प्रापिताः सन्तो 'ब्रह्मणः' परम–बृहत्तमस्य तस्यैव लोकं गोकुलाख्यं ददृशुः,—"मूर्द्धभिःसत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः" इति द्वितीये वैकुण्ठान्तरस्यापि तत्तथाऽऽख्यातेः। कोऽसौ ब्रह्महृदस्तत्राह,—यत्रेति, तत्तीर्थमहिमानं लक्षमेव विधातुं सेयं परिपाटीति भावः। अत्र 'स्वां गतिम्' इति तदीयता–निर्द्देशः, 'गोपानां स्वं लोकम्' इतिषष्ठी–स्व–शब्दयोनिर्द्देशः, 'कृष्णम्' इति साक्षान्निर्द्देशश्च वैकुण्ठान्तरं व्यवच्छिद्य श्रीगोलोकमेव व्यवस्थापितवानिति। तथा च हरिवंशे शक्रवचनं—"स्वर्गादूर्द्ध्वं ब्रह्मलोको ब्रह्मर्षिगण सेवितः॥ तत्र सोमगतिश्चैव ज्योतिषाञ्च महात्मनाम्॥ तस्योपरि गवां लोकः साध्यास्तं पालयन्ति हि। स हि सर्वगतः कृष्णो महाकाशगतो महान्॥ उपर्य्युपरि तत्रापि गतिस्तत्र तपोमयी। यां न विद्मो वयं सर्वे पृच्छन्तोऽपि पितामहम्॥ गतिः शमदमाढ्यानां स्वर्गं सुकृतकर्म्मणाम्। ब्राह्मे तपसि युक्तानां ब्रह्मलोकः परा गतिः॥ गवामेव हि यो लोको दुरारोहा हि सा गतिः। स तु लोकस्त्वया कृष्ण सीदमानः कृतात्मना। धृतो धृतिमता वीर निघ्नतोपद्रवान् गवाम्॥ इति। अत्रापातप्रतीतार्थान्तरे 'स्वर्गादूर्द्ध्वं ब्रह्मलोकः' इत्युक्तं स्यात् 'लोकत्रयमतिक्रम्य' इत्युक्तेः 'तत्र सोमगतिश्चैव' इति न सम्भवति चन्द्रस्यान्येषामपि 'ज्योतिषां' ध्रुवलोकादधस्तादेव गतेस्तथा 'साध्यास्तं

पालयन्ति' इत्यपि नोपपद्यते; देवयोनिरूपाणां तेषां स्वर्गलोकस्यापि पालनमसम्भवं, किमुत तदुपरिलोकस्य सुरभिलोकस्य। तथा तस्य लोकस्य सुरभिलोकत्वे 'स हि सर्वगतः' इत्यनुपपन्नं स्यात्, श्रीभगवद्‌विग्रह–लोकयोरचिन्त्यशक्तित्वेन विभुत्वं घटेत, न पुनरन्यस्येति। अतएव सर्वातीतत्वात् 'तत्रापि तव गति' इति 'अपि'–शब्दो विस्मये प्रयुक्तः; 'यां न विद्मे वयं सर्वे' इत्यादिकञ्चोक्तम् तस्मात् प्राकृत–गोलोकादन्य एवासौ गोलोक इति सिद्धम्। तथा च मोक्षधर्म्मे नारायणीयोपाख्याने श्रीभगवद्वाक्यम्—"एवं बहुविधैरूपैश्चरामीह वसुन्धराम्। ब्रह्मलोकञ्च कौन्तेय गोलोकञ्च सनातनम्॥" इति तस्मादयमर्थः—'स्वर्ग–शब्देन, "भूर्लोकः कल्पितः पद्‌भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः। स्वर्लोकः कल्पितो मूर्द्ध्ना इति वा लोककल्पना॥" इति भागवते द्वितीयोक्तानुसारेण, स्वर्लोकमारभ्य सत्यलोकपर्य्यन्तं लोकपञ्चकमुच्यते। तस्मात् 'उर्द्धम्' उपरि 'ब्रह्मलोकः' ब्रह्मात्मको लोकः सच्चिदानन्दरूपत्वात्, ब्रह्मणो भगवतो लोकः इति वा,—"मूर्द्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातन" इति द्वितीयात्; टीका च—"ब्रह्मलोको वैकुण्ठाख्याः सनातनो नित्यः, न तु सृष्टिप्रपञ्चान्तर्वर्त्ती" इत्येषा; श्रुतिश्च—"एष ब्रह्मलोक एष आत्मलोकः" इति। स च 'ब्रह्मर्षिगण–सेवितः"—ब्रह्मणो मूर्त्तिमन्तो वेदाः, ऋषयः श्रीनारदादयः, गणाश्च श्रीगरुड़—विष्वक्सेनादयः, तैः सेवितः। एवं नित्याश्रितानुक्त्वा तद्‌गमनाधिकारिण आह,—'तत्र' ब्रह्मलोके, उमया सह वर्त्तते इति 'सोमः' श्रीशिवस्तस्य 'गतिः'—"स्वधर्म्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम्। अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं पदं यथाहं विवुधाः कलात्यये॥" इति चतुर्थे रुद्रगीतात्। सोमेति सुपां सुपलुगित्यादिना षष्ठीलुक् छान्दसः। तदुत्तरत्रापि गतिरित्यन्वयः। 'ज्योतिः' ब्रह्म, तदैकात्मभावानां मुक्तानामित्यर्थः; न तु तादृशानामपि सर्वेषां, किन्तु 'महात्मनां महाशयानां मोक्षानादरतया भजतां श्रीसनकादितुल्यानामित्यर्थः;—"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्ल्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥" इति षष्ठतः, "योगिनामपि सर्वेषां मदगतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥" इति गीताभ्यश्च तेष्वेव महत्त्वपर्य्यवसानात्। 'तस्य' ब्रह्मलोकस्य 'उपरि गवां लोकः श्रीगोलोक इत्यर्थः। तञ्च गोलोकं 'साध्याः' प्रापञ्चिकदेवानां प्रसादनीया मूलरूपा नित्य–तदीय–देवगणाः 'पालयन्ति' दिक्‌पालरूपतया वर्त्तन्ते,—"ते ह नाकं महिमानः सचन्तस्तत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" इति श्रुतेः, "तत्र पूर्वे ये च साध्या विश्वे देवाः सनातनाः। ते ह नाकं महिमानं सचन्तः शुभदर्शनाः॥"—इति महावैकुण्ठ–वर्णने पाद्मोत्तरखण्डाच्च; यद्वा;

"तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेऽपि" इति श्रीब्रह्मस्तवानुसारेण तद्विध—परमभक्तानामपि साध्याः तादृशसिद्धिप्राप्तये प्रसादनीया श्रीगोपगोपी प्रभृतयस्तं पालयन्ति। तदेवं सर्वोपरि गतत्वेऽपि 'हि' प्रसिद्धौ, 'स' श्रीगोलोकः 'सर्वगतः' श्रीनारायण इव प्रापञ्चिका प्रापञ्चिकवस्तुव्यापकः। कैश्चित् क्रममुक्ति—व्यवस्थया तथा प्राप्यमाणोऽप्यसौ द्वितीयस्कन्धवर्णित—कमलासनदृष्ट—वैकुण्ठवत् श्रीव्रजवासिभिरत्रापि यस्माद्दृष्ट इति भावः। अतएव 'महान्' भगवद्रूप एव,—"महान्तं विभुमात्मानम्" इति श्रुतेः। अत्र हेतुः,—'महाकाशं' परमव्योमाख्यं ब्रह्म विशेषणलाभात्, 'आकाशस्तल्लिङ्गात्" इति न्यायसिद्धेश्च; 'तदगतः'—ब्रह्माकारोदयानन्तरमेव वैकुण्ठप्राप्तेर्यथाऽजामिलस्य। तदेवम् 'उपर्य्युपरि' सर्वोपर्य्यपिविराजमाने 'तत्र' श्रीगोलोकेऽपि 'तव गतिः' श्रीगोविन्दरूपेण क्रीड़ा वर्त्तत इत्यर्थः। अतएव सा गतिः साधारणी न भवति, किन्तु 'तपोमयी'—तपोऽत्रानवच्छिन्नैश्वर्य्यम्; सहस्रनामभाष्येऽपि—"परमं यो महत्तपः" इत्यत्र तथा व्याख्यातम्; "स तपोऽतप्यत" इति परमेश्वर—विषयक—श्रुतेः,—ऐश्वर्य्यं प्रकाशयदिति हि तत्रार्थः। अतएव ब्रह्मादिभिर्दुवितर्कत्वमाह,—यामिति। अधुना तस्य गोकुल इत्याख्या बीजमभिव्यञ्जयति,—गतिरिति। 'ब्राह्मे' ब्रह्मलोकप्रापके 'तपसि' श्रीकृष्णविषयक—मनःप्रणिधाने 'युक्तानां' रतचित्तानां तदेकप्रेमभक्तानामित्यर्थः—"यस्य ज्ञानमयं तपः" इति श्रुतेः। 'ब्रह्मलोकः' वैकुण्ठलोकः, 'परा' प्रकृत्यतीता। 'गवां' व्रजवासिमात्राणां—"मोचयन् व्रजगवां दिनतापम्" इति श्रीदशमात्,—तेषां स्वतस्तद्भावितानाञ्च साधनवशादित्यर्थः। अतस्तद्भावस्याप्यसुलभत्वाद् 'दूरारोहा' दुष्प्राप्यान्येषां तप आदिना। 'धृतः' रक्षितः श्रीगोवर्द्धनोद्धरणेऽपि तथा स चक्षुषामेव लोकः प्रदृष्टः। "ता वां वास्तून्युश्मसि गोमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्ग्या अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य कृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥" इति; व्याख्यातञ्च,—'ता' तानि 'वां' युवयोः कृष्णरामयोः, 'वास्तूनि' लीलास्थानानि 'गोमध्यै' प्राप्तुम् 'उश्मसि' कामयामहे। तानि किम्विशिष्टानि?—'यत्र येषु 'भूरिशृङ्गाः' महाशृङ्गाः गावो वसन्ति; यथोपनिषदि—भूरिवाक्ये धर्मपरेण भूरिशब्देन महिष्ठमेवोच्यते, न तु बहुतरमिति बहुशुभलक्षण इति वा। 'अयासः' शुभाः—"अयः शुभावहो विधिः" इत्यमरः, 'देवासः' इतिवत् युषन्तपदमिदम्। वृक्षः सर्वकामदुघस्येति। 'अत्र' भूमौ तल्लोको वेदे प्रसिद्धः श्रीगोलोकाख्यः। 'उरुगायस्य' स्वयं भगवतः 'पदं' स्थानं 'भूरि' बहुधा अवभाति इति 'आह' वेद इति; यथा यजुःसु माध्यन्दिनीये स्तूयते,—"धामान्युश्मसीति इति विष्णोः परमं पदमवभाति भूरि" इति चात्र प्रकरणान्तरं पठन्ति। शेषं समानम्॥५॥

टीकानुवाद—अनन्तर गोकुलके आवरणका वर्णन चार श्लोकोंमें किया जा रहा है। उस गोकुलके बाहर चतुष्कोणात्मक श्वेतद्वीप नामक एक परम अद्भुत धाम है। यद्यपि यहाँ केवल श्वेतद्वीपका ही उल्लेख है, तथापि उससे गोलोकको भी समझना चाहिए। वस्तुतः गोकुलकी ही संज्ञा श्वेतद्वीप है। उसीके अन्तर्गत ये सब स्थान हैं। फिर भी एक विशेष नामके कथनसे उसके अन्तर्गत सभी स्थानोंका भी बोध होता है। अन्तर्मण्डलकी संज्ञा वृन्दावन है; उसीके लिए श्वेतद्वीप, गोलोक, गोकुल, वृन्दावन, व्रज प्रभृति नामोंका उल्लेख भिन्न-भिन्न तात्पर्य हेतु होता रहता है। यह श्वेतद्वीप गोकुलस्थित श्वेतद्वीपसे भिन्न है। इसलिए इसको स्वतन्त्ररूपसे दिखाया गया है। परन्तु चतुरस्र मण्डलके अन्तर्गत वृन्दावन धाम है।

जैसे स्वायम्भुव आगममें कहा है—

ध्यायेत्तत्र विशुद्धात्मा इदं सर्वं क्रमेणैव—विशुद्ध चित्तवाले साधक इन सबका ध्यान क्रमानुसार करेंगे। ऐसा कहकर पुनः कहते हैं—'वृन्दावनं कुसुमितं नानावृक्षैर्विहङ्गमैः संस्मरेत्—अर्थात् नाना प्रकारके वृक्षों तथा लताओंके सुगन्धित पुष्पोंसे कुसुमित विहङ्गमोंके सुमधुर कलरवोंसे सुशोभित तथा मनोरम निकुंजोंसे युक्त श्रीवृन्दावनका स्मरण और ध्यान करें।

इसी प्रकार श्रीवामन पुराणमें भी श्रीभगवान्‌के प्रति श्रुतियोंकी प्रार्थनामें कहा गया है—

आनन्दरूपमिति यद्विदन्ति हि पुराविदः।
तद्रूपं दशर्यास्माकं यदि देयो वरो हि नः॥
श्रुत्वैतद्दर्शयामास गोकुलं प्रकृतेः परम्।
केवलानुभवानन्दमात्रमक्षर मध्यगम्॥
यत्र वृन्दावनं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः॥

अर्थात् हे भगवन्! यदि हमें वर देना ही चाहते हैं तो यही वर दीजिए कि पुराविद मुनिगण जिसको आनन्दमय धाम कहते हैं, उस धामका हमें दर्शन करायें। यह सुनकर भगवान्‌ने प्रकृतिसे अतीत केवल अनुभव-मात्रैक-वेद्य, अविनाशी, अद्वय-स्वरूप अपने परम धाम गोकुलका दर्शन कराया। उस धाममें भक्तजनोंकी सम्पूर्ण अभिलाषाओंको पूर्ण करने वाले कल्पवृक्षोंसे सुशोभित सुरम्य वृन्दावन नामक वन है। इस वृन्दावनसे बाहर चार भागोंमें विभक्त एक चतुष्कोण है; उसके उन चारों विभागोंमें चतुर्व्यूहकी चारों मूर्त्तियों—श्रीवासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धके

पृथक्–पृथक् धाम हैं। किन्तु देवलील होनेके कारण ऊपरमें व्योमयानमें स्थित हैं। हेतुओं अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके साथ विराजमान रहते हैं, अपने–अपने मंत्रात्मक इन्द्रादि दश–दिक्पालोंसे सुशोभित हैं। वहाँ ऋक्, साम, यजु और अथर्ववेद भी मूर्त्तिमान रूपमें विराजमान हैं। वेदोंकी भी अपनी–अपनी मूर्त्तियाँ हैं; श्रीमद्भागवतके अनुसार उन्होंने श्रीकृष्णकी स्तुति की है। वहाँ भगवान् श्रीहरि विमला देवी आदि सोलह शक्तियोंके साथ विराजमान हैं।

सोलह शक्तियाँ—(१) श्री, (२) भू, (३) लीला, (४) कान्ति, (५) कीर्त्ति, (६) तुष्टि, (७) गी, (८) पुष्टि, (९) सत्या, (१०) ज्ञानाज्ञाना, (११) जया उत्कर्षिणी, (१२) विमला, (१३) योगमाया, (१४) प्रह्वी, (१५) ईशाना और (१६) अनुग्रह। (लघु भागवतामृत ६४ संख्या)

श्रीर्भूकीर्त्तिरिला लीला कान्तिर्विधेति सप्तकम् ।
विमलाघा नवेह्येता मुख्याः षोडश शक्तयः ॥

(चै. च. म.)

इस प्रकार इस लोकको गोलोक धाम भी कहा जाता है। श्रीमद्भागवतमें इसका वर्णन पाया जाता है—

नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम् ।
. . . .
कृष्णञ्च तत्र छन्दोभि स्तुयमानं सुविस्मिताः ॥

नन्द महाराज जब वे वरुणलोकसे व्रजमें लौटे, तब उन्होंने वरुणलोकमें घटित श्रीकृष्णके अद्भुत अलौकिक महिमायुक्त वृत्तान्तको अपने स्वजनों तथा बन्धु–बान्धव और गोपोंको सुनाया। वे लोग भी उस अलौकिक वृत्तान्तको सुनकर बड़े ही उत्कण्ठित और विस्मित हुए। श्रीकृष्णको परमेश्वर समझकर उनसे उनके अतिशय दुर्ज्ञेय परम धामको दर्शन करानेके लिए प्रार्थना करने लगे।

तब सर्वदर्शी स्वयं–भगवान् गोपोंका ऐसा मनोभाव समझकर उनके अभीष्टकी प्राप्तिके लिए कृपा परवश ऐसी चिन्ता करने लगे—ये सब व्रजवासी मेरे निजजन हैं। ये लोग प्रपञ्च जगत्में अवतीर्ण होकर मदीय माधुर्य लीलामें आविष्ट रहनेके कारण अविद्याजनित काम्य–कर्मोंके फलसे जो देव–तिर्यगादि उच्च–नीच योनियोंमें जन्म होता है, ऐसी योनियोंमें पड़े हुए बद्ध जीवोंके साथ अपनेको समान मानकर, अपनी स्थितिके विषयमें

नहीं समझ रहे हैं। ऐसा सोचकर परम करुणामय भगवान् श्रीकृष्णने गोपोंको प्रकृतिसे अतीत अपने लोकका दर्शन कराया।

भगवान्‌का वह लोक चिन्मय, अपरिच्छिन्न, सत्य, स्वप्रकाश, नित्य एवं ब्रह्म-स्वरूप है। उस स्थानको निर्गुण भाव प्राप्त मुनिगण समाधि-दशामें दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं। श्रीकृष्ण उन गोपोंको ब्रह्म-ह्रद नामक स्थान पर ले गये, जहाँ पहले अक्रूरने डुबकी लगाकर ब्रह्म-स्वरूप उक्त धामका दर्शन किया था। वहाँ श्रीकृष्णके निर्देशानुसार नन्दादि गोपोंने उस ब्रह्म-ह्रदमें डुबकी लगाकर उस परम धामका दर्शन किया। उन्होंने वहाँ श्रीकृष्णको भी देखा; मूर्त्तिमान वेदसमूह उनकी स्तुति कर रहे थे। वह लोक अतीन्द्रिय, अतिसूक्ष्म और दुर्विज्ञेय था। यह देखकर वे लोग अतिशय विस्मित हुए तथा परमानन्दमें विभोर हो गये।

अतीन्द्रिय अर्थात् अदृष्ट पूर्व—जो पहले कभी देखा नहीं गया हो। स्वगतिं अर्थात् अपने धामको, जो अतिशय दुर्ज्ञेय है। उस दुर्ज्ञेय धामका दर्शन कराया।

क्यों इस धामका दर्शन कराया? क्योंकि ये ब्रजवासीजन श्रीकृष्णके अपने निजजन हैं। 'सालोक्य सार्ष्टिसामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः'—इस श्लोकमें जिस प्रकार 'जनाः'-शब्दसे निजजनका बोध होता है, उसी प्रकार प्रस्तुत स्थलमें 'जन'-शब्द भी निजजनका बोधक है; अन्यान्य लोगोंका बोध यहाँ अप्रासङ्गिक है। ब्रजजन श्रीकृष्णके सर्वोपरि सर्वोत्तम स्वजन हैं। स्वयं श्रीकृष्णका यह कथन है—

तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः॥

यह गोष्ठ मेरी शरणमें है, मैं इन ब्रजवासियोंका नाथ हूँ, मेरे द्वारा परिगृहीत इन आत्मीय-स्वजन, बन्धु-बान्धव आदिका मैं अपनी शक्ति—बल वीर्यसे पालन करता हूँ। यही मेरा व्रत नियम है।

इस प्रापञ्चिक जगत्‌में जीव जैसे अविद्या आदिके द्वारा उच्च-नीच योनियोंमें देव-तिर्यगादि विविध गतिको प्राप्त करते हैं, वैसे ब्रजवासीजन अपनेको उन्हींके समान मानकर अपनी स्थितिके विषयमें नहीं जान सके। वे अपने स्वरूपको भूल गये। इसका कारण यह है कि मदीय माधुर्यमय लीलाविशेषमें आविष्ट रहनेसे उनका—ऐश्वर्यज्ञानका अंश तिरोहित हो गया है।

जैसे दशम स्कन्धमें कहा है—

इति नन्दादयो गोपाः कृष्णराम—कथां मुदा ।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविदन् भववेदनाम् ॥

नन्द महाराज आदि ब्रजवासीजन परम आनन्दमें विभोर होकर राम–कृष्णकी कथाचर्चामें सर्वदा रमण करते थे, राम एवं कृष्णकी कथामें उनको भववेदनाका कभी भी अनुभव नहीं होता था। अविद्या, काम–कर्म आदि उन ब्रजवासियोंको कभी स्पर्श नहीं कर सका। अविद्याका प्रभाव प्राकृत, बहिर्मुख जीवों पर होता है, भगवत्–परिकरों पर नहीं होता है।

यहाँ 'गोपानां स्वं लोकं'—इस कथनसे यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्णने ब्रजवासियोंको अपने गोलोक धामका ही दर्शन कराया था, जो धाम माया–प्रकृतिसे सर्वथा अतीत, स्वरूपशक्तिकी अभिव्यक्तिस्वरूप, अपरिच्छिन्न, स्वप्रकाश, नित्यसत्य—सच्चिदानन्दमय धाम है। इस धामका दर्शन नितान्त दुष्कर होने पर भी श्रीकृष्णने कृपा करके दर्शन कराया था।

श्रीवृन्दावन धाममें इस प्रकार गोलोकका दर्शन होना बड़े ही आश्चर्यकी बात है; परन्तु यह कैसे सम्भव हुआ? इसके उत्तरमें कहा गया है कि श्रीकृष्णने उन नन्दादि ब्रजवासियोंको अक्रूर–तीर्थ—ब्रह्महृद पर ले गये और उन्हें ब्रह्महृदमें डुबकी लगानेका निर्देश दिया। उन्होंने हृदमें डुबकी लगायी और फिर श्रीकृष्णके कहनेसे कई बार डुबकी लगायी। कृष्णने प्रत्येक बार उन्हें एक–एक लोकका दर्शन कराया। अन्तमें उन्हें ब्रह्मधामका अर्थात् अपने बृहत्तम परमधाम गोलोकका दर्शन कराया।

श्रीमद्भागवत, द्वितीय स्कन्धमें भी ऐसा ही कहा गया है—'मूर्द्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोक सनातनः'—सत्यलोकके मस्तकके ऊपर सनातन ब्रह्मलोक है। यदि यह कहो कि अन्यान्य वैकुण्ठोंको (वैकुण्ठके विभागोंको) भी तो ब्रह्मलोक कहते हैं; यह ब्रह्मलोक कौन–सा ब्रह्मलोक है? इसीलिए कहते हैं—अक्रूरजीने ब्रह्महृदमें जिस ब्रह्मलोकका दर्शन किया था, वह परमधाम गोलोक ही उक्त ब्रह्मलोक है। तीर्थकी महिमाको लक्ष्य करके ही वहीं पर श्रीकृष्णने अपने परमधामका दर्शन कराया था।

(इस विषयमें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तीपादने उक्त श्लोककी टीकामें यह विचार व्यक्त किया है कि परम कारुणिक श्रीकृष्णने ब्रजवासियोंको नित्यास्पद वृन्दावनका सर्वोत्कर्ष महामाधुर्य अनुभव करानेके लिए गोपोंको पहले सायुज्य मुक्तिके स्थान—ब्रह्मलोकका दर्शन कराया, तत्पश्चात् उससे

श्रेष्ठ वैकुण्ठलोकका और उससे भी श्रेष्ठ गोलोक धामका दर्शन कराया। प्रकारान्तररूपसे उन ब्रजवासियोंको ब्रह्महृदरूपी सायुज्य मुक्तिमें निमज्जित कराकर अपनी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा वहाँसे उठाकर ब्रह्मका लोक—वैकुण्ठ धाम दर्शन कराया।)

इस प्रकार महाकरुणामय प्रभु अपने भक्तोंको महासर्वनाशकारी सायुज्यमुक्तिरूपी विपत्तिसे बचाकर वैकुण्ठ-सुखका आस्वादन कराते हैं। प्रेमशून्य ब्रह्मसुखके अनुभवकी अपेक्षा प्रेमपूर्ण वैकुण्ठ-सुखका अनुभव श्रेष्ठ है। उससे भी प्रेममय गोलोककी सुखानुभूति और भी श्रेष्ठ है। 'तं वैकुण्ठ लोकं दृष्ट्वा तु परमानन्द निवृताः। वैकुण्ठीय गोलोकस्य वृन्दावनस्य वृन्दावन साधर्म्यं दर्शनादिति भावः।' अर्थात् उन ब्रजवासियोंने जिस वैकुण्ठलोकका दर्शनकर परमानन्द लाभ किया, वह वैकुण्ठीय गोलोक है; क्योंकि वह वृन्दावनके साधर्म्यके कारण एक जैसा प्रतीत होता है, परन्तु वह एक नहीं है। जैसे एक करोड़पति व्यक्ति अपने धनके खो जाने पर अत्यन्त दुःखी हो जाता है; परन्तु किसी प्रकार खोये हुए धनको पुनः प्राप्त होने पर वह परमानन्दमें विभोर हो जाता है, उसी प्रकार ब्रजवासीजन ब्रह्मलोक और वैकुण्ठलोकमें अपने करोड़ों प्राणोंके द्वारा निर्मञ्छनीय मुखारविन्दवाले श्रीकृष्णको न देखकर विकल थे; वे वहाँ 'हमारा लाड़ला कृष्ण कहाँ है, कहाँ है—कहकर बड़े व्याकुल हो रहे थे। किन्तु गोलोकमें उपस्थित होकर वहाँ श्रीकृष्णको देखकर बोले—अहो! यही तो कृष्ण है, इस प्रकार अत्यन्त निकट पहुँचकर उन्होंने जो कुछ देखा, उसे देखकर वे अतिशय विस्मित हुए। अहो! हम लोग कहाँ आ गये? यहाँ तो ज्योतिर्मय अलौकिक पुरुष इसकी स्तव-स्तुति कर रहे हैं। ये लोग हमारे पुराने परिचित जैसे लग रहे हैं परन्तु कौन हैं, स्मरण नहीं हो रहा है। इनसे पूछनेमें भी संकोच लग रहा है। बड़ी आश्चर्यमयी बात तो यह है कि इनके बीचमें अवस्थित कृष्ण हम पितृवर्गको देखकर भी पूर्ववत् बालभावको प्रकट कर न तो हमारे निकट आ रहा है और न अपनी भुजाओंके द्वारा हमारे गलदेशको धारण कर रहा है। और तो क्या हमें भी उसके निकट जानेमें तथा गोदमें लेनेके लिए संकोच हो रहा है। क्या आज उसे भूख-प्यास नहीं लग रही? इसे खिलाये बिना इसकी मैया कैसे जीयेगी? ऐसा देखकर श्रीकृष्णने उन खिन्न व्रजवासियोंको अपनी लीलाशक्तिसे प्रेरित योगमाया द्वारा उस गोलोक धामसे उठाकर पुनः वृन्दावनमें पहुँचा दिया। (श्रीमद्भागवत १०/२८/१६-१७) और हरिवंशमें इन्द्रका कथन है—

'स्वर्गादूर्द्ध्वं ब्रह्मलोको ब्रह्मर्षिगण सेवितः। तत्र सोमगतिश्चैव ज्येतिषाञ्च महात्मनाम्। निध्नतोपद्रवान् गवाम्॥' इति।

स्वर्गके ऊपरी भागमें ब्रह्मर्षिगणके द्वारा सेवित ब्रह्मलोक है,—वहाँ चन्द्र और प्रभावशाली महात्माओंकी गति है। उसके ऊपरमें गौओंका लोक—गोलोक है, उसका पालन साध्य जनगण करते हैं। वह लोक सर्वगत् है, महान् आकाशमें अवस्थित है, महान् है। उससे भी ऊपर तुम्हारी (श्रीकृष्णकी) तपोमयी गति मानी जाती है। इस तपोमयी गतिके विषयमें पितामहसे पूछकर भी हम लोग उसे जाननेमें असमर्थ रहे। पुण्यकर्म-परायण शम-दमादि गुणसे युक्त व्यक्ति स्वर्गलोकको प्राप्त होते हैं; ब्रह्मकी तपस्यामें निरत ब्रह्मवादीगण ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं। किन्तु गायोंका लोक—गोलोक अतिशय दुरारोह है। हे सर्वसामर्थ्यवान श्रीकृष्ण यह लोक संकटग्रस्त होने पर कृतात्मा धृतिमान आपने इसको धारण किया और गायोंकी विपत्ति दूर की। यहाँ आपात प्रतीति रूप (साधारण रूपमें प्रतीत होनेवाले) अर्थसे स्वर्ग लोकके ऊपर जो ब्रह्मलोकका वर्णन हुआ है—यह युक्तिसंगत नहीं लगता है। गंभीरतासे विचार करने पर वह ब्रह्मलोक तीनों लोकोंसे सर्वथा अतीत मालूम होता है। वहाँ तो सोम—चन्द्रकी गति ही संभव नहीं; फिर दूसरे ग्रहोंकी गति वहाँ कैसे संभव हो सकती है? क्योंकि ग्रहोंकी स्थिति तो ध्रुवलोकसे नीचे ही है और 'साध्या पालयन्ति' इसके द्वारा वह ब्रह्मलोक साध्यगणों द्वारा परिपालित होता है, यह जो कथन है—यह भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि ये साध्यगण देवयोनिके अन्तर्गत हैं। इसलिए जब वे स्वर्गलोकका ही पालन नहीं कर सकते, तब गोलोकका पालन कैसे कर सकेंगे—यह भी सर्वथा असंभव है।

और भी 'उक्त लोक सुरभिलोक नामसे प्रसिद्ध है, वह सर्वगत है'—यह कथन भी उपयुक्त नहीं जान पड़ता है। भगवद् विग्रहके समान श्रीभगवल्लोकका भी व्यापकत्व अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे सिद्ध है; भगवल्लोकसे इतर दूसरे लोकोंके लिए वैसा होना संभव नहीं है। यहाँ इन्द्रके कथन—'पृच्छन्तोऽपि'में 'अपि' शब्दका प्रयोग अति विस्मयको सूचित करनेके लिए किया गया है। अहो! बड़े आश्चर्यकी बात है कि हम लोग पितामहसे पूछकर भी उस लोकको नहीं जान सके। सुरभिलोकको ब्रह्माण्डके भीतर कहा गया है। अतः यह सर्वातीत और ब्रह्मस्वरूप भी नहीं है। अतः यह सुरभिलोक सर्वातीत, सर्वोत्तम

भगवल्लोकरूप गोलोकसे पृथक् लोक है। मोक्षधर्मीय नारायणीयोपाख्यानमें भी श्रीभगवान्ने स्वयं कहा है—

एवं बहुविधै रूपैश्चरामीह वसुन्धराम्।
ब्रह्मलोकञ्च कौन्तेय गोलोकञ्च सनातनम्॥

अर्थात् हे कौन्तेय! मैं इस वसुन्धरामें बहुविध रूपसे विचरण करता हूँ। इसके अतिरिक्त मेरे और भी सनातन ब्रह्मलोक तथा गोलोक वृन्दावन धाम हैं, जहाँ मैं नित्य विचरण करता हूँ। अतएव 'स्वर्गादूर्द्ध्वं ब्रह्मलोक निघ्नतोपद्रवान् गवाम्' श्लोकका वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

इसलिए यहाँ स्वर्ग शब्दसे भी गोलोक वृन्दावनको ही समझना होगा; भूलोक जिनका चरणकमल, भुवर्लोक नाभि और स्वर्गलोक जिनका मस्तक है, इस प्रकार विराट् स्वरूपकी कल्पना श्रीमद्भागवतके द्वितीय-स्कन्धमें उल्लिखित है। स्वर्गसे सत्यलोक तक पाँच लोक हैं—स्वर्ग, महः, जनः, तपः और सत्य। इन पाँच लोकोंके ऊपर मस्तक स्वरूप स्वर्ग—ब्रह्मात्मक स्वरूप ब्रह्मलोक है, वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। इसलिए वह जड़ प्रकृतिसे अतीत है। ब्रह्मलोक कहनेसे भगवान्का लोक समझा जाता है। द्वितीय स्कन्धमें भी—सत्यलोकके मस्तकपर सनातन ब्रह्मलोक है, ऐसा कहा गया है। अतः ब्रह्मलोक शब्दसे यहाँ नित्य सनातन वैकुण्ठ लोकको समझना चाहिए। यह सृष्ट जगत्के अन्तर्गत कोई प्रपञ्चमय स्थान नहीं है।

श्रुतिमें भी कहा गया है—यह ब्रह्मलोक ही आत्मलोक अर्थात् सनातन भगवान्का लोक है। यह ब्रह्मर्षियोंके द्वारा सेवित है—यह कहनेसे ब्रह्माजी, मूर्त्तिमान वेदसमूह, नारदादि ऋषिगण, श्रीगरुड़, विष्वक्शेन आदि परिकरों द्वारा सेवित हैं। इस प्रकार नित्य आश्रितोंका वर्णनकर वहाँ गमन करनेवालोंके अधिकारको बतला रहे हैं। जो विराजमान रहते हैं वे सोम, चन्द्र, नहीं हैं, वे सोम श्रीशिवजी हैं; इनकी गति वहाँ है। क्योंकि चतुर्थ स्कन्धमें रुद्रगीत प्रसङ्गमें स्वयं श्रीशिवजीने कहा है—जो व्यक्ति सौ जन्मोंतक निष्ठापूर्वक स्वधर्मका पालन करता है, वह ब्रह्माकी पदवी—ब्रह्मत्वको लाभ करता है, उससे भी अधिक पुण्य आचरण करने वाला व्यक्ति मेरे शिवत्व पदको प्राप्त कर सकता है, परन्तु जो जीव सामान्य मनुष्यकुलमें जन्म लेकर अति अल्प समयतक भी भगवान्की आराधना करता है, वह उस वैष्णव-पदवीको प्राप्त करता है—उस परम धामको प्राप्त करता है, जिसको हम इस शिवत्व पदको छोड़नेके पश्चात् पानेकी अभिलाषा करते हैं।

'ज्योतिः' का तात्पर्य ब्रह्मसे है। उस ब्रह्ममें जो लीन होना चाहते हैं, ऐसे ब्रह्मलीन सन्त–मुक्त पुरुषोंके लिए भी वह लोक अतिशय दुर्लभ है। वह धाम तो केवल उन महात्माओंको प्राप्त होता है, जो मोक्षका अनादरकर भगवान्‌का भजन करते हैं। जैसे सनकादि ऋषि तथा उस प्रकारके ज्ञानीपुरुष—जिनको प्रेमा भक्ति प्राप्त है। जैसे,

मुक्तनामपि सिद्धानां नारायण–परायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

षष्ठ स्कन्ध श्रीमद्‌भागवतमें कहा गया है—अनेकों मुक्तोंमेंसे एक सिद्ध होता है, ऐसे अनेकों सिद्धोंमेंसे कोई एक नारायण–परायण होता है और ऐसा प्रशान्तात्मा नारायण–परायण व्यक्ति करोड़ोंमें एक सुदुर्लभ होता है।

गीतामें भी भगवानने कहा है,—

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

सब योगियोंमें भी जो योगी श्रद्धाभावसे मेरे परायण होकर मुझ वासुदेवका भजन करते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ योगी हैं, यही मेरा निश्चित मत है।

इस प्रकार सुदृढ़ श्रद्धा—भक्तिपूर्वक भजन करनेवाले भक्तोंका ही महत्त्व देखा जाता है। 'महत्' शब्दका तात्पर्य ऐसे परम प्रेमी भक्तोंसे है, वे ही इस लोकको प्राप्त करते हैं।

ब्रह्मलोकके ऊपर 'गवाम् लोक'—गोलोक धाम है, वह साध्यगणोंके द्वारा परिसेवित कहा गया है। यहाँ साध्यगणका तात्पर्य प्रापञ्चिक देवताओंके मूलस्वरूपसे है, जो सदैव श्रीकृष्णके परिकर होकर, दिक्‌पालके रूपमें गोलोकमें सेवा करते हैं।

श्रुतिमें भी ऐसा ही पाया जाता है—वह महामहिम स्वर्ग–लोक है—जहाँ समस्त साध्यगण तथा देवतागण अवस्थान करते हैं। वह स्वर्गलोक—गोलोक धाम है, वहीं सारे देवगण अपने मूलरूपसे निवास करते हैं तथा भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा करते हैं।

इसी प्रकार पद्मपुराणके उत्तर खण्डमें महावैकुण्ठ—श्रीगोलोक धामके वर्णनके प्रसङ्गमें कहा गया है कि जहाँ अतिशय शोभायुक्त शुभदर्शन सनातन देवतागण, विश्वदेवगण तथा साध्यपुरुषगण रहते हैं, वह अतिशय महिमा सम्पन्न गोलोकधाम है।

श्रीमद्भागवतके ब्रह्म-स्तवमें भी श्रीगोकुलधाममें जन्म ग्रहणकी लालसा देखी जाती है—'तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपि' इति। श्रीचतुर्मुख ब्रह्मा जैसे महान् भक्तजन (साध्यगण) भी गोकुलमें किसी नगण्य वृक्ष-लताके रूपमें जन्म ग्रहणकर वहाँ गोप-गोपियोंकी चरणधूलि पानेके लिए प्रार्थना करते हैं। इसलिए सबसे ऊपर होनेसे वह प्रसिद्ध गोलोक धाम है। वह सर्वगत अर्थात् भगवान् नारायणकी भाँति सर्वव्यापी तथा सर्वत्र अवस्थित है। वह धाम साथ-ही-साथ प्रापञ्चिक और अप्रापञ्चिक समस्त जगतमें परिव्याप्त है। कहीं-कहीं क्रम-मुक्तिकी अवस्थामें भी अन्तमें उस लोककी प्राप्ति देखी जाती है।

द्वितीय-स्कन्धके वर्णनके अनुसार कमलासन ब्रह्माजीने जिस प्रकार वैकुण्ठ लोकका दर्शन किया था, उसी प्रकार व्रजवासियोंने भी ऐश्वर्य प्रधान गोलोकका दर्शन किया। अतएव यह गोलोक धाम महान है, भगवद्रूप है। श्रुति भी उस धामको 'महान्तं विभुमात्मानम्' कहती है।

इस कथनका यह हेतु है कि उक्त गोलोकके कई विशेषण पाये जाते हैं; जैसे—'महाकाश', 'परव्योम', 'ब्रह्म' आदि। इनमेंसे वेदान्त-सूत्रमें—'आकाशस्तलिङ्गात्'—इस सूत्रके द्वारा गोलोकको महाकाशके रूपमें वर्णित किया है।

'तद्गतः'—शब्दसे ब्रह्म-स्वरूप उस धामकी प्राप्तिका ही बोध होता है, जैसे अजामिलको भी तद्गत ब्रह्माकारोदयके अनन्तर ही वैकुण्ठकी प्राप्ति हुई थी। इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्का नाम, रूप, गुण, लीला तथा धाम सभी अप्राकृत हैं। इस अप्राकृत स्वरूपकी उपलब्धि होनेपर ही भगवद्धामकी प्राप्ति होती है।

अतः सब लोकोंके ऊपर विराजमान गोलोक धाममें तुम्हारी (श्रीकृष्णकी) गति है अर्थात् श्रीगोविन्द रूपमें आपकी क्रीड़ा होती रहती है। जहाँ गोविन्द रूपसे श्रीकृष्णका क्रीड़ाविलास देखा जाता है, वहाँकी गति कोई साधारण नहीं है। वह तो तपोमयी गति है। 'तपः' शब्दसे अनवच्छिन्न ऐश्वर्यको जानना होगा।

सहस्रनाम-भाष्यमें उल्लिखित 'परमं यो महत्तपः' में तप-शब्दका ऐसा ही अर्थ किया गया है। 'सतयोऽतप्यत'—यह परमेश्वर विषयक श्रुति है। इसका अर्थ इस प्रकार है—उन परमेश्वरने ऐश्वर्य प्रकट किया। अतएव ब्रह्माके लिए भी वह गोलोक धाम अत्यन्त दुर्लभ है।

उस लोकको कहीं-कहीं ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ, महानारायण लोक, परव्योम, महाकाश आदि नामोंसे वर्णन किया गया है। मूलतः ये सभी नाम गोलोकके ही हैं। जिस प्रकारके संयत मनसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है, उसी प्रकारके एकाग्र मनके द्वारा श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण)की आराधना करने वालोंको प्रेममय भक्त कहते हैं। ऐसे प्रेममय भक्त ही उस लोकको जान सकते हैं। श्रुति भी कहती है—'यस्य ज्ञानमयं तपः'। यहाँ 'ब्रह्मलोक' से वैकुण्ठलोक; 'परा'से प्रकृतिसे अतीत, तथा 'गवां'से व्रजमें वास करनेवाले वृक्ष, लता, गाय, गोप, गोपी सभीको समझना होगा। और भी 'निघ्नतोपद्रवं गवां'—से व्रजके रहनेवाले, सबका क्लेश दूर करनेवालेसे तात्पर्य है। उनका क्लेश क्या है? उसीको श्रीमद्भागवत युगलगीतमें कृष्ण-विरहिणी गोपियाँ कहती हैं— 'मोचयन् व्रजगवां दिनतापम्' अर्थात् व्रजमें रहनेवाली गौवोंके—हम सब व्रजवासियोंके दिनभरके असह्य विरह-तापको दूर करनेके लिए हमारे प्रियतम श्यामसुन्दर समीप आ रहे हैं। गौवोंकी विपत्तिको दूर करनेका यही तात्पर्य है। श्रीकृष्णके प्रति व्रजवासियोंकी प्रीति स्वाभाविक है; उनके भावोंसे अनुभावित होकर उनकी जैसी प्रीति प्राप्त करनेके लिए जब नैरन्तर्यमयी साधना होती है, तभी वह सुदुर्लभ व्रज-प्रीति प्राप्त होती है। अतः ऐसी गति अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकार गोलोकका वर्णन करनेके पश्चात् उससे (गोलोक) गोकुलके अभेदको बतला रहे हैं—'स तु' इति, उन्होंने गोवर्द्धन पर्वतको धारणकर व्रजवासियोंकी रक्षा की। ठीक ऐसा ही कथन मोक्ष-धर्मके श्रीनाराणीयोपाख्यानमें भी पाया जाता है। उसमें भगवान् स्वयं कहते हैं—हे कौन्तेय! इस प्रकार अनेक रूपोंमें मैं जगत्में विचरण करता हूँ। ब्रह्मलोक, सनातन गोलोक तथा श्रीधाम वृन्दावन-गोकुलमें भी विचरण करता हूँ। और भी मृत्युञ्जय-तन्त्रमें कहा गया है—एक समय स्वेच्छासे महाकाशसे वैकुण्ठको गोकुलके रूपमें पृथ्वीपर स्थापन कर गोपीमय महा-महोत्सवको (रासलीला आदि महोत्सव) सम्पन्न किया था। वह महामहोत्सव भक्ति-स्वरूप है और वह सज्जनोंको भक्ति प्रदान करता है।

इसी प्रकार नारद-पञ्चरात्रके विजयाख्यानमें भी कहा गया है—सभी धामोंके ऊपर गोलोक धाममें—गोकुलधाममें अतुलनीय नायक परमानन्दी गोविन्द सदैव विहार करते हैं। श्रुतिमें भी ऐसा ही कहा गया है—'तां वां वास्तून्युश्मसि गोमध्ये यत्र गावो भूरिशृंग्यो अयासः। तत्राह तदुरुगायस्य वृष्णाः परमं पदमवभाति भूरि।' अर्थात् तां=सब; वां=राम और कृष्णकी; वास्तुनि=गोकुलगत

लीला-स्थलियोंको; गोमध्ये=प्राप्त करना चाहता हूँ। वे लीलास्थलियाँ कैसी हैं? वहाँ बड़ी-बड़ी सींगोंवाली सुन्दर-सुन्दर गाँये हैं। यहाँ 'भूरि' शब्दसे केवल बड़ी-बड़ी शृङ्गवाली हैं, ऐसा नहीं; अपितु महा महिमासम्पन्न, सारे शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न गायें हैं। वे सभी कामधेनुएँ हैं। सबकी सारी अभिलाषाओंको पूर्ण करने वाली हैं। यहाँ 'अयासः शुभाः'—अर्थात् अयसःका अर्थ शुभसे है। देवासके समान युषन्त पद है, अतः भूमण्डलमें, वैकुण्ठमें और वेदोंमें यह गोलोक प्रसिद्ध है। श्रीउरुगाय—स्वयं भगवान्‌का प्रपंचातीत यह गोलोक धाम अनेक प्रकारसे सुप्रकाशित है।

यजुर्वेदके माध्यन्दिनीय श्रुतिमें भी ऐसा ही उल्लेख है—

'धामान्युश्मसीति इति विष्णोः परमं पदमवभाति भूरि' अर्थात् विष्णुके परमपद-स्वरूप उस गोलोक-धामकी हम कामना करते हैं। और शेष कथन एक समान है॥५॥

तात्पर्य—परम धाम गोकुल मुख्यरूपसे प्रेमभक्तिका पीठ या आश्रयस्थल है। अतएव उसमें भौम-ब्रजकी यमुना, गोवर्द्धन, राधाकुण्ड आदि समस्त स्थान विद्यमान हैं। उसके बाहर समस्त दिशाओंमें वैकुण्ठका सम्पूर्ण ऐश्वर्य विस्तृतरूपसे अवस्थित है। वहाँ चतुर्व्यूह-विलास आदि यथायथरूपमें विराजमान हैं। उसीको आदि चतुर्व्यूह कहा जाता है। उसी चतुर्व्यूहके अंशरूपमें वैकुण्ठके चतुर्व्यूह तथा उसीसे अनन्त वैकुण्ठ प्रकाशित हैं। वैकुण्ठमें मोक्ष तथा संसारमें उपलब्ध धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्ग—ये समस्त मूल बीजरूपमें उस गोकुल (गोलोक) में यथायथरूपसे अवस्थित हैं। वहाँ वेद भी मूर्त्तिमान होकर गोकुलनाथके गुण-कीर्त्तनमें तत्पर हैं।

श्रीकृष्णका अनुग्रह प्राप्त किये बिना जो लोग केवल अपनी चिन्ता-भावनाके द्वारा उस गोलोक धामको पानेका प्रयास करते हैं, उनका प्रयास व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि उस धामकी दशों-दिशाओंमें निराशारूपी दश शूल उनको वहाँ प्रवेश करनेसे रोक देते हैं। जो दाम्भिक व्यक्ति योगमार्ग या ज्ञानमार्गसे चलकर उस लोकको पानेका प्रयास करते हैं, उन्हें भी उन शूलोंके द्वारा विद्ध होकर लौटना पड़ता है। निर्वाणरूप मोक्ष—ब्रह्मधाममें ही उपयुक्त है; गोलोकमें नहीं। वही मोक्ष शूलरूपमें गोलोकका आवरण कहलाता है। शूल-शब्दका तात्पर्य त्रिशूलसे है। जड़ीय त्रिगुण और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान कालगत परिच्छेद ही त्रिशूल है।

इस प्रकार जो अष्टाङ्ग योगी या निर्भेद ब्रह्मज्ञानी गोलोककी ओर अग्रसर होनेकी अभिलाषा करते हैं, वे उक्त दश–दिशाओंमें स्थित त्रिशूलोंके द्वारा छिन्न–भिन्न होकर निराशारूपी गड्ढेमें गिर जाते हैं। जो ऐश्वर्य–भावमय भक्तिमार्ग पर चलकर गोलोककी ओर यात्रा करते हैं, वे उस पथमें कुछ दूर अग्रसर होकर अणिमादि अष्टसिद्धियों और महापद्म आदि निधियोंको देखकर आकर्षित हो जाते हैं तथा श्रीगोलोकके आवरण–स्वरूप वैकुण्ठमें ही रुक जाते हैं। जिनकी बुद्धि और भी स्थूल है, वे मन्त्ररूपी दश–दिक्पालोंके अधीन होकर ब्रह्माण्डके अन्तर्गत सातों लोकोंमें फिर लौट आते हैं।

इस प्रकार गोलोक धाम अति दुर्ज्ञेय तथा दुष्प्राप्य लोक है। केवलमात्र विशुद्ध प्रेमभक्तिके द्वारा ही वह सुलभ होता है। वहाँ युगधर्मके प्रचारक भगवान्‌के अवतार–समूह शुद्ध प्रेमभक्ति–पथ पर चलकर वहाँ पहुँचने वाले भक्तों पर कृपा करनेके लिए सदैव विराजमान रहते हैं। वे अपने–अपने वर्णादिके अनुरूप पार्षदोंके द्वारा परिवेष्टित रहते हैं। गोकुलमें वह श्वेतद्वीप ही उनका धाम है।

इसलिए व्यासावतार श्रीलवृन्दावनदास ठाकुरजीने उक्त श्वेतद्वीपका उल्लेख किया है—'श्वेतद्वीप नाम, नवद्वीप ग्राम'। उस श्वेतद्वीपके मध्यमें ही गोकुल–लीलाका परिशिष्ट नवद्वीप–धामकी लीला नित्य वर्त्तमान है। अतएव नवद्वीप–मण्डल, ब्रजमण्डल और गोलोक—एक ही अखण्ड तत्त्व है। केवल प्रेम–वैचित्र्यगत अनन्तभाव विशेष द्वारा प्रकाशित होकर विविध रूपोंमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इसमें और भी एक निगूढ़ तत्त्व है, जिससे परम प्रेमीभक्त महानुभवगण साक्षाद् रूपमें श्रीकृष्णकी कृपासे ही अवगत होते हैं। वह निगूढ़ तत्त्व यह है कि जड़ जगत्‌में उद्ध्र्व और अधः क्रमसे चौदह लोक हैं। सकाम कर्म–परायण गृहस्थगण भूः, भूवः, स्वः—इन तीन लोकोंमें आवागमन करते हैं। बृहद्व्रती ब्रह्मचारी, तापस और सत्यनिष्ठ शान्त–पुरुषगण निष्काम धर्मका याजन करते हुए महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक तक पहुँच पाते हैं। उसके ऊपरी भागमें चतुर्मुख ब्रह्माका लोक है और उसके ऊपर क्षीरोदशायी विष्णुका वैकुण्ठ लोक है। संन्यासी परमहंसगण तथा भगवान् श्रीहरिके द्वारा निहत दैत्यगण विरजाको पारकर अर्थात् चौदह लोकोंको पार करते हुए उसके ऊपर ज्योतिर्मय ब्रह्मधाममें आत्मसत्ताको विलुप्तकर निर्वाण प्राप्त करते हैं।

भगवान्‌के परम ऐश्वर्य-प्रिय ज्ञानीभक्त, शुद्धभक्त, प्रेमीभक्त, प्रेमपरभक्त और प्रेमातुर भक्तजन वैकुण्ठमें अर्थात् परव्योम नामक अप्राकृत नारायण-धाममें स्थिति प्राप्त करते हैं। केवल ब्रजके अनुगत परममाधुर्य परायण भक्तगण ही गोलोक धामको प्राप्त करते हैं। रसभेदके तारतम्यसे श्रीकृष्णकी अविचिन्त्य-शक्तिके प्रभावसे उक्त माधुर्यपर भक्तोंकी पृथक्-पृथक् स्थितियाँ होती हैं।

शुद्ध-ब्रजभावके अनुगत भक्तगण कृष्णलोकमें और शुद्ध नवद्वीप-भावके अनुगत भक्तगण गौरलोकमें अवस्थान करते हैं। ब्रजधाम और नवद्वीप-धाममें एकत्व भावपरायण भक्तगण कृष्णलोक और गौरलोक दोनों ही लोकोंमें साथ-ही-साथ निवासकर युगपत् (एक साथ दोनों जगह) सेवा-सुखको प्राप्त करते हैं। इसीलिए श्रीगोपालचम्पू-ग्रन्थमें श्रीजीव गोस्वामीपादने कहा है—

'यस्य खलु लोकस्य गोलोकस्तथा गो-गोपावासरूपस्य श्वेतद्वीपतया चानन्यस्पृष्टः परमशुद्धता-समुद्‌बुद्ध-स्वरूपस्य तादृश-ज्ञानमय-कतिपयमात्र प्रमेय-पात्रतया तत्तत्परमता मता, परम-गोलोकः परमः श्वेतद्वीप इति।'

अर्थात् उस परम लोकको 'गो-गोपावास हेतु' गोलोक कहा जाता है। यही श्रीकृष्ण स्वरूप रासलीलाका पीठ (प्रधान स्थान) है। पुनः उसी परम लोकको ही दूसरे प्रकारके भाववाले परिकरोंके स्पर्शसे रहित परम विशुद्धरूपमें प्रकटित, किसी अविचिन्त्य-स्वरूपके वैसे ही ज्ञानमय (भावमय) कतिपय विषय-स्वरूपके रसास्वादनका पीठरूप 'श्वेतद्वीप' कहा जा सकता है। इस प्रकार परम-गोलोक और परम-श्वेतद्वीप—ये दोनों ही स्वरूप अखण्डरूपमें गोलोक धाम हैं। इसका मूल-तात्पर्य यह है कि ब्रजलीलारूप कृष्णलीलाका आस्वादन करके भी रसका सम्पूर्ण रूपमें आस्वादनजनित सुख प्राप्त न होने पर कृष्ण-रसकी सर्वश्रेष्ठ आश्रय-रूपिणी श्रीराधिकाका हृदयगत-भाव और उनकी स्वर्णमय (गौर) कान्तिको अङ्गीकार करके व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण गोलोकके जिस प्रकोष्ठमें वैसी परिपूर्णतम आस्वादनमयी लीलाको नित्य प्रकटित रखते हैं; उसे श्वेतद्वीप कहते हैं। वह विशेष प्रकारका भाव इस प्रकार है—

'श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवास्वाद्यो
येनाद्भुत मधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यञ्चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभात्
तद् भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥'

अर्थात् श्रीराधाजीकी प्रणय महिमा कैसी है? मेरी अद्भुत मधुरिमा—जिसे श्रीराधाजी आस्वादन करती हैं, वह कैसी है? और मेरे माधुर्यका आस्वादन कर श्रीराधाजीको कौन-सा विशेष सुख अनुभूत होता है? इन तीन विषयोंका आस्वादन करनेके लिए श्रीकृष्णके मनमें लोभ उत्पन्न हुआ। इन्हीं कारणोंसे इन्होंने श्रीशचीमाताके गर्भमें जन्म लिया। इस प्रकार श्रीजीव गोस्वामीका पूर्वोक्त गूढ़ अभिप्राय इसमें प्रकाशित हुआ है। वेदमें भी कहा गया है—

'रहस्यं ते वदिस्यामि'—जाह्नवी तीरे नवद्वीपे गोलकाख्ये धाम्नि गोविन्दो द्विभुजो गौरः सर्वात्मा महापुरुषो महात्मा महायोगी त्रिगुणातीतः सत्त्वस्वरूपो भक्तिं लोके काश्यतीति। तदेते श्लोका भवन्ति,—एको देवः सर्वरूपी महात्मा गौर-रक्त-श्यामल-श्वेतरूपश्चैतन्यात्मा। स वै चैतन्यशक्तिर्भक्ताकारो भक्तिदो भक्तिवेद्यः।'

अर्थात् तुम्हें रहस्यकी बात कहता हूँ—सुनो! गोलोक नामक उस नवद्वीप धाममें जाह्नवीके तटपर द्विभुज, सर्वात्मा, महापुरुष, महात्मा, महायोगी, त्रिगुणातीत, शुद्धसत्त्वरूप गौर-गोविन्द संसारी जीवोंके उद्धारके लिए शुद्धा भक्तिका प्रकाश करते हैं। वे एक देव, सर्वरूपी, महात्मा एवं गौर, रक्त, श्याम और श्वेतरूपी युगावतार हैं। वे साक्षात् चैतन्य-स्वरूप, चिच्छक्ति-सम्पन्न, भक्तरूप, भक्तिदाता और भक्तिके द्वारा वेद्य हैं। 'आसन् वर्णास्त्रयः', 'कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं', यदा पश्यः पश्यति रुक्मवर्णं', 'महान् प्रभुर्वै' इत्यादि बहुतसे शास्त्र-प्रमाणोंके द्वारा प्रतिष्ठित श्रीगौरचन्द्र (श्रीचैतन्य महाप्रभु), श्रीकृष्णचन्द्रसे अभिन्न होकर भी श्रीगौरहरिके रूपमें नित्य नवद्वीपरूप गोलोकमें राधाकृष्ण-लीलाके रसास्वादनमें अति आविष्ट होकर विराजमान रहते हैं—उपरोक्त वेदमंत्रोंसे यही प्रतिपादित होता है। योगमायाके प्रभावसे श्रीकृष्णस्वरूपकी भौम-गोकुलमें जिस प्रकार जन्म, बाल्य, पौगण्ड और कैशोर लीलाएँ होती हैं, उसी प्रकार योगमायाके प्रभावसे ही श्रीगौर-स्वरूपकी, भौम-नवद्वीपमें शचीमाताके गर्भसे जन्म आदि लीलाएँ सम्पन्न होती हैं—यह स्वाधीन चिद्विज्ञान-तत्त्व है, मायाधीन-चिन्ता या मनगढ़न्त कल्पना नहीं है॥५॥

श्लोक ६

एवं ज्योतिर्म्मयो देवः सदानन्दः परात्परः।
आत्मारामस्य तस्यास्ति प्रकृत्या न समागमः॥६॥

अन्वय—एवं (ऐसे ऐश्वर्यशाली) देवः (गोकुलेश्वर श्रीगोविन्द देव) ज्योतिर्म्मयः (चिन्मय परमेश्वर) सदानन्दं (सदानन्द-स्वरूप) परात्परः (सर्वश्रेष्ठ ईश्वर), तस्य आत्मारामस्य (उन चिन्मय आत्म जगत्में रमणशील श्रीगोविन्दका) प्रकृत्या (जड़ा प्रकृति मायाके साथ) समागमः (सङ्ग अर्थात् मिलन) न अस्ति (नहीं होता है)॥६॥

अनुवाद—इस प्रकार देखा जाता है कि भगवान् गोकुलेश्वर ज्योतिर्मय देवता हैं एवं वे परात्पर तत्त्व तथा सदा आनन्दस्वरूप हैं। वे अपने निज नित्यधाममें स्वरूपशक्तिके साथ रमणपरायण हैं। उनका जड़ा प्रकृति—मायाके साथ कोई संस्पर्श नहीं होता है॥६॥

टीका—अथ मूलव्याख्यामनुसरामः। विराट्-तदन्तर्यामिनोरभेदविविक्षया पुरुषसूक्तादावेकपुरुषत्वं यथा निरूपितं, तथा गोलोक-तदधिष्ठात्रोरप्याह, —एवमिति। 'देवः' गोलोकस्तदधिष्ठातृ-श्रीगोविन्दरूपः। 'सदानन्दम्' इति तत्स्वरूपमित्यर्थः; नपुंसकत्वं—"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति श्रुतेः। 'आत्मारामस्य' अन्यनिरपेक्षस्य; 'प्रकृत्या' मायया न समागमः', यथोक्तं द्वितीये,—"न यत्र माया किमुतापरे" इति॥६॥

अनुवाद—अनन्तर हम मूल व्याख्याका अनुसरण करते हैं। वेदोंके पुरुषसूक्त आदि मन्त्रोंमें जैसे भगवान् श्रीकृष्णको विराट् पुरुषके साथ एक रूपमें निरूपण किया है, वैसे ही गोलोकके अधिष्ठातृ देवता भगवान् श्रीकृष्णके साथ सृष्टिकर्त्ता विष्णुका एक अभेद-रूपमें यहाँ वर्णन किया है। 'एवम्' आदि श्लोकके द्वारा।

'देव' कथनसे सदा प्रकाशमान, गोलोकके अधिष्ठातृ श्रीगोविन्ददेवका बोध होता है। सदैव लीला परायण होनके कारण वे देव हैं। पुनः उनकी लीला कहनेसे—श्रीकृष्णकी दो प्रकारकी लीलाएँ हैं—ऐश्वर्यमयी और माधुर्यमयी। श्रीमहाविष्णुकी लीला कहनेसे केवलमात्र एकपाद ऐश्वर्यमयी— जगत्-सृष्टि लीला है, जिससे समस्त चराचर विश्व उत्पन्न हुआ है।

'सदानन्दम्' कहनेसे—भगवान्का स्वरूप सच्चिदानन्दमय है। वे नित्य आनन्दमय पुरुषरूपमें अवस्थित हैं। पौरुष भावसे पुरुष ही उनका नित्य स्वरूप है। नपुंसक लिङ्गका प्रयोग 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'—इस श्रुतिके अनुसरणसे

हुआ है। भगवान् लीला–पुरुषोत्तम हैं। अतएव वे अपने पौरुष रूपको छोड़कर पुरुषत्वविहीन ब्रह्म–स्वरूप क्यों बनने जायेंगे? वे 'आत्माराम'—आत्मामें ही रमण करते हैं, उनको दूसरोंसे अपेक्षा नहीं रहती है, इसलिए वे अन्य निरपेक्ष हैं तथा सर्व–समर्थ हैं। फिर भी वे अपनी आत्मशक्ति ह्लादिनी शक्तिके साथ सदा लीला–परायण हैं। प्राकृत जड़ा मायाके साथ उनका कोई समागम—संस्पर्श नहीं है। जैसे, द्वितीय स्कन्धमें कहा गया है—'न यत्र माया किमुतापरे'—जहाँ मायाका प्रवेश नहीं है।

उस वैकुण्ठ धाममें रजः और तमोगुण नहीं है। रजः और तमो मिश्रित सत्त्व भी नहीं है। वहाँ शुद्ध सत्त्व वर्त्तमान है। उस लोकमें कालका विक्रम नहीं है, तब दूसरे राग द्वेष आदिकी बात ही क्या? वहाँ लौकिक सुख–दुःख आदिकी कारणस्वरूपा मायाका भी प्रवेश नहीं है। वहाँ सुरासुर–वन्दित भगवान्के पार्षदगण सदैव विराजमान रहते हैं।

तात्पर्य—उन गोकुलेश्वर श्रीकृष्णकी एकमात्र पराशक्ति या अन्तरङ्गा–शक्तिने स्वयं चित्–शक्तिके रूपमें गोलोक या गोकुल–लीलाको प्रकाशित किया है। उनकी कृपासे तटस्थ–शक्तिगत जीव भी उस लीलामें प्रवेश कर सकते हैं। उस चिच्छक्तिकी छायारूपी अपरा बहिरङ्गा मायाशक्ति—गोलोकके आवरण–स्वरूप महावैकुण्ठकी अंतिम सीमा ब्रह्मधाम और उसके पश्चात् विरजा नदीके भी उस पार अवस्थित होती है। इस प्रकार वह बहिरङ्गा माया विशुद्ध सच्चिदानन्द–स्वरूप श्रीकृष्णका साक्षात् संग प्राप्त नहीं कर पाती; इनका संग पानेकी बात तो दूर रहे, उनके दृष्टिपथमें आनेमें भी लज्जाका बोध करती है।॥६॥

श्लोक ७

माययाऽरममाणस्य न वियोगस्तया सह।
आत्मना रमया रेमे त्यक्तकालं सिसृक्षया॥७॥

अन्वय—मायया (बहिरङ्गा प्रकृति मायाके साथ) अरममाणस्य (साक्षात् रूपसे रमण या मिलन रहित गोविन्दका किन्तु) तया सह (उस मायाके साथ) वियोगः न (सम्पूर्ण रूपसे वियोग या विच्छेद भी नहीं है) आत्मना रमया रेमे (क्योंकि अपनी अन्तरङ्गा स्वरूप शक्तिके साथ रमणशील रहने पर भी) सिसृक्षया (प्रपञ्च जगत् सृष्टि करनेकी इच्छासे) त्यक्तकालं (कालशक्ति प्रेरण रूप ईक्षणके द्वारा गौण रूपसे रमण करते हैं)॥७॥

अनुवाद—महाविष्णु—बहिरङ्गा मायाके साथ कभी रमण नहीं करते हैं, फिर भी उस परमतत्त्वके साथ इस मायाका सम्पूर्ण रूपसे वियोग या विच्छेद नहीं कहा जा सकता है। वे आत्मशक्ति रमादेवीके साथ रमण करते हैं। जब-जब विश्व-सृष्टिकी इच्छा करते हैं, तब-तब भगवान् अपनी काल शक्तिको प्रेरित कर जड़ मायाके प्रति ईक्षण अर्थात् दृष्टि डालते हैं॥७॥

टीका—अथ प्रपञ्चात्मनस्तदंश्यस्य पुरुषस्य तु न तादृशत्वमित्याह,—माययेति प्राकृतप्रलयेऽपि तस्मिंस्तस्या लयात् "यस्यांशांशांशभागेन" इत्यादेः ननु तर्हि जीववत्तल्लिप्तत्वेनानीश्वरत्वं स्यात्? तत्राह,—आत्मनेति। स तु 'आत्मना' अन्तर्वर्त्त्या तु 'रमया' स्वरूपशक्त्यैव 'रेमे' रतिं प्राप्नोति, बहिरेव मायया सेव्य इत्यर्थः;—"एष प्रपन्न-वरदो रमयात्मशक्त्या यदयत् करिष्यति गृहीतगुणावतारः" इति तृतीये ब्रह्मस्तवात्; "मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि" इति प्रथमे श्रीमदर्ज्जुनवाक्याच्च। तर्हि तत्प्रेरणं विना कथं सृष्टिः स्यात्? तत्राह,—'सिसृक्षया' स्रष्टुमिच्छया 'त्यक्तः' सृष्ट्यर्थं प्रहितः 'कालः' यस्मात् तादृशं यथा स्यात्तथा रेमे। प्रथमान्तपाठस्तु सुगमः। तत्प्रभारूपेण तेनैव सा सिध्यतीति भावः;—'प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम्" इति, 'कालवृत्त्या तु 'मायायां गुणमय्यामधोक्षजः। पुरुषेणात्मभूतेन वीर्य्यमाधत्त वीर्य्यवान्॥' इति च तृतीयात्॥७॥

अनुवाद—विश्व-सृष्टि करना स्वयं भगवान्का कार्य नहीं है। वह उनके अंशके अंश-स्वरूप पुरुषावतारका कार्य है। उनका वह कार्य अचित् मायाके साथ साक्षात् सम्बन्धसे नहीं; बल्कि गौण सम्बन्धसे है। भगवान्का साक्षात् सम्बन्ध अपनी आत्मशक्ति रमादेवीसे है। बहिरंगा माया चिरस्थायी नहीं है क्योंकि प्राकृत प्रलयके समय वह पुरुषावतारमें विलीन हो जाती है। इस मायाके साथ पुरुषावतारका जो सम्पर्क है, वह भी कालशक्तिके द्वारा प्रेरणा देकर सृष्टि आदि कार्यको करवाना है। अतः उनके इस कार्यसे मायाके साथ साक्षात् सम्पर्क नहीं है; केवलमात्र गौण सम्पर्क है। क्योंकि शास्त्रमें ऐसा उल्लेख है—'यस्यांशांशांशभागेन' अर्थात् जिनके अंशके अंशके अंश पुरुषावतारके द्वारा प्राकृत जगत्की सृष्टि, स्थिति और लय आदि होता है।

इसमें कोई ऐसी शंका करें कि जीव जैसे मायामें आसक्त होता है वैसे क्या भगवान् भी मायामें लिप्त होकर अनीश्वर हो जाते हैं। इस शंकाके समाधानमें कहा है कि 'आत्मना रमया रेमे' अर्थात् भगवान् अपनी आत्ममाया

स्वरूपशक्ति रमादेवीके साथ रमण करते हैं। इसलिए भगवान् कर्मफल बाध्य जीवोंकी भाँति मायामें आसक्त नहीं होते अथवा उसके विवश नहीं होते हैं। बहिरङ्गा मायाके द्वारा बहिर्भागमें सेवित होते हैं। अभ्यन्तरमें वे स्वरूपशक्ति श्रीरमादेवीके द्वारा ही सेवित होते हैं। यही तात्पर्य है।

श्रीमद्भागवत तृतीय-स्कन्धके ब्रह्म-स्तवमें भी ऐसा कहा गया है—

'एष प्रपन्न-वरदो रमयात्मशक्त्या यद्यत् करिष्यति गृहीत गुणावतारः'—हे भगवान्! आप शरणागत जीवोंके वर प्रदाता हैं। विश्व प्रपञ्चमें विविध प्रकारकी लीला प्रकट करनेके लिए आप 'रमया'—स्वरूपशक्तिके साथ अवतार लेते हैं। (भा. ३/९/२३)

प्रथम स्कन्धमें श्रीअर्जुनके कथनसे भी इसकी पुष्टि होती है—'मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि'—हे भगवन्! आप प्रकृतिके अतीत पुरुष साक्षात् ईश्वर हैं, इसलिए आप अविकारी हैं अर्थात् मायामें लिप्त नहीं होते हैं। आप अपनी स्वरूपशक्तिके प्रभावसे बहिरंगा मायाको दूर रखकर केवल अपने स्वरूपमें अवस्थान करते हैं। (श्रीमद्भा. १/७/२३) जब ऐसी ही बात है, तब उनकी प्रेरणाके बिना सृष्टि कैसी होती है? तदुत्तरमें कहते हैं—'सिसृक्षया'—जब भगवान् सृष्टिकी इच्छा करते हैं तब वे अपने कालको प्रेरण करते हैं; और उसके द्वारा प्रकृतिको क्षुब्ध करते हैं। उसीसे संसारकी सृष्टि होती है। वह काल भगवान्‌की अंग-प्रभा ज्योतिस्वरूपा है।

उस कालका स्वरूप बतलानेके लिए कहते हैं—'प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम्' अर्थात् वह प्रभाव पौरुष और काल रूपमें है, जिससे सबको भय होता रहता है। श्रीमद्भागवत (३/५/२६) में इसका विशेष विवरण प्राप्त होता है—

'कालवृत्त्यातु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्य्यमाधत्त वीर्य्यवान्॥'

अर्थात् चित् शक्तियुक्त अतीन्द्रिय पुरुष भगवान् विष्णु कालशक्तिके द्वारा क्षोभितगुणमयी मायामें अपने अंशभूत पुरुषके माध्यमसे सृष्टि हेतु बीज वपन करते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि अधोक्षज भगवान्‌के प्रथम पुरुषावतार कारणाब्धिशायी महाविष्णु हैं। वे दूरसे मायाके प्रति ईक्षण करते हैं। उस ईक्षणके प्रभावसे भगवान् संभुक्ता मायामें चिदाभासमय जीव-शक्तिरूप वीर्यका आधान करते हैं। जो जीव अविद्या काम कर्मके द्वारा प्रलयकालमें अव्यक्त

प्रकृतिमें विलीन हो गये थे, उन कर्मानुयायी जीवोंको सृष्टिके समय पुनः इस कर्मक्षेत्रमें भेजते हैं तथा मायामें प्रवेश कराते हैं।

क्योंकि मायाशक्ति और जीवशक्तिके मिलनसे ही इस जगतकी उत्पत्ति होती है। और भी—"जिस मायाशक्तिके द्वारा क्षेत्रज्ञाशक्ति जीव तारतम्यरूपसे अवस्थित होता है"—इस शास्त्र उक्तिके अनुसार जीवशक्ति मायाशक्तिमें प्रवेश करनेसे जीवशक्तिको मायाशक्तिके अधीन कहा गया है। यहाँ पुरुष कहनेसे प्रकृतिके ईक्षणकर्त्ताको माना जाता है। इसलिए उस पुरुषने गुणमयी मायामें अर्थात् अव्यक्त प्रकृतिमें जीवरूप वीर्यका आधान किया॥७॥

तात्पर्य—मायाशक्तिके साथ भगवान् श्रीकृष्णका कोई साक्षात् सम्पर्क नहीं है, केवल गौण सङ्ग है। वे विलासपीठ वैकुण्ठके महा-संकर्षणके अंश-स्वरूप कारणार्णवशायी (पुरुषावतार) महाविष्णुके रूपमें मायाके प्रति ईक्षण करते हैं। उनके इस ईक्षण कार्यमें भी मायाका सङ्ग नहीं होता है; क्योंकि चित्-शक्ति रमादेवी उनकी इच्छासे अनपायिनी शक्तिके रूपमें अवस्थित रहती हैं। वे ही उस ईक्षणकार्यको धारण करती हैं। बहिरंगा माया उन रमादेवीकी दासीके रूपमें रमादेवीके साथ रमण करते हुए भगवदंशकी सेवा करती हैं। और काल वृत्ति ही उस रमाका कार्य-करण विक्रम है अर्थात् काल पुरुष ही उस जड़ा-मायाके साथ मिलित होता है, जिससे यह सारा विश्व प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है। अतएव भगवान्की इच्छा ही वह काल-पुरुष या प्रभाव है, जिससे सृष्टि, स्थिति और प्रलय होता है॥७॥

श्लोक ८

नियतिः सा रमादेवी तत्प्रिया तद्वशं तदा।
तल्लिङ्गं भगवान् शम्भुर्ज्योतिरूपः सनातनः॥
या योनिः सा पराशक्तिः कामोबीजं महद्धरेः ॥८॥

अन्वय—सा रमा (भगवान्के साथ रमण करनेवाली) देवी (स्वप्रकाश-रूपा शक्ति ही) नियतिः (स्वरूपभूत भगवान्की शक्ति है); तत् प्रिया (वे भगवत प्रीतिको दान करनेवाली) तद्वशं (भगवान्की सर्वदा वशीभूत रहने वाली हैं।) तदा (सृष्टि कालमें) तत् लिङ्गः (श्रीकृष्णके अंश संकर्षणके स्वांश ज्योतिरूप कारणार्णवशायी प्रथम-पुरुषके लिङ्ग अर्थात् चिह्न स्थानीय) ज्योतिरूपः सनातनः (ज्योतिरूप सनातनके अंश हैं) भगवान् शम्भुः (वही भगवान् शम्भुके रूपसे प्रसिद्ध हैं।) या योनिः (उसी प्रकार अप्रकट रूपा योगमायाकी जो योनि-स्थानीय

या छाया रूप अंश है) सा अपरा शक्तिः (वह अपरा शक्ति, अर्थात् माया नामक शक्ति है) हरेः (सृष्टिके समय उपस्थित होने पर उन गोविन्दके अंश कारणार्णवशायी प्रथम पुरुषके) कामः (सृष्टि निमित्त मायाके प्रति दृष्टिपात करनेकी इच्छा होती है) महत् (उसी दृष्टिपात रूप क्रियाके द्वारा वे प्रपञ्च और जीवोंके साथ महत् तत्त्वरूप) बीजं (बीज या वीर्य मायामें प्रदान करते हैं।)॥८॥

अनुवाद—(अब यहाँ गौणरूपमें मायाके साथ भगवान्के सम्पर्ककी प्रक्रियाका वर्णन करते हैं।) चित्-शक्तिरूपा रमादेवी ही नियतिरूपा तथा भगवान्की प्रिया हैं। वे सदैव भगवान्की वशीभूत रहनेवाली सेवा-परायणा देवी हैं। सृष्टिके प्रारम्भमें प्रपञ्चकी रचनाके लिए उन्मुख श्रीकृष्णके अंशकी जो स्वांश-ज्योति उदित होती है, वही भगवान् शम्भुरूप भगवल्लिङ्ग अर्थात् प्रकटित चिह्न-विशेष हैं। वह शम्भुरूप लिङ्ग सनातन ज्योतिका आभास है। वह नियतिके वशीभूत प्रपञ्चको उत्पादन करनेवालेका अंश है। नियतिके द्वारा जिस प्रसविनी-शक्तिका उदय होता है, वही अपरा-शक्ति योनिरूपा मायाका स्वरूप है। इन दोनोंका संयोग ही श्रीहरिका महत्तत्त्व-रूप प्रतिफलित कामबीज है॥८॥

टीका—ननु रमैव सा का ? तत्राह,—नियतिरत्यर्द्धेन। नियम्यते स्वयं भगवत्येव नियता भवतीति 'नियतिः' स्वरूमभूता तच्छक्तिः; 'देवी' द्योतमाना स्वप्रकाशरूपा इत्यर्थः; तदुक्तं द्वादशे,—"अनपायिनी हरेः शक्तिः श्रीः साक्षादात्मनो हरेः" इति; टीका च,—"अनपायिनी हरेः शक्तिः; तत्र हेतुः—साक्षादात्मन इति; स्वरूपस्य चिद्रूपत्वात्तस्यास्तदभेदादित्यर्थः" इत्येषा। अत्र साक्षाच्छब्देन— "विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षा-पथेऽमुया" इत्याद्युक्ता माया नेति ध्वनितम्। तत्र 'अनपायिनीत्वं' यथा विष्णुपुराणे—"नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी। यथा सर्वगतो विषणुस्तथैवेयं द्विजोत्तम॥" इति, "एवं यथा जगत्स्वामी देवदेवो जनार्द्दनः। अवतारं करोत्येषा तथा श्रीस्तत्सहायिनी॥" इति च।

ननु कुत्रापि शिवशक्त्योः कारणता श्रूयते? तत्र विराड्वर्णनवत् कल्पनया ते तदङ्गविशेषणत्वेनाह, —तल्लिङ्गमिति। "तस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता" इति विष्णुपुराणानुसारेण प्रपञ्चात्मनस्तस्य महाभगवदंशस्य स्वांशज्योति-राच्छन्नत्वादप्रकटरूपस्य पुरुषस्य 'लिङ्ग' लिङ्गस्थानीयो योऽंशः प्रपञ्चोत्पादकांशः, स एव शम्भुः; अन्यस्तु तदाविर्भाव-विशेषत्वादेव शम्भुरुच्यते इत्यर्थः। वक्ष्यति

च,—"क्षीरं यथा दधि विकारविशेषयोगात्" इत्यादि। तथा तस्य वीर्य्याधान-स्थानीय-मायाया अप्यप्रकटनरूपाया या 'योनि' स्थानीयोऽंशः, सैव 'अपरा' प्रधानाख्या शक्तिरिति पूर्ववत्। तत्र च 'हरे' तस्य पुरुषाख्य-हर्य्यंशस्य 'कामो' भवति,—सृष्ट्यर्थं तद्दिदृक्षा जायत इत्यर्थः। ततश्च 'महत्' इति सजीव-महत्तत्त्वरूपं सप्रपञ्चरूपं बीजमाहितं भवतीत्यर्थः;—"सोऽकामयत" इति श्रुतेः, "कालवृत्त्या" इत्यादि तृतीयाच्च॥८॥

टीकानुवाद—वह रमा देवी कौन है? तदुत्तरमें—'नियति' आदि डेढ़ श्लोकोंमें कहा जा रहा है। वे स्वरूपभूता चिच्छक्ति हैं। नित्यकाल स्वयं-भगवान्के स्वरूपमें विराजमान रहनेके कारण अथवा स्वयं-भगवान्के द्वारा नियमित रहनेके कारण उनको 'नियति' कहा जाता है। अतएव वे भगवान्की वशवर्तिनी प्रिया हैं। श्रीमद्भागवत द्वादश-स्कन्ध, ११ अध्याय, २०वें श्लोकमें ऐसा कहा गया है—'अनपायनी भगवती श्रीः साक्षादात्मनो हरेः।' अर्थात् वे साक्षात् श्रीहरिकी आत्मभूता अनपायिनी श्रीशक्ति अथवा भगवती श्रीलक्ष्मी देवी हैं। श्रीहरिकी शक्ति अनपायिनी हैं; क्योंकि वे साक्षात् आत्मस्वरूप हैं अर्थात् जैसे श्रीहरि चित्स्वरूप हैं, उनसे अभिन्न उनकी स्वरूपशक्ति भी चित्स्वरूपिणी हैं। यहाँ 'साक्षात्'-शब्दसे श्रीहरिके दृष्टिपथमें उपस्थित होनेमें जो शक्ति लज्जित होती है, वह नहीं; वह तो मायाशक्ति है, जो भगवद् विमुख जीवोंको मोहित करती है। विष्णु पुराणमें भी भगवती लक्ष्मीदेवीको अनपायिनी कहा गया है—

'नित्यैव सा जगन्माता विष्णो श्रीरनपायिनी।
यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम॥'

हे द्विजश्रेष्ठ! वे जगन्माता लक्ष्मीदेवी भगवान् विष्णुकी अनपायिनी नित्या-शक्ति हैं। विष्णु जैसे सर्वगत-सर्वत्र हैं वैसी उनकी शक्ति भी सर्वत्र अवस्थित है।

जगत्-स्वामी देवदेव जनार्दन जब-जब इस जगतमें अवतरित होते हैं तब-तब उनकी स्वरूपशक्ति भगवती लक्ष्मीदेवी भी श्रीहरिके अनुरूप देवी, मानुषी आदि रूपोंमें उनके साथ अवतरित होती हैं।

किसी-किसी शास्त्रमें शिवशक्तिको जगत्का कारण बतलाया गया है। इसका समाधान इस प्रकार करना चाहिए—जिस प्रकार विराट् पुरुषके वर्णनमें ब्रह्माण्डको भगवान्का स्वरूप माना गया है, उसी प्रकार यहाँ भगवान्का अङ्ग मानकर शिवशक्तिको जगत्का कारण कहा गया है।

विष्णु पुराणके अनुसार यह सारा जड़ जगत् भगवान्‌का अंश या स्वांश ज्योतिका आभास अर्थात् अप्रकट पुरुषका लिङ्ग (चिह्न) है। यह लिङ्ग स्थानीय जो अंश है, वही प्रपञ्च उत्पादक अंश है। इसीको शम्भु कहा जाता है। लिङ्ग कहनेसे चिह्न या स्वरूपको समझना चाहिए।

भगवान्‌का आदि अवतार जो केवल पिण्ड-स्वरूप है, जिसमें विश्व प्रपञ्च अवस्थित होता है, जो अनन्त जीवोंका आधारस्वरूप (आश्रय) है, जो सबका कल्याणकारी है, उसीको शिवलिङ्ग या शम्भु कहा जाता है।

'अन्यस्तु तदाविर्भाव विशेष' अर्थात् दूसरे जो शिव हैं, वे भगवान्‌के विशेष आविर्भाव-रूप सदाशिव विष्णुतत्त्व हैं। जो परम कल्याणकारी हैं।

परन्तु जो 'शिवः शक्तियुक्तः शश्वत त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः' हैं, अर्थात् जो शिव मायाशक्तिसे युक्त रहते हैं, वे वैकारिक, तैजस और तामस इन तीन अहंकारोंसे आवृत रहते हैं। इन्हीं शिवके लिए आगे चलकर 'क्षीरं यथा दधिविकारविशेष योगात्'—श्लोकमें वर्णन किया जाएगा। भगवान्‌के वीर्य आधान स्थानीय मायाका अप्रकटित रूप स्थान-विशेष—जो योनि स्थानीय अंश है, उसको भी अपरा शक्ति समझना चाहिए, उसे प्रधान भी कहा जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌ने विश्व संसारकी सृष्टि करनेके लिए मायाके प्रति ईक्षण किया, जिससे उस प्रकृति—रमादेवीने महत्तत्व आदि चौबीश (२४) तत्त्वोंको सन्तानके रूपमें जन्म दिया।

मूल श्लोकमें महत्तत्त्वको श्रीहरिका कामबीज कहा गया है। जब भगवान् सृष्टिके लिए मायाकी ओर दृष्टिपात करनेकी इच्छा करते हैं, तब उस इच्छाको काम कहा जाता है। पुनः 'महत्' शब्द जो कहा गया है, वह इस प्रकार है—भगवान्‌ने सृष्टि निमित्त जीव शक्ति सहित महत्तत्त्वको बीज रूपमें प्रकृतिमें आधान किया।

श्रुतिमें वर्णन है—'सोऽकामयत'—अर्थात् भगवानने सृष्टिके प्रारम्भमें बहुत सारी प्रजाओंको उत्पन्न करनेके लिए 'अकामयत' इच्छा प्रकट की। 'कालवृत्त्या' इत्यादि तृतीय स्कन्धके कथनानुसार भगवान्‌ने कालशक्तिके द्वारा क्षोभित गुणमयी मायाकी 'अभिव्यक्ति' स्थानमें जीव संज्ञक चिद्रूपा शक्तिका आधान किया, जिससे उस प्रकृति प्रकाशने बहुल महत्तत्त्वको प्रसव किया॥८॥

तात्पर्य—सृष्टिकी कामनासे युक्त संकर्षण ही प्रपञ्चकी रचनाके लिए उन्मुख—श्रीकृष्णके अंश हैं। वे प्रथम पुरुषावतारके रूपमें कारण समुद्रमें

शयन करते हुए मायाके प्रति ईक्षण (दृष्टिपात) करते हैं। वही दृष्टिपात सृष्टिका निमित्त कारण है। उनकी प्रतिफलित ज्योतिका आभास ही शम्भु-लिङ्ग है। वही रमाशक्तिकी छाया रूपा मायादेवीकी योनिसे (प्रसव-यंत्रसे) संयुक्त होता है। उस समय महत्तत्त्वरूप कामबीजका आभास उपस्थित होकर सृष्टिकार्यमें तत्पर हो उठता है। महाविष्णु द्वारा सृजित कामके प्रथम उदयको हिरण्यमय महत्तत्त्व कहते हैं; वही सृष्टि-रचनाके लिए उन्मुख मन-तत्त्व है। इसमें एक अतिशय गूढ़ विचार है। वह यह है कि निमित्त और उपादानको लेकर पुरुषकी इच्छा ही सृष्टि-कार्य करती है। यहाँ पर माया अर्थात् योनि—निमित्त है; शंभु अर्थात् लिङ्ग—उपादान है; तथा पुरुष अर्थात् इच्छामय कर्त्ता—महाविष्णु हैं। द्रव्यमय प्रधानरूप तत्त्व—उपादान है तथा आधारमय प्रकृति तत्त्व ही माया है। उन दोनोंको मिलानेवाले इच्छामय-तत्त्व ही प्रपञ्चरूप जड़-जगत्का सृजन करनेवाले—श्रीकृष्णके अंशस्वरूप पुरुष हैं। वे ही सृष्टिकर्त्ता हैं।

गोलोकगत कामबीज विशुद्ध चिन्मय-तत्त्व है; परन्तु प्रपञ्चगत कामबीज—छायाशक्तिके अन्तर्गत कालादि-शक्तिका कामबीज है। पहले कहा गया कामबीज—मायाका आदर्श होकर भी उससे बहुत दूर विशुद्ध चिन्मय तत्त्व है; किन्तु दूसरा कामबीज—मायिक प्रतिफलन है। आगे आनेवाले दशवें तथा पन्द्रहवें श्लोकमें शम्भु-तत्त्वके विषयमें विशेषरूपसे वर्णन किया गया है॥८॥

श्लोक ९

लिङ्गयोन्यात्मिका जाता इमा माहेश्वरी प्रजाः॥९॥

अन्वय—लिङ्ग योन्यात्मिका (लिङ्ग अर्थात् पुरुष-शक्ति या उपादान-कारण, योनि अर्थात् स्त्री-शक्ति या निमित्त-कारण; यह लिङ्गः योन्यात्मक अर्थात् इन दोनोंके संयोगक्रमसे) इमाः (इस जगत्की सारी) माहेश्वरी प्रजाः (महेश्वरीकी संतानें अर्थात् सम्पूर्ण लोकोंके साथ देव, मानव आदि सभी मायिक ऐश्वर्यसे) जाताः (उत्पन्न हुए हैं)॥९॥

अनुवाद—इस जगतकी समस्त माहेश्वरी प्रजा—निखिल लोकोंके साथ देव, मानवादि सारी प्रजाएँ लिङ्ग और योनिके संयोगसे उत्पन्न हुई हैं॥९॥

टीका—अतः शिवशास्त्रमपि तद्विशेषाविवेकादेव स्वातन्त्र्येण प्रवर्त्तते, वस्तुतस्तु पूर्वाभिप्रायत्वमेवेत्याह,—लिङ्गेत्यर्द्धेन। 'माहेश्वरी' माहेश्वर्य्यः॥९॥

टीकानुवाद—अतएव शैव और तन्त्र आदि शास्त्रोंमें शिव द्वारा प्रजा उत्पत्तिकी जो बात कही गयी है, वह वास्तविक नहीं है; केवल अज्ञानतावशतः स्वतंत्ररूपसे कही जाती है। वास्तवमें महा-महेश्वरका तात्पर्य श्रीकृष्णसे ही है। अतएव माहेश्वरी प्रजाका मूल तात्पर्य यह है कि महामहेश्वर श्रीकृष्णकी मायासे ही मूलतः सारी प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं। प्रस्तुत श्लोकमें इसी दृष्टिसे 'माहेश्वरी-प्रजा' शब्दका व्यवहार किया गया है॥९॥

तात्पर्य—भगवान्‌की चतुष्पाद-विभूति ही ऐश्वर्य है। उनमें वैकुण्ठ-गोलोकगत ऐश्वर्य ही अशोक, अमृत और अभय—त्रिपाद विभूति है। इस मायिक जगत्‌में सारे लोकोंके साथ देवता, मानव आदि सभी, मायिक ऐश्वर्यके अन्तर्गत है; ये सभी वस्तुएँ उपादान और निमित्त—लिङ्ग और योनिके संयोगसे उत्पन्न हैं। जड़ीय विज्ञानके द्वारा अब तक जो भी तथ्य उपलब्ध हैं, वे सभी इसी प्रकार संयोग-स्वभाव सम्पन्न हैं; वृक्ष, लता, कृमि-कीट आदि सभी जड़ वस्तुएँ पुरुष और प्रकृतिके संयोगसे ही उत्पन्न हुई हैं। यहाँ एक विशेष गूढ़ तात्पर्य यह है कि यद्यपि लिङ्ग और योनि आदि शब्द अश्लील जान पड़ते हैं, तथापि विज्ञान-शास्त्रोंमें तत्त्वसूचक ये शब्द-समूह अत्यन्त उपादेय और निगूढ़ अर्थको प्रकाशित करनेवाले हैं। अश्लीलता केवल सामाजिक-व्यवहारगत बाह्य भाव मात्र है; किन्तु इसीलिए विज्ञान और परम-विज्ञान, सामाजिक व्यवहारकी अपेक्षाकर सत्य वस्तुको ध्वंस नहीं कर सकते। अतः जड़-जगत्‌का मूल-तत्त्व जो मायिक कामबीज है, उसको समझनेके लिए इन शब्दोंका व्यवहार अत्यन्त अनिवार्य है। इन शब्दोंके द्वारा केवल पुरुष-शक्ति अर्थात् कर्तृप्रधान क्रियाशक्ति और स्त्रीशक्ति अर्थात् कर्मप्रधान क्रियाशक्तिको समझना चाहिए॥९॥

श्लोक १०

शक्तिमान् पुरुषः सोऽयं लिङ्गरूपी महेश्वरः।
तस्मिन्नाविरभूल्लिङ्गे महाविष्णुर्जगत्पतिः ॥१०॥

अन्वय—सः अयं पुरुषः (वे उपादानमय पुरुष) लिङ्गरूपी (चिह्न-स्थानीय) महेश्वरः (महेश्वर शम्भु ही) शक्तिमान (निमित्तांश मायारूप शक्तिसे युक्त हैं) तस्मिन् लिङ्गे (उस लिङ्ग स्थानीय पुरुषमें) जगत्पतिः (समस्त ब्रह्माण्डके अन्तर्यामी और अधीश्वर) महाविष्णुः (कारणार्णवशायी प्रथम पुरुष) आविः अभूत् (ईक्षण-अंशमें आविर्भूत हुए)॥१०॥

अनुवाद—'महेश्वर'-शब्दसे जिनको सर्वेश्वर या आदिकर्त्ता कहा गया है, वे ही शक्तिमान् पुरुष हैं। सृष्टिकार्यके लिए वे आदि-लिङ्गरूपमें प्रकट होते हैं; और जिनको जगत्पति महाविष्णु कहा जाता है, वे भी उसी योनि-लिङ्गसे (कामबीजसे) आविर्भूत हुए हैं॥१०॥

टीका—शक्तिमानित्यर्द्धेन तदेवानूद्य तस्मिन् पूर्वोक्तस्याप्रकटरूपस्य प्रकटरूपतया पुनरभिव्यक्तिरित्याह,—तस्मिन्नित्यर्द्धेन। तस्मालिङ्गरूपी प्रपञ्चोत्पादकस्तदंशोऽपि शक्तिमान् पुरुषो महेश्वर उच्यते। ततश्च 'तस्मिन्' भूतसूक्ष्मपर्य्यन्ततां प्राप्ते 'लिङ्गे' स्वयं तदंशी 'महाविष्णुराविरभूत्' प्रकटरूपेणाविर्भवति; यतो 'जगत्पतिः' जगतां सर्वेषां परावरेषां जीवानां स एव पतिरिति॥१०॥

टीकानुवाद—पूर्व श्लोकके अभिप्रायको और भी स्पष्ट करनेके लिए प्रस्तुत श्लोकमें कहा जा रहा है। पूर्वोक्त अप्रकट स्वरूपकी प्रकटरूपमें (जगत् सृष्टिके लिए) अभिव्यक्ति होती है। किस प्रकार अभिव्यक्ति होती है; कहते हैं—लिङ्गरूपी अर्थात् विश्व-प्रपञ्चको उत्पन्न करनेवाले भगवान्के अंशके अंशको शक्तिमान पुरुष या महेश्वर कहा जाता है। महत्तत्त्व, अहंकार, बुद्धि, मन, पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्राएँ ये सब कुछ मायिक जगत्में अप्रकटित भगवान्का प्रकट लिङ्ग—चिह्न है। इस प्रकार लिङ्गरूपमें—प्रकटरूपमें स्वयं उसके अंशी महाविष्णु ही आविर्भूत होते हैं। ये ही चिद्-अचिद् समस्त जगत् तथा जीवोंके पति हैं॥१०॥

लघुभागवतामृतकी टीकामें भी कहा है—

सोऽयं शक्तिमान पुरुषः लिङ्गरूपी महेश्वरो भवति।
तस्मिन् लिङ्गे जगत्पतिर्महाविष्णुः आविरभूत् ॥

तात्पर्य—चिदैश्वर्य-प्रधान परव्योम धाम वैकुण्ठमें कृष्णसे अभिन्न-स्वांश

अवतार श्रीनारायण विराजमान हैं। उनके व्यूहगत महासंकर्षण भी श्रीकृष्णके विलास–विग्रह श्रीबलदेवजीके अंश हैं। वे महासंकर्षण अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे अपने एक अंश कारणाब्धिशायी महाविष्णुके रूपमें चिज्जगत् और मायिक जगत्की मध्य–सीमारूपा विरजामें नित्य शयन करते हैं और वहींसे दूरमें अवस्थित छायारूप मायाशक्तिके प्रति ईक्षण करते हैं। चिदीक्षणके आभास रूपमें रुद्ररूपी द्रव्यशक्तिमय प्रधान–पति शंभु, निमित्तांश–मायाके साथ संग करते हैं, किन्तु श्रीकृष्णके साक्षात् चिद्बल रूप महाविष्णुके प्रभावके बिना कुछ भी नहीं कर पाते। अतएव शिवशक्तिरूपा माया और प्रधानगत उपादान—इन दोनोंकी क्रिया–चेष्टाके साथ श्रीकृष्णांश अर्थात् श्रीकृष्णके अंश संकर्षण और संकर्षणके भी अंशरूप प्रथम पुरुषावतार महाविष्णुकी अनुकूलता होने पर ही महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महाविष्णुके अनुकूल होने पर ही शिवशक्ति क्रमशः अहंकार, आकाश आदि पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्राएँ और जीवोंकी मायिक इन्द्रियोंकी सृष्टि करते हैं। महाविष्णुके किरण–कणरूप अंशसमूह जीवके रूपमें प्रकाशित हैं। इसका विवेचन आगे किया जाएगा॥१०॥

श्लोक ११

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सहस्रबाहुर्विश्वात्मा सहस्रांशः सहस्रसूः॥११॥

अन्वय—पुरुषः (उन जगत्पति महाविष्णुरूप प्रथम पुरुषके) सहस्रशीर्षा (सहस्र–सहस्र मस्तक) सहस्राक्षः (सहस्र–सहस्र नेत्र) सहस्रपात् (सहस्र–सहस्र पद) सहस्रबाहुः (सहस्र–सहस्र भुजाएँ) सहस्रांश (सहस्र–सहस्र अंशोंसे सहस्र–सहस्र अवतार हैं) विश्वात्मा (और सारे ब्रह्माण्डोंके अन्तर्यामी हैं) सहस्रसूः (हजारों–हजारों प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं)॥११॥

अनुवाद—उन जगत्पति महाविष्णुके सहस्र–सहस्र मस्तक, सहस्र–सहस्र नेत्र, सहस्र–सहस्र बाहु, सहस्र–सहस्र अंशोंसे सहस्र–सहस्र अवतार हैं; वे विश्वकी आत्मा हैं और वे ही सहस्र–सहस्र प्राणियोंका सृजन करते हैं॥११॥

टीका—तदेव रूपं विवृणोति,—सहस्रशीर्षेति। सहस्रमंशा अवतारा यस्य स 'सहस्रांशः'; सहस्रं सूते सृजति यः स 'सहस्रसूः', सहस्र–शब्दः सर्वत्रासंख्यतापरः। द्वितीये च रूपमिदमुक्तम्—"आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य" इत्यस्य टीकायां—"परस्य भूम्नः पुरुषः प्रकृतिप्रवर्त्तकः, 'यस्य सहस्रशीर्ष' इत्याद्युक्तो लीलाविग्रहः स आद्योऽवतारः" इति॥११॥

टीकानुवाद—इस प्रकार उस महाविष्णुके रूपका वर्णन कर रहे हैं—सहस्र शीर्षा आदि—प्रस्तुत श्लोकके द्वारा। सहस्र-सहस्र अंशोंमें जिनके असंख्य अवतार हैं, उनको सहस्रांश कहा जाता है। ऐसे ही जो सहस्र-सहस्र प्राणियोंका सृजन करते हैं, उनको 'सहस्रसूः' कहा गया है। यहाँ 'सहस्र' शब्दका प्रयोग असंख्यके लिए हुआ है। शास्त्रोंमें सर्वत्र ही 'सहस्र'-शब्दका प्रयोग असंख्य-अर्थमें ही दृष्टिगोचर होता है।

और भी उनके स्वरूपका वर्णन करते हुये द्वितीय-स्कन्धमें कहा है—(२. ६.२४) 'प्रकृतिके ईक्षणकर्त्ता कारणार्णवशायी पुरुष परव्योमके अधिपति भगवान्के प्रथम अवतार हैं। काल-स्वभाव आदि उनके कर्म, कार्य कारणात्मक प्रकृति, महत्तत्व, महाभूत, अहंकार तत्त्व, सत्त्वादि गुणसमष्टि शरीररूप पातालादि, समष्टि जीव, हिरण्यगर्भ, स्थावर, जङ्गम, व्यष्टि शरीर—ये समस्त परमेश्वर सम्बन्धीय वस्तुएँ हैं।'

इसकी टीकामें—उस प्रकृतिके प्रवर्त्तक भूमापुरुष,—जिनके हजारों मस्तक आदि हैं,—इस प्रकारके वर्णन द्वारा उनको आदि अवतार लीला-विग्रह कहा गया है। काल, स्वभाव आदि उनका कर्म है। इस प्रकार आदि पुरुषावतार प्रत्येक कल्पके प्रारम्भमें स्वयं अपनेमें अपने द्वारा सृजन, पालन तथा संहार करते हैं। वे एक होकर भी मायाशक्तिके द्वारा अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं। यह सत्, असत् कार्य-कारणात्मक विश्व उन्हींमें अवस्थित है। इसलिए इन सबको परमेश्वर सम्बन्धीय कहा गया है॥११॥

तात्पर्य—समस्त वेदोंमें स्तवनीय महाविष्णु—अनन्त करण अर्थात् चिद्-इन्द्रिय आदिसे युक्त तथा अनन्त शक्ति विशिष्ट हैं। वे समस्त अवतारोंके मूलपुरुष आदि-अवतार हैं॥११॥

श्लोक १२

नारायणः स भगवानापस्तस्मात् सनातनात्।
आविरासीत् कारणार्णो-निधिः संकर्षणात्मकः॥
योगनिद्रां गतस्तस्मिन् सहस्रांशः स्वयं महान् ॥१२॥

अन्वय—सः भगवान् (वे भगवान् महाविष्णु ही) संकर्षणात्मकः नारायणः (गोलोक स्थित मूल-संकर्षणके प्रकाश-विग्रह परव्योम या वैकुण्ठ-स्थित महासंकर्षणके अंश प्रथम-पुरुषावतार हैं; वे मायिक जगत्में नारायण नामसे प्रसिद्ध हैं) तस्मात् सनातनात् (उसी सनातन पुरुषसे) कारणार्णोनिधिः

(कारणार्णव नामक समुद्रका) आपः (जलराशि) आविः आसीत् (उत्पन्न हुआ है) तस्मिन् योगनिद्रां गतः (वे उस जलमें स्वरूपानन्द समाधिगत होकर शयन करते हैं) स्वयं महान् (स्वयं परमपुरुष भगवान्) सहस्रांशः (एवं सहस्र–सहस्र अंशोंमें सहस्र–सहस्र अवतार ग्रहण करते हैं)॥१२॥

अनुवाद—वे महाविष्णु ही मायिक जगत्‌में 'नारायण' नामसे प्रसिद्ध हैं। उन सनातन पुरुषसे ही कारण–समुद्रका जल उत्पन्न हुआ है। ये सहस्रांश परम पुरुष भगवान्, परव्योम स्थित संकर्षणके अंश हैं। ये सनातन पुरुष ही योग–निद्राका अवलम्बन कर उस जल–राशि—विरजामें शयन करते हैं॥१२॥

टीका—अयमेव कारणार्णवशायीत्याह,—नारायण इति सार्द्धेन। अतः आप एव 'कारणार्णो–निधिराविरासीत्'। स तु नारायणः 'सङ्कर्षणात्मकः' इति; पूर्वं गोलोकावरणतया यश्चतुर्व्यूहमध्ये सङ्कर्षणः सम्मतस्तस्यैवांशोऽयमित्यर्थः। अथ तस्य लीलामाह,—योगनिद्रामिति; स्वरूपानन्दसमाधिं गत इत्यर्थः। तदुक्तं—"आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। तस्य ता अयनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥" इति॥१२॥

टीकानुवाद—ये महाविष्णु ही कारण–वारिमें शयन करते हैं। इन्हींको प्रथम पुरुषावतार कहा जाता है। प्रस्तुत श्लोकमें इन्हींके विषयमें वर्णन किया जा रहा है। इन्हींसे आप अर्थात् कारण–समुद्रका जल उत्पन्न हुआ है। उस जलमें शयन करनेके कारण इन्हें नारायण कहते हैं। नार=जल; अयन=आश्रय=विश्रामस्थल; ये वैकुण्ठगत महासंकर्षणके अंश अवतार हैं। पहले गोलोकके प्रकोष्ठमें जिस संकर्षणका वर्णन हुआ है, वे मूल–संकर्षण हैं। उनके अंशको वैकुण्ठके द्वितीय चतुर्व्यूहमें महासंकर्षण कहा जाता है। इस महासंकर्षणके अंश हैं—कारणाणब्धिशायी महाविष्णु। इनसे ही वह कारणसमुद्र बना है और उसीमें वे शयन करते हैं। यह उनकी लीला है। वे योगनिद्रामें अवस्थित हैं अर्थात् स्वरूपानन्द समाधिमें अवस्थित हैं। शास्त्रमें ऐसा कहा गया है—

'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
तस्य ता अयनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥'

आप अर्थसे नार अर्थात् जल और जीवका ही बोध होता है। इन दोनोंके परम आश्रय होनेसे भगवान्‌को नारायण कहा है॥१२॥

तात्पर्य—भगवान्‌की स्वरूपानन्दरूप समाधि ही योगनिद्रा कही जाती है। पूर्वोक्त रमादेवी ही योगमायारूपा 'योगनिद्रा' है॥१२॥

श्लोक १३

तद्रोमबिल–जालेषु बीजं संकर्षणस्य च।
हैमान्यण्डानि जातानि महाभूतावृतानि तु ॥१३॥

अन्वाय—तत् (उन) संकर्षणस्य (संकर्षणके अंश महाविष्णुका) बीजं (जीवोंके सहित महत्तत्त्वरूप प्रपञ्चात्मक जो बीज मायामें रोपा गया था, वही भूत–सूक्ष्म तक प्राप्त होकर) लोमबिलजालेषु (उनके लोम–कूपोंमें अवस्थित होकर) हैमानि अण्डानि (अनन्त सुवर्ण अण्डोंके रूपमें) महाभूता वृतानि च तु (अपञ्चीकृत पञ्च महाभूत द्वारा आच्छादित होकर) जातानि (उत्पन्न होता है)॥१३॥

अनुवाद—कारणवारिमें शयन किये हुए महाविष्णुके लोम–कूपोंमें संकर्षणके चिद् बीजसमूह असंख्य सुवर्णमय अण्डोंके रूपमें उत्पन्न होते हैं तथा वे सारे–अण्डे महाभूतके द्वारा आच्छादित रहते हैं॥१३॥

टीका—तस्मादेव ब्रह्माण्डानामुत्पत्तिमाह,—तद्रोमेति। 'तत्' इति तस्येत्यर्थः। तस्य सङ्कर्षणात्मकस्य यद्बीजं योनिशक्तावध्यस्तं, तदेव भूतसूक्ष्मपर्य्यन्ततां प्राप्तं सत् पश्चात्तस्य 'रोमबिल–जालेषु' विवरेषु अन्तर्भूतञ्च सत् 'हैमानि अण्डानि जातानि'; तानि चापञ्चीकृतांशैर्महाभूतैरावृतानि जातानीत्यर्थः। तदुक्तं दशमे ब्रह्मणा—"क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्" इति; तृतीये च—"विकारैः सहितो युक्तैर्विशेषादिभिरावृतः। अण्डकोषो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः॥ दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत्। लक्ष्यन्तेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः॥१३॥

अनुवाद—उन कारणवारिशायी महाविष्णुसे ही अगणित ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति होती है—इस श्लोकमें यह विवेचन किया गया है। उन सङ्कर्षणात्मक पुरुषको—जो बीजसमूह अर्थात् पूर्वोक्त जीव सहित महत्तत्त्व प्रकृतिमें निहित थे, वे पहले भूत–सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त कर—*चौबीस तत्त्वोंके रूपमें परिणत होकर उन पुरुषके रोमकूपमें अन्तर्भूत होकर स्वर्णमय अण्डोंके

---

*चौबीस तत्त्व ये हैं—मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—ये पाँच महाभूत; रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श—पाँच तन्मात्रा; चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वचा—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ—पाँच कर्मेन्द्रियाँ; मन, बुद्धि, अहंकार—तीन सूक्ष्म इन्द्रियाँ; और महत्तत्त्व (चित्त)—ये कुल मिलाकर चौबीस तत्त्वोंके अधिष्ठातृ देवता जीवोंके सहित महासङ्कर्षणके बीजरूपमें माया–प्रकृतिमें निहित थे।

रूपमें प्रकट हुए। ये सारे स्वर्णमय अण्डे अपञ्चीकृत अर्थात् परस्पर अमिश्रित महाभूत द्वारा आच्छादित रहते हैं।

श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धमें भी श्रीब्रह्माजीने कहा है—'क्वेदृग्विधा-विगणिताण्डपराणुचर्य्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्'(१०/१४/११) अर्थात् हे भगवान्! प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि द्वारा संवेष्टित ब्रह्माण्डरूप घटके भीतर सात वितस्ति-परिमाण शरीरधारी मैं यह ब्रह्मा कहाँ हूँ और जिनके रोमकूपरूप गवाक्षमार्गमें अगणित ब्रह्माण्ड परमाणुकी भाँति विचरण कर रहे हैं, ऐसे आप कहाँ हैं?

और भी तृतीय स्कन्धमें कहा है—'विकारैः सहितो युक्तै ... कोटिशो ह्यण्डराशयः'—प्रकृति, महद्, अहंकार और पञ्च तन्मात्ररूप अष्ट प्रकृति तथा एकादश इन्द्रियाँ और पञ्च-महाभूतरूप षोडश प्रकारके विकार द्वारा आरब्ध अर्थात् संयुक्त—यह एक ब्रह्माण्ड है। इसका भीतरी भाग पञ्चाशत् करोड़ योजन विस्तृत तथा बहिर्भाग पृथ्वी आदि सप्त आवरणों द्वारा आवृत है। इस ब्रह्माण्डके परिमाणकी अपेक्षा क्रमशः दश-दश गुणा अधिक विस्तृत करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं, जो महाविष्णुके एक-एक रोमकूपमें परमाणुओंकी भाँति अवस्थित हैं। उन्हींको विद्वान्‌गण महाविष्णुका स्वरूप कहते हैं। वे ही कारणाब्धिशायी विष्णु समस्त जगत्‌के कारण हैं॥१३॥

तात्पर्य—कारणवारिमें शयन करनेवाले आद्यावतार पुरुष इतने विशाल हैं कि उनके शरीरके रोमकूपोंमें अनन्त करोड़ ब्रह्माण्डोंके बीज उत्पन्न होते हैं। वे ब्रह्माण्डसमूह—चित् जगतके अनन्त धामके अनुरूप अनुकरण मात्र है और जबतक पुरुषावतारके शरीरमें रहते हैं तबतक वे चिदाभासरूप स्वर्ण-अण्डोंकी भाँति अवस्थित रहते हैं अथच वे महाविष्णुके संकल्प द्वारा मायिक, निमित्त और उपादानसे उत्पन्न महाभूतोंके भूत-सूक्ष्म अंशोंके द्वारा आवृत रहते हैं। पुरुषके निःश्वासके साथ वे स्वर्ण-अण्डसमूह प्रकट होकर जब मायाके असीम-प्रकोष्ठमें प्रवेश करते हैं, तब अपञ्चीकृत अर्थात् पाँचों मिले हुए नहीं होते, ऐसे महाभूतोंके द्वारा परिवर्द्धित होते हैं।॥१३॥

श्लोक १४

प्रत्यण्डमेवमेकांशादेकांशाद् विशति स्वयम्।
सहस्रमूर्द्धा विश्वात्मा महाविष्णुः सनातनः॥१४॥

अन्वय—एवं प्रत्यण्डम् (इस प्रकार तत्पर वे महाविष्णु प्रत्येक ब्रह्माण्डमें) एकांशात् एकांशात् (एक-एक अंशमें) स्वयम् विशति (स्वयं प्रवेश करते हैं) सहस्र मूर्द्धा विश्वात्मा महाविष्णुः सनातनः (प्रत्येक ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट उनके अंश समूह भी हजारों-हजारों मस्तक विशिष्ट, समग्र ब्रह्माण्डके अन्तर्यामी, सनातन, महाविष्णु जैसे होते हैं और वे गर्भोदशायी नामसे अभिहित होते हैं॥१४॥

अनुवाद—ऐसे महाविष्णुने अपने एक-एक अंश द्वारा एक-एक ब्रह्माण्डमें प्रवेश किया। उसमें प्रविष्ट तदीय अंश समूह—उनकी विभूतियोंसे पूर्ण हैं अर्थात् सनातन महाविष्णुके रूपमें सहस्र-सहस्र मस्तक विशिष्ट विश्वात्मा हैं॥१४॥

टीका—ततश्च तेषु ब्रह्माण्डेषु पृथक्पृथक्स्वरूपैः रूपान्तरैः स एव प्रविवेशेत्याह,—प्रत्यण्डमिति। 'एकांशादेकांशात्' एकेनैकेनांशेनेत्यर्थः॥१४॥

टीकानुवाद—तदनन्तर महाविष्णु उन करोड़ों-करोंड़ों ब्रह्माण्डोंमें पृथक्-पृथक् स्वरूपमें अर्थात् एक-एक विष्णुके रूपमें प्रवेश करते हैं। उन्हींको गर्भोदशायी महाविष्णु कहा जाता है। 'एकांशाद् एकांशाद्' का अर्थ है, एक-एक अंशसे एक-एक ब्रह्माण्ड-गर्भमें प्रवेश करते हैं॥१४॥

तात्पर्य—कारणवारिमें शयन करनेवाले महाविष्णु, महा-संकर्षणके अंश हैं। उनसे जितने ब्रह्माण्ड प्रकाशित होते हैं, उन सभीमें वे स्वयं एक-एक अंशसे प्रवेश करते हैं। वे प्रत्येक अंश ही विष्णु हैं तथा सर्वतोभावेन महाविष्णु जैसे हैं। उनको समष्टि-अन्तर्यामी पुरुष भी कहा जाता है॥१४॥

श्लोक १५

वामाङ्गादसृजद्विष्णुं दक्षिणाङ्गात् प्रजापतिम्।
ज्योतिर्लिङ्गमयं शम्भुं कूर्च्चदेशादवासृजत्॥१५॥

अन्वय—वामाङ्गात् (वे कारणार्णवशायी महाविष्णु अपने वाम अङ्गसे) विष्णुं (विष्णुको), दक्षिणाङ्गात् (दाहिने अङ्गसे) प्रजापतिम् (हिरण्यगर्भ नामके प्रजापतिको) कूर्च्चदेशात् (एवं भौहोंके मध्य भागसे) ज्योतिर्लिङ्गमय शम्भुं (पहले कहे हुए ज्योतिरूप सनातन शम्भुके अंश विशेष ज्योतिर्लिङ्गमय

शम्भुको) असृजत् (सृजन किया अर्थात् श्रीविष्णु, प्रजापति और शम्भु—इन तीनोंको अनन्त करोड़ ब्रह्माण्डोंका यथाक्रमसे पालक, सृजक और संहारक एवं प्रत्येक ब्रह्माण्डके मध्यवर्ती विष्णु, प्रजापति और शम्भुको प्रेरक रूपमें सृजन किया है॥१५॥

अनुवाद—उन महाविष्णुने अपने बाँये अङ्गसे विष्णुका, दाहिने अंगसे प्रजापतिका और कूर्च्चदेश अर्थात् दोनों भौंओंके मध्यसे ज्योतिर्लिङ्गमय शम्भुका सृजन किया॥१५॥

टीका—पुनः किं चकार? तत्राह,—वामाङ्गादिति। विष्ण्वादय इमे सर्वेषामेव ब्रह्माण्डानां पालकादयः प्रतिब्रह्माण्डान्तःस्थितानां विष्ण्वादीनां चेश्वराणां प्रयोक्तारः। यथा प्रतिब्रह्माण्डं तथाधिब्रह्माण्डमण्डलमभ्युपगन्तव्यमिति भावः; येषु प्रजापतिरयं हिरण्यगर्भरूप एव न तु वक्ष्यमाणचतुर्मुखरूप एव; सोऽयं तत्तदावरणगत-तत्तद्देवानां स्रष्टेति। विष्णुशम्भू अपि तत्तत्पालनसंहारकर्त्तारौ ज्ञेयौ। 'कूर्च्चदेशात्' भ्रुवोर्म्मध्यात्। एषां जलावरण एव स्थानानि ज्ञेयानि॥१५॥

अनुवाद—श्रीमहाविष्णुने फिर क्या किया? इसके उत्तरमें कहते हैं—'वामाङ्गात्' उन्होंने अपने बाँये अङ्गसे विष्णुको, दाहिने अङ्गसे प्रजापतिको और भौओंके मध्यसे शम्भुको प्रकट किया। ब्रह्मा, विष्णु और महेश सारे ब्रह्माण्डोंके स्रष्टा, पालक और संहारकर्ता हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डस्थित श्रीविष्णु अपने अंशरूप ब्रह्मा और शिवके प्रेरक हैं; अर्थात् उन्हींके प्रेरणासे ब्रह्मा सृष्टिकार्यमें तथा महेश संहारकार्यमें तत्पर होते हैं। यहाँ प्रजापति शब्दसे हिरण्यगर्भ-गर्भोदशायी महाविष्णुको समझना चाहिए। चतुर्मुख ब्रह्माको भी कहीं कहीं प्रजापति कहा गया है, परन्तु यहाँ पर चतुर्मुख ब्रह्माके लिए प्रजापति नहीं कहा गया है। वे हिरण्यगर्भ पुरुष अपने आवरणगत देवताओंके सृष्टिकर्त्ता हैं। विष्णु और शम्भु भी अपने ब्रह्माण्डके पालन तथा संहारकर्त्ता हैं।

कूर्च देश अर्थात् दोनों भौओंके मध्यवर्ती भागसे—यहींसे शम्भुकी उत्पत्ति हुई है। महाविष्णुका जो स्थान है—वह जल आवरण है। उसीमें उनका निवासस्थान माना जाता है॥१५॥

तात्पर्य—व्यष्टि-जीवके अन्तर्यामी क्षीरोदशायी पुरुष ही श्रीविष्णु हैं और समष्टि-जीवोंके अन्तर्यामी गर्भोदशायी विष्णु हैं। ये हिरण्यगर्भरूप भगवदंश ही प्रजापति हैं; ये चतुर्मुख ब्रह्मासे पृथक् हैं। ये हिरण्यगर्भ ही अनन्त ब्रह्माण्डोंके प्रत्येक ब्रह्माके बीज-तत्त्व हैं। ज्योतिर्लिङ्गमय शम्भु—उनके मूलतत्त्व आदिलिङ्गरूप शम्भुके प्रभूत प्रकाश विशेष हैं। श्रीविष्णु—महाविष्णुके

स्वांश-तत्त्व हैं। अतएव वे सर्वमहेश्वर तत्त्व हैं। प्रजापति और शम्भु ये दोनों महाविष्णुके विभिन्नांश-तत्त्व हैं। अतएव ये आधिकारिक देवता-विशेष हैं। अपनी शक्ति बाँयी ओरमें रहती है, इसी नियमके अनुसार महाविष्णुके चित्-शक्तिरूप शुद्धसत्त्वसे ही बाँये अङ्गमें विष्णुका उदय हुआ है अर्थात् भगवान्के शुद्धसत्त्वसे विष्णुका प्रादुर्भाव होता है।

विष्णु ही ईश्वररूपमें प्रत्येक जीवके अन्तर्यामी परमात्मा हैं। वेदोंमें उनको 'अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष' कहा गया है। वे ही पालनकर्ता हैं। कर्मी लोग 'यज्ञेश्वर नारायणके' रूपमें उनकी पूजा करते हैं। योगिगण 'परमात्मा' रूपमें इनका ध्यान करते हुए समाधिकी अभिलाषा करते हैं॥१५॥

श्लोक १६

अहंकारात्मकं विश्वं तस्मादेतद्व्यजायत॥१६॥

अन्वय—तस्मात् (उन शम्भुसे ही) अहंकारात्मकं (अहंकार-स्वरूप) एतद्विश्वं (यह विश्व) व्यजायत (उत्पन्न हुआ है)॥१६॥

अनुवाद—जीवके विषयमें शम्भुका कार्य यह है कि उस शम्भुसे अहंकारात्मक विश्व उत्पन्न हुआ है॥१६॥

टीका—तत्र शम्भोः कार्य्यान्तरमप्याह,—अहङ्कारात्मकमित्यर्द्धेन। 'एतद्विश्वं' तस्मादेव 'अहङ्कारात्मकं' 'व्यजयात' बभूव,—विश्वस्याहङ्कारात्मकता तस्माज्जातेत्यर्थः, सर्वाहङ्काराधिष्ठातृत्वात्तस्य॥१६॥

टीकानुवाद—यहाँ शम्भुके दूसरे-दूसरे कार्योंका वर्णन किया जा रहा है। यह अहंकारात्मक विश्व उन्हींसे उत्पन्न हुआ है। इसलिए इनको अहंकार स्वरूप कहा है। अतएव समस्त अहंकारके अधिष्ठातृ देवता शम्भु हैं।

जैसे श्रीमद् भागवतमें कहा है—(३.२६.२४) भगवान्का वीर्य अर्थात् चित्-शक्ति सम्भूत महत्तत्व विकार प्राप्त होनेपर उससे क्रियाशक्ति सम्पन्न त्रिविध अहंकार उत्पन्न हुए। उक्त वैकारिक अर्थात् सात्त्विक, तैजस अर्थात् राजसिक और तामस—इन तीन प्रकारके अहंकारसे मन, इन्द्रियाँ और प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। इसलिए इनको समस्त अहंकारका अधिष्ठातृ देवता कहते हैं। विद्वानोंने इनको अनन्तदेव भी कहा है। ये भूत, इन्द्रियों और मनके भी कारण हैं॥१६॥

तात्पर्य—मूलरूपसे अर्थात् अप्राकृत स्वरूपमें भगवत्तत्त्व पृथक् अभिमान-रहित शुद्ध सत्त्वमय है। मायिक जगतमें जो पृथक्-पृथक् अभिमानरूप लिङ्ग अर्थात् चिह्न-स्वरूप पृथक् सत्ताका उदय होता है, वह

उसी शुद्ध–सत्ताका ही मायिक प्रतिफलन है। यही आदि–शम्भुरूपमें रमादेवीके विकाररूप मायिक योन्यात्मक आधार–तत्त्वसे मिलित होता है। उस समय शम्भु—केवल द्रव्य–व्यूहात्मक उपादान तत्त्व होते हैं। पुनः जब तत्त्वके विकास–क्रमसे प्रत्येक ब्रह्माण्ड प्रकाशित होता है, तब भ्रू–प्रदेशसे उत्पन्न शम्भु–तत्त्वमें भी विकासरूप रुद्र–तत्त्व उदित हो जाते हैं। फिर भी सभी अवस्थाओंमें शम्भुतत्त्व—अहंकारात्मक रहता है। परमात्माके चित् किरणसे उदित चित्कण अनन्त जीवसमूह अपनेको भगवान्‌का दास अभिमान करनेपर उनका मायिक जगत्‌के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, तब वे वैकुण्ठगत होते हैं। जब उस शुद्ध अभिमानको भूलकर जीव मायाका भोक्ता बनना चाहता है तभी उन शम्भुका अहंकार–तत्त्व उनकी सत्तामें प्रवेशकर उनमें पृथक् भोक्ताका अभिमान ला देता है। अतएव शम्भु ही अहंकारात्मक विश्व हैं और वे ही जीवोंके मायिक देहात्म–अभिमानके भी मूलतत्त्व हैं॥१६॥

श्लोक १७

अथ तैस्त्रिविधैर्वेशैर्लीलामुद्वहतः किल ।
योगनिद्रा भगवती तस्य श्रीरिव सङ्गता ॥१७॥

अन्वय—अथ (तदनन्तर अर्थात् वे ही कारणार्णवशायी महापुरुष भगवान् गर्भोदशायीरूपसे प्रत्येक ब्रह्माण्डमें प्रवेश कर) तैः त्रिविधैः वेशैः (पूर्व सृष्ट विष्णु, प्रजापति और शम्भुकी भाँति पुनः प्रत्येक ब्रह्माण्डगत विष्णु आदिका सृजनकर उन त्रिविध रूपोंके द्वारा) लीलाम् (प्रत्येक ब्रह्माण्डके अन्तर्गत पालन, सृजन और संहार रूप कार्य) उद्वहतः तस्य (सम्यक् रूपसे सम्पादन करनेवाले उन गर्भोदशायीकी) भगवती (सर्वैश्वर्यमयी) योगनिद्रा (पूर्वोक्त महायोगनिद्राके अंशभूता स्वरूपशक्ति) श्रीरिव सङ्गता (कारणार्णवशायीमें स्वरूपशक्तिके अंशसे मिलनकी भाँति गर्भोदशायीमें भी अंशसे मिलित होती है। अर्थात् भगवान् गर्भोदशायी भी योगनिद्रामें शयन करते हैं॥१७॥

अनुवाद—तदनन्तर वे महापुरुष भगवान् ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट प्रजापति, विष्णु और शंभु रूपमें विश्वका पालन, सृजन तथा संहाररूपी लीला किया करते हैं। यह लीला जड़ीय मायाके अन्तर्गत है। अतएव उसके तुच्छ होनेके कारण वे अपनी चित् शक्तिकी अंशभूता स्वरूपानन्द–समाधिमयी भगवती योगनिद्राके साथ संग करते हैं॥१७॥

टीका—ब्रह्माण्डप्रविष्टस्य तु तत्तद्रूपस्य लीलामाह,—अथ तैरित्यादि। 'तैः'

तत्सदृशैः 'त्रिविधैः' प्रतिब्रह्माण्डगतविष्ण्वादिभिः 'वेशैः' रूपैः 'लीलां' ब्रह्माण्डान्तर्गतपालनादिरूपाम् 'उद्वहतः' ब्रह्माण्डान्तर्गतपुरुषस्येति तामुद्वहति तस्मिन्नित्यर्थः। 'योगनिद्रा' पूर्वोक्त-महायोगनिद्रांशभूता 'भगवती' स्वरूपानन्द-समाधिमयत्वादन्तर्भूतसर्वैश्वर्यैः, 'सङ्गता श्रीरिव' इति—तत्र यथा श्रीरप्यंशेन सङ्गता तथा सापीत्यर्थः॥१७॥

अनुवाद—ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी लीलाका प्रस्तुत श्लोकमें वर्णन करते हैं। भगवान् विष्णु ब्रह्माण्डके अन्दर प्रवेशकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीन रूपोंसे संसारका सृजन, पालन तथा संहारका कार्य करते हैं। यहाँ 'योगनिद्रा भगवती तस्य श्रीरिवसङ्गता'का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा और शंभु—दोनों भगवत्तत्त्वसे पृथक् अभिमानके कारण चिच्छक्तिकी छायारूपिणी अपनी-अपनी सावित्री और उमारूपा अपराशक्तिके साथ विलास करते हैं। परन्तु भगवान् विष्णु—भगवती महायोगनिद्राके साथ अंश-स्वरूपा स्वरूपानन्द समाधिमयी रमादेवी या श्रीलक्ष्मीके साथ संग (शयन) करते हैं। 'श्रीरिव'का तात्पर्य यह है कि ये रमादेवी—मूल वैकुण्ठेश्वरी लक्ष्मीदेवीका अंश हैं॥१७॥

तात्पर्य—विभिन्नांशरूप प्रजापति ब्रह्मा और शम्भु—ये दोनों भगवत्-तत्त्वसे पृथक् अभिमानके कारण चित्-शक्तिकी छायारूपा अपनी-अपनी सावित्री और उमारूपा अपरा शक्तिके साथ विलास करते हैं। भगवान् विष्णु ही एकमात्र चित्-शक्तिरूपा रमा या लक्ष्मीके पति हैं॥१७॥

श्लोक १८

सिसृक्षायां ततो नाभेस्तस्य पद्मं विनिर्ययौ।
तन्नालं हेमनलिनं ब्रह्मणो लोकमद्भुतम्॥१८॥

अन्वय—ततः (उसके पश्चात्) तस्य (उस गर्भोदशायी विष्णुकी) सिसृक्षायां (सृष्टि करने की इच्छा होने पर) नाभेः (उनके नाभि पद्मसे) हेमनलिनं पद्मं (सुवर्णकी भाँति एक कमल) विनिर्ययौ (प्रकाशित हुआ) तन्नालं (उसके नाल अर्थात् डण्डीसे) ब्रह्मणः अद्भुतम् लोकम् (ब्रह्माका अद्भुत चौदह भुवनात्मक लोक उत्पन्न हुआ)॥१८॥

अनुवाद—गर्भोदशायी विष्णुकी सृष्टि करनेकी इच्छा होनेपर उनकी नाभिसे एक स्वर्ण कमल उत्पन्न हुआ। उसी स्वर्णकमलसे सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा आविर्भूत हुए। वही नालयुक्त अद्भुत स्वर्ण-कमल ब्रह्माका निवास-स्थानरूप ब्रह्मलोक

या सत्यलोक है॥१८॥

टीका—ततश्च सिसृक्षायामिति। 'नालं' नालयुक्तं तत् 'हेमनलिनं', ब्रह्मणो जन्मशयनयोः स्थानत्वात् 'लोकः' इत्यर्थः॥१८॥

टीकानुवाद—वह नालयुक्त स्वर्ण कमल ब्रह्माजीके जन्म और शयनका स्थान है। इसीलिए उसको 'ब्रह्मलोक' कहा जाता है॥१८॥

तात्पर्य—यहाँ 'स्वर्ण' कहनेसे चिदाभासका ही बोध होता है॥१८॥

श्लोक १९

तत्त्वानि पूर्व्वरूढ़ानि कारणानि परस्परम्।
समवायाप्रयोगाच्च विभिन्नानि पृथक् पृथक्॥
चिच्छक्त्या सज्जमानोऽथ भगवानादिपूरुषः।
योजयन् मायया देवो योगनिद्रामकल्पयत्॥१९॥

अन्वय—कारणानि तत्त्वानि पूर्वारूढ़ानि च (स्थूल ब्रह्माण्ड सृष्टिके कारण-स्वरूप) [१३ श्लोकमें वर्णित] अपञ्चीकृत अमिश्रित सूक्ष्म पञ्चभूतरूप तत्त्व-समुदाय पहले उत्पन्न होने पर भी) समवायाप्रयोगात् (उनके समवाय अर्थात् पञ्चीकरण या एकत्रीकरणके अभाव हेतु) परस्परं पृथक् पृथक् (वे एक-दूसरेसे पृथक्-पृथक् रूपमें ही) विभिन्नानि (भिन्न-भिन्न रूपमें थे) चिच्छक्त्या सज्जमानः (स्वरूप शक्तिके साथ सङ्ग प्राप्त) देवः (क्रीड़ाशील) भगवान् आदिपुरुषः (सर्वैश्वर्य पूर्ण आदिपुरुष कारणार्णवशायी महाविष्णु) मायया योजयन् (पृथक्-पृथक् तत्त्वोंको मायाके साथ संयोगकर पञ्चीकरणके द्वारा अगणित स्थूल ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि की) अथ (अनन्तर) योगनिद्राम अकल्पयत् (स्वयं चिच्छक्तिके साथ सम्भोगरूप योगनिद्राका आश्रय किया अर्थात् अनन्त शय्या पर शयन किया)॥१९॥

अनुवाद—पञ्चीकरणसे पहले मूल भूतसमूह रूढ़भावसे भिन्न-भिन्न रूपोंमें पृथक्-पृथक् थे। एकत्रीकरण या समवायका अप्रयोग ही उसका कारण था। आदिपुरुष भगवान् महाविष्णुने अपनी चित्-शक्तिके सङ्ग द्वारा मायाको परिचालित कर समवाय-प्रयोगके द्वारा उन पृथक्-पृथक् तत्त्वोंको मिलाकर संसारकी सृष्टि की। इस प्रकार सृष्टिका कार्य सम्पन्न कर वे स्वयं चित्-शक्तिके सम्भोगरूप योगनिद्रामें निरत हुए॥१९॥

टीका—तथाऽसंख्यजीवात्मकस्य समष्टिजीवस्य प्रबोधं वक्तुं पुनः कारणार्णोनिधिशायिनस्तृतीयस्कन्धोक्तानुसारिणीं सृष्टिप्रक्रियां विवृत्याह,—तत्त्वानीति त्रयेण। तत्र द्वयमाह,—'मायया' स्वशक्त्या 'परस्परं तत्त्वानि योजयन्'

इति योजनान्तरमेव निरीहतया 'योगनिद्राम्' एव स्वीकृतवानित्यर्थः॥१९॥

टीकानुवाद—इस प्रकार असंख्य जीवात्मक-समष्टि—जीवरूप विराट्-पुरुषके प्रबोधनरूप सृष्टि-कार्यको बतलानेके लिए पुनः श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्धमें वर्णित कारणार्णवशायीकी सृष्टि-प्रक्रियाको सुस्पष्टरूपसे कह रहे हैं। माया अर्थात् अपनी चित्-शक्तिके प्रभावसे अमिश्रित अलग-अलग पञ्चभूत तत्त्वोंको परस्पर संयोजित करके विश्वकी सृष्टि सम्पन्न कर वे लीलामय आदिपुरुष भगवान् कारणार्णवशायी सृष्टिकार्यसे निःस्पृह होकर अपनी चिच्छक्ति रमादेवीके साथ योगनिद्रामें निरत हो गये।

एतान्यसंहत्य यदा महदादीनि सप्त वै।
कालकर्मगुणोपेतो जगदादिरूपाविशत्॥
(श्रीमद्भा. ३/२६/५०)

अर्थात् ये समस्त महत्तत्व, अहंकार और पञ्च महाभूत (सप्त तत्त्व) जब असंयुक्त रूपसे थे, तब जगत्-कारण भगवान्ने काल, कर्म और गुण युक्त होकर उस ब्रह्माण्डके अन्दर प्रवेश किया। उनके प्रवेशके कारण समस्त पदार्थ क्षोभित होकर परस्पर सम्मिलित हुये। तब उससे एक अचेतन अण्ड उत्पन्न हुआ। उस अण्डसे विराट् पुरुष प्रकट हुये। वह अण्ड नाम विशेष, प्रधान और प्रकृतिके द्वारा आवृत तथा बाहर दश-दश गुणा अधिक परिवर्द्धित एवं जल आदि भूतोंके द्वारा आच्छादित हैं।

इस प्रकार जलशायित वह महान् देव उस अण्डसे उठकर उदासीनताको परित्याग करके उस अण्डके भीतर बहुत प्रकारके छिद् भेद प्रकाश करने लगे। जिससे उस अण्डसे मुख, वाणी और अग्नि प्रकट हुये। इस प्रकार नासिका, प्राणवायु एवं घ्राणेन्द्रियकी उत्पत्ति हुई। पुनः उनके नेत्रद्वय, नेत्रोंके अधिष्ठाता सूर्य एवं कर्ण गोलक, उससे श्रवण इन्द्रियकी भी उत्पत्ति हुई।

अनन्तर उनके चर्म, रोम, अश्रु, शिश्न, पायु, हस्त, चरण आदि उत्पन्न हुये।

समस्त देवताओंने इन्द्रियोंके अधिष्ठाता होकर उस विराट्के अन्दर प्रवेश किया परन्तु विराट् पुरुष जाग्रत नहीं हुये। उनमें मन, बुद्धि, अहंकार आदिके होनेपर भी जब जागे नहीं तब अन्तमें चित्तके अधिष्ठातृ देवता अन्तर्यामी पुरुष चित्तसे हृदयमें प्रवेश किया। उस समय विराट् इस सलिलमें उदित हुए। इसलिए प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और चित्तके अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञ पुरुषके बिना जलशायी प्रषुप्त विराट् पुरुषको जगानेमें किसीकी सामर्थ्य नहीं है।

इस प्रकार भगवानने तत्त्व समुदायको समवाय प्रयोगसे सम्मिलित कर विराटको सृष्टिके लिए जगाया। दूसरे उन्होंने इन सबको कार्यमें नियुक्त कर स्वयं निरीह निःस्पृह होकर योगनिद्राको स्वीकार किया॥१९॥

तात्पर्य—'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'—इस गीता-वाक्यका तात्पर्य यह है कि सृष्टिसे पूर्व चिच्छक्तिकी छायारूपा मायादेवी निष्क्रियरूपमें थी; उसके उपादान-अंशगत द्रव्यसमूह भी अलग-अलग अमिश्रित अवस्थामें थे। कृष्णकी इच्छासे अर्थात् महाविष्णुके प्रभावसे उस मायाके निमित्तांश और उपादानांश संयोजित होने पर कार्यरूपी यह जगत उत्पन्न हुआ। ऐसा सम्पन्न होने पर भगवान् स्वयं उस सम्बन्धमें चिच्छक्ति-योगनिद्रामें निरत हुए। 'योगमाया' या 'योगनिद्रा'-शब्दसे यह समझना चाहिए कि चिच्छक्तिका स्वभाव प्रकाशमय है; किन्तु उनकी छाया—मायाशक्तिका स्वभाव जड़-तमोमय है। जिस समय जड़-तमोमय विषयमें कुछ प्रकाश करनेके लिए कृष्णकी इच्छा होती है, उस समय वे अपनी चित्शक्तिके प्रभावको निष्क्रिय छायारूपा मायाके साथ संयोग कर उक्त विश्व-सृष्टिरूप कार्यका सम्पादन करते हैं; इसीको योगमाया कहते हैं। इसमें दो प्रकारकी प्रतीतियाँ हैं—वैकुण्ठनिष्ठ प्रतीति और दूसरी जड़तमोनिष्ठ प्रतीति। श्रीकृष्ण, श्रीकृष्णके स्वांश और शुद्ध विभिन्नांश-जीवगण—ये वैकुण्ठनिष्ठ-प्रतीतिका अनुभव करते हैं; किन्तु जड़बद्ध जीवगण इस कार्यमें जड़-तमोनिष्ठ-प्रतीतिको ही अनुभव करते हैं। बद्ध जीवोंकी अनुभव-क्रियामें चिदनुभवके आवरणको ही योगनिद्रा कहा गया है; यह भी भगवत्-शक्तिका प्रभाव है। आगे इस तत्त्वका और भी विशद्‌रूपसे विवेचन किया जायेगा॥१९॥

श्लोक २०

योजयित्वा तु तान्येव प्रविवेश स्वयं गुहाम् ।
गुहां प्रविष्टे तस्मिंस्तु जीवात्मा प्रतिबुद्धते ॥२०॥

अन्वय—तानि योजतित्वा एव तु (उन अलग-अलग तत्त्वोंका पञ्चीकरणके द्वारा मिश्रणकर, अनन्त करोड़ स्थूल मायिक ब्रह्माण्डोंका सृजन किया) स्वयं गुहाम् प्रविवेश (स्वयं गुहामें अर्थात् प्रत्येक विराट्-विग्रह या समष्टि जीव रूप हिरण्यगर्भ प्रजापतिके अन्तस्थलमें प्रविष्ट हुए) तस्मिन् गुहां प्रविष्टे तु (वे अन्तस्थलमें प्रवेश करने पर ही) जीवात्मा प्रतिबुध्यते (विराट् विग्रह या समष्टि जीवात्मा प्रलयकालीन निद्रासे जाग्रत हुए॥२०॥

अनुवाद—उस समय भगवान्ने पृथक्-पृथक् तत्त्वोंको एक साथ मिलाकर अनन्त मायिक ब्रह्माण्डको प्रकाशित किया। तदनन्तर वे स्वयं अपनी गुहामें अर्थात् प्रत्येक विराट् विग्रहके अन्तःस्थलमें प्रविष्ट हुए। उस समय प्रलयकालमें सोये हुए सारे जीव जग उठे॥२०॥

टीका—अथ तृतीयं,—योजयित्वेति। 'योजयित्वा' तद्योजन-योगनिद्रयोरन्त-रसावित्यर्थः। 'गुहां' प्रति; विराड्विग्रहो 'प्रतिबुध्यते' प्रलयस्वापाज्जागर्त्ति॥२०॥

टीकानुवाद—अनन्तर भगवान्की तीसरी प्रकारकी कार्य-शैलीका वर्णन करते हैं। भगवान्ने अलग-अलग भूत-तत्त्वोंको परस्पर संयोजित कर योगनिद्राको अङ्गीकार किया। वे उन तत्त्वोंकी योजना और योगनिद्रा अङ्गीकार—इन दोनों कार्योंके मध्यमें अपनी गुहा—विराट् शरीरमें प्रविष्ट हुए। तदनन्तर प्रलयकालमें सोये हुए सारे जीव जग गये अर्थात् अपने-अपने पूर्व संस्कारगत भोग और कर्मोंमें तत्पर हो उठे॥२०॥

तात्पर्य—शास्त्रोंके विभिन्न स्थानोंमें 'गुहा'-शब्दके अनेकानेक अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं। किसी स्थान पर अप्रकट-लीलाको 'गुहा' कहा गया है; किसी जगह व्यष्टि-अन्तर्यामीके स्थानको 'गुहा' बतलाया गया है; और बहुतसे स्थलोंमें प्रत्येक जीवके हृदय-विवरको 'गुहा' कहा गया है। सार बात यह है कि साधारण लोगोंके अप्रकाशित स्थानको 'गुहा' कहा जाता है। पूर्व कल्पमें जो असंख्य जीव महाप्रलयके समय ब्रह्माजीकी आयु-समाप्तिके पश्चात् उन्हींके साथ श्रीहरिके अंगमें लीनप्राय थे, वे पूर्व-कर्मवासनाके अनुसार पुनः जगत्में प्रकट हो गये॥२०॥

श्लोक २१

स नित्यो नित्यसम्बन्धः प्रकृतिश्च परैव सा॥२१॥

अन्वय—सः नित्यः (वे असंख्य जीवात्मक समष्टि जीव अनादि अनन्तकाल व्यापी हैं) एवं नित्य सम्बन्धः (और भगवान्‌के साथ उनका समवाय रूप नित्य सम्बन्ध है) सा च परा प्रकृतिः एव (एवं वह समष्टि जीव भगवान्‌की तटस्था नामक परा प्रकृति है)॥२१।।

अनुवाद—वे जीव नित्य हैं तथा भगवान्‌के साथ उनका अनादि-अनन्तकालव्यापी नित्य सम्बन्ध है, वे परा-प्रकृतिस्वरूप हैं॥२१॥

टीका—तयोः स्वाभाविकीं स्थितिमाह,—स नित्य इत्यर्द्धेन। 'नित्यः' अनाद्यनन्तकालभावी, 'नित्यसम्बन्धः' भगवता सह नित्यः सम्बन्धः समवायो यस्य सः, सूर्येण तद्‌रश्मिजालस्येवेति भावः। "यत्तटस्थन्तु चिद्रूपं सम्वेदात्तु विनिर्गतम् रञ्जितं गुणरागेण स जीव इति कथ्यते॥"—इति श्रीनारदपञ्चरात्रात्; तथा च श्रीगीतासु—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति। अतएव 'प्रकृतिः' साक्षिरूपेण स्वरूपस्थित एव बिम्बप्रतिबिम्बप्रमातृरूपेण प्रकृतिमिव प्राप्तश्चेत्यर्थः— "प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूताम्" इति श्रीगीतास्वेव च, "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इति श्रुतिश्च नित्यसम्बन्धं दर्शयति॥२१॥

टीकानुवाद—'स नित्य':—इस आधे श्लोकके द्वारा जीवकी स्वाभाविकी स्थितिका वर्णन किया जा रहा है। जीवात्मा नित्य है अर्थात् अनादि अनन्त काल-स्थायी है। भगवान्‌के साथ जीवका नित्य-सम्बन्ध—समवाय-सम्बन्ध है। जिस प्रकार सूर्यके साथ सूर्य-रश्मिका नित्य सम्बन्ध है; उसी प्रकार भगवान्‌के साथ भी जीवका नित्य सम्बन्ध है। श्रीनारद पञ्चरात्रमें भी ऐसा ही कहा गया है—

'यत्तटस्थन्तु चिद्रूपं सम्वेदात्तु विनिर्गतम्।
रञ्जितं गुणरागेण स जीव इति कथ्यते॥'

अर्थात् जो तटस्था-शक्ति-सम्पन्न है एवं चिद्रूपा सम्वित्‌से प्रकाशित हुआ है, परन्तु मायाके गुण-रागके द्वारा रञ्जित है, उसे जीव कहा जाता है।

गीतामें भी कहा गया है—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'—अर्थात् जीव मेरा ही अंश है। वह जीव स्वरूपमें सदा अवस्थित रहता है—इसलिए वह सनातन है। अतएव उस जीवको परा प्रकृति कहते हैं। 'प्रकृति' अर्थात् जीव साक्षीरूपसे भगवानके स्वरूप-स्थित बिम्बका प्रतिबिम्बस्वरूप है। प्रमातृ

रूपसे अर्थात् ज्ञाता रूपसे प्रकृतिकी भाँति प्राप्त हुई है। इसलिए गीतामें भी कहा है—'प्रकृतिं विद्धि मे पराम्', 'जीवभूताम्' अर्थात् जीव मेरी परा-प्रकृति है।

श्रुति भी 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'—इस मंत्रके द्वारा जीवोंके नित्य-स्वरूपका प्रतिपादन करती है; क्योंकि इस मंत्रमें जीवात्मा और परमात्मा, दोनोंका एक ही पीपल वृक्षकी डाल पर बैठे हुए पक्षी स्थानीय सखाके रूपमें वर्णन किया गया है॥२१॥

तात्पर्य—जैसे सूर्यके साथ सूर्य-किरणोंका सम्बन्ध नित्य है, वैसे ही चिन्मय-सूर्य भगवान्के साथ जीवोंका नित्य सम्बन्ध है। जीवगण—भगवान्के चित्-किरण-कण हैं। अतएव मायिक वस्तुकी भाँति वे अनित्य नहीं हैं। चित्किरण-कण होनेके कारण जीवोंके स्वरूपमें भी श्रीकृष्णके चिन्मयगुणोंके कण अर्थात् आंशिक गुण होते हैं। अतएव जीव—ज्ञानस्वरूप, ज्ञातृस्वरूप, अहंता-भावस्वरूप, भोक्तृस्वरूप, मन्तृस्वरूप और कर्त्तृस्वरूप है। श्रीकृष्ण—विभु हैं; जीव—भगवान्का नित्य दास है। भगवान्—जीवोंके नित्य प्रभु हैं। भगवद्रसके विषयमें भी जीवोंका यथेष्ट अधिकार है। 'अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्'—इस गीता वाक्यसे यह जाना जाता है कि जीव श्रीकृष्णकी परा-प्रकृति है। शुद्ध जीवात्माके सारे गुण अपरा-प्रकृतिगत अहंकार आदि आठ-गुणोंसे अतीत हैं; अतएव जीवशक्ति क्षुद्र (चित्कण-स्वरूप) होने पर भी मायासे श्रेष्ठ है। इस शक्तिका दूसरा नाम—तटस्था-शक्ति है अर्थात् यह माया और चित्-तत्त्व दोनोंके मध्य सीमारेखा पर अवस्थित है। अणु होनेके कारण मायाके वशीभूत होने योग्य है; किन्तु मायाके प्रभु श्रीकृष्णके वशीभूत (अनुगत) रहने पर कभी भी मायाके वशीभूत नहीं होना पड़ता है। अनादिबद्ध जीव ही सांसारिक क्लेश भोगते हैं और उनका ही पुनः-पुनः संसारमें आवागमन होता है॥२१॥

श्लोक २२

एवं सर्वात्मसम्बन्धं नाभ्यां पद्मं हरेरभूत्।
तत्र ब्रह्माभवद्भूयश्चतुर्वेदी चतुर्मुखः॥२२॥

अन्वय—एवं हरेः नाभ्यां (इस प्रकार प्रथम पुरुषावतार कारणार्णवशायी गर्भोदशायीरूपसे ब्रह्माण्डमें प्रवेश करने पर उन द्वितीय-पुरुष गर्भोदशायी विष्णुकी नाभिसे) सर्वात्म सम्बन्धं पद्मं अभूत् (समष्टि-जीवोंके अधिष्ठानरूप अर्थात् चौदह-भुवनात्मक एक कमल उत्पन्न हुआ, वही समष्टि-जीवात्म देहाभिमानी हिरण्यगर्भ रूप मूल ब्रह्मा) तत्र भूयः (उस कमलमें पुनः उन हिरण्यगर्भ ब्रह्मासे ही) चतुर्वेदी चतुर्मुखः ब्रह्मा अभवत् (चतुर्वेदज्ञ और चतुर्मुख भोग-विग्रह ब्रह्मा उत्पन्न हुए)॥२२॥

अनुवाद—श्रीविष्णुके नाभिदेशसे जो कमल उत्पन्न हुआ, वह सर्वात्म-सम्बन्धयुक्त था। उसी कमलसे चतुर्मुख चतुर्वेदी ब्रह्मा प्रकट हुए॥२२॥

टीका—अथ तस्य समष्टिजीवाधिष्ठानत्वं गुहा-प्रविष्टात् पुरुषत्वादुपपन्नमित्याह,—एवमिति। ततः समष्टिदेहाभिमानिनस्तस्य हिरण्यगर्भ-ब्रह्मणस्तस्मात् भोगविग्रहाद्युत्पत्तिमाह,—तत्रेति॥२२॥

टीकानुवाद—अनन्तर गुहा-प्रविष्ट पुरुषसे समष्टि-जीवाधिष्ठानरूप कमल उत्पन्न हुआ; तदनन्तर समष्टि-देहाभिमानी हिरण्यगर्भ ब्रह्मा और तत्पश्चात् हिरण्यगर्भ ब्रह्मासे भोगविग्रह—चतुर्वेद-ज्ञाता चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। श्रीहरिके नाभिदेशसे उत्पन्न कमल और डंडी—चतुर्दश भुवनोंका अधिष्ठान है। उसी कमलसे हिरण्यगर्भ ब्रह्माके भोग-विग्रह-स्वरूप चतुर्वेद ज्ञाता चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। यहाँ 'भोग-विग्रह'का तात्पर्य यह है कि पूर्व कल्पकी उनकी कर्मफल-भोग-वासनाके संस्कारके अनुसार उनका यह वर्तमान चतुर्मुख शरीर—भोगायतन देह है। पूर्व-संस्कारके कारण ही उत्पन्न होते ही उनको संसार-सृष्टिकी इच्छा हुई॥२२॥

तात्पर्य—ब्रह्माण्डरूपी गुफामें प्रविष्ट पुरुषसे ही समष्टि जीवोंके अधिष्ठान-स्वरूप वह कमल प्रकाशित हुआ। समष्टि-देहाभिमानी हिरण्यगर्भरूप ब्रह्मासे ही भोगविग्रहस्वरूप चतुर्मुख ब्रह्माका जन्म हुआ। इस ब्रह्माको आधिकारिक-देवता कहा जाता है। ब्रह्माका जैसे आधिकारिक देवत्व है, वैसे ही उनका विभिन्नांश रूपमें कृष्णका अंशत्व भी सिद्ध है॥२२॥

श्लोक २३

सञ्जातो भगवच्छक्त्या तत्कालं किल चोदितः।
सिसृक्षायां मतिं चक्रे पूर्वसंस्कारसंस्कृतम्॥
ददर्श केवलं ध्वान्तं नान्यत् किमपि सर्वतः॥२३॥

अन्वय—सञ्जातः भगवच्छक्त्या चोदितः (चतुर्मुख ब्रह्माने जन्म प्राप्त कर भगवान्‌की शक्तिसे परिचालित होकर) किल तत्कालं पूर्व संस्कार संस्कृतम् (उस समय पूर्व संस्कारके अनुसार) सिसृक्षायां मतिं चक्रे (सृष्टि-कार्यके विषयमें मनोनिवेश किया) सर्वतः केवलं ध्वान्तं ददर्श (किन्तु उन्होंने चारों ओर केवल अन्धकार-ही-अन्धकार देखा) न अन्यत् किमपि (अन्य कुछ भी नहीं देख पाया)॥२३॥

अनुवाद—कमलसे प्रकट होकर भगवच्छक्तिसे परिचालित ब्रह्माजीने पूर्व संस्कारके अनुसार सृष्टिके विषयमें मनोनिवेश किया परन्तु उन्होंने चारों ओर अन्धकारके अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखा॥२३॥

टीका—अथ तस्य चतुर्मुखस्य चेष्टामाह,—सञ्जात इति सार्द्धेन। स्पष्टम्॥२३॥

टीकानुवाद—अथ—अनन्तर चतुर्मुख ब्रह्माकी चेष्टाका वर्णन करते हैं। 'सञ्जात' इस श्लोकके द्वारा। ब्रह्माजीने सर्वप्रथम संसारकी सृष्टि करनेके लिए इच्छा की, परन्तु चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार देखा और कुछ नहीं देखा।

और भी श्रीमद्भागवत (३/८/१५-१६)में वर्णन प्राप्त होता है—'ब्रह्मा उस कमलसे प्रकट होकर उसकी कर्णिकामें अवस्थान करने लगे परन्तु घोर अन्धकारके कारण वहाँ किसीको भी नहीं देख सके। उस समय चारों ओर दृष्टिनिक्षेप करते हुए एक ही साथ देखनेकी इच्छा की। इतनेमें ब्रह्माजीके चारों ओर चार मुँह प्रकट हो गये।

इस प्रकार प्रलयकालीन वायुवेग द्वारा प्रकम्पित घूर्णावर्त (भँवर युक्त) जल राशिसे जो पद्म उद्भूत हुआ था, उसमें आदिदेव ब्रह्मा अधिष्ठित थे परन्तु वे उस पद्मरूप अधिष्ठानतत्त्व, लोकतत्त्व और आत्मतत्त्वको साक्षात् रूपसे जान नहीं सके। पद्मपृष्ठमें उपवेशन करते हुए मैं कौन हूँ? इस जलमें अद्वितीय पद्म कहाँसे आया और कैसे उत्पन्न हुआ? निश्चित रूपसे इसके नीचे कुछ होगा और यह कमल जिसमें अधिष्ठित है उसका कोई आधार भी होगा।

इस प्रकार ब्रह्माजीने विचार विमर्शकर उस पद्मनालके छिद्र मध्यस्थित मार्गमें प्रवेश किया परन्तु कमलनालके अधिष्ठानस्वरूप नारायणके नाभिदेशके निकट जाकर भी अन्वेषण करते हुए वे कुछ भी नहीं समझ सके।

तब उस अन्वेषणसे निवृत्त होकर अपूर्ण मनोरथ ब्रह्माजीने फिरसे अपने अधिष्ठान स्वरूप कमलमें पुनरागमन किया और क्रमशः अन्तर्मुख वृत्तिके द्वारा जितश्वास होकर चित्तको एकाग्र करते हुये स्थिर आसनमें उपवेशन किया॥२३॥

तात्पर्य—ब्रह्माजीकी सृष्टि करनेकी इच्छा उनके पूर्व संस्कारके कारण ही हुई। प्रत्येक जीव अपने-अपने पूर्व संस्कारके अनुसार ही स्वभाव प्राप्त होता है; उस स्वभावके अनुसार ही जीवोंके हृदयमें विभिन्न प्रकारकी चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं। इसीको 'अदृष्ट' या 'कर्मफल' कहते हैं। पूर्वकल्पमें ब्रह्माने जैसे कर्म किये थे, उसके अनुसार ही उनके हृदयमें सृष्टि करनेकी इच्छा हुई। इसी प्रकार किसी-किसी योग्य जीवको ब्रह्मत्व-पदकी प्राप्ति भी होती है॥२३॥

श्लोक २४

उवाच पुरतस्तस्मै तस्य दिव्या सरस्वती।
कामकृष्णाय गोविन्द-ङे गोपीजन इत्यपि॥
वल्लभाय प्रिया वह्नेर्मन्त्रं ते दास्यति प्रियम्॥२४॥

अन्वय—तस्य दिव्या सरस्वती (श्रीभगवान्‌की दिव्य सरस्वती दैववाणीके रूपमें) पुरतः तस्मै उवाच (चारों ओर अन्धकार देखनेवाले ब्रह्माजीको सुनाती हुई कहने लगी) काम-कृष्णाय गोविन्द-ङे (काम-कामबीज अर्थात् 'क्लीं कृष्णाय' 'ङे' विभक्ति युक्त गोविन्द-शब्द अर्थात् गोविन्दाय) गोपीजन-वल्लभाय इति अपि ('गोपीजन वल्लभाय') वह्नेः प्रिया (एवं स्वाहा अर्थात् "क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन वल्लभाय स्वाहा" यह अष्टादशाक्षर) मन्त्रं ते प्रियम् दास्यति (ये मन्त्र ही तुम्हें अभीष्ट प्रदान करेंगे)॥२४॥

अनुवाद—श्रीभगवान्‌की दिव्या सरस्वतीने (दैववाणी) समस्त दिशाओंमें अन्धकार देखनेवाले ब्रह्माजीको सुनाते हुए इस प्रकार कहा—हे ब्रह्मन्! 'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन वल्लभाय स्वाहा'—यही मन्त्र तुम्हें अभीष्ट प्रदान करेगा॥२४॥

टीका—अथ तस्मिन् पूर्वोपासना-लब्धां भगवत्कृपामाह,—उवाचेति सार्द्धेन। स्पष्टम्॥२४॥

टीकानुवाद—दिव्या सरस्वतीजीने ब्रह्माजीको अत्यन्त सहज ही इस दुर्लभ कृष्ण-मंत्रको क्यों प्रदान किया? ऐसा भगवत्कृपासे ही संभव हुआ। अकस्मात् ऐसी कृपा क्यों हुई? क्योंकि पूर्व जन्ममें ब्रह्माजीने भगवत्-उपासना की थी, इसीलिए भगवत्कृपासे ही ऐसा संभव हुआ। यहाँ प्रस्तुत श्लोकमें उक्त भगवत्कृपाका वर्णन कर रहे हैं। शेष स्पष्ट है॥२४॥

तात्पर्य—कामबीज-संयुक्त अष्टादशाक्षर कृष्णमन्त्र ही सर्वोत्तम मन्त्र है। इसकी प्रवृत्ति दो प्रकारसे होती है। एक प्रकारकी प्रवृति यह है कि यह मन्त्र शुद्धजीवको परम चित्ताकर्षक गोकुलपति और गोपीजनपति श्रीकृष्णके

अष्टादशाक्षर मन्त्र

यह मन्त्रराज श्रीधाम वृन्दावनमें कल्पवृक्षके मूलमें योगपीठस्थित सहस्र-दल पद्मके ऊपर रत्न सिहांसनपर विराजमान सहस्र-सहस्र गोपीमण्डल द्वारा परिवेष्टित अनन्त माधुर्यमय श्रीराधा-गोविन्दयुगलके श्रीपादपद्मकी प्रेममयी सेवा प्राप्त करनेका परम उपाय-स्वरूप है।

यह मन्त्रराज पाँच पदोंमें विभक्त है—

इस मन्त्रराजमें आदि अक्षर 'क्लीं'—बीज या कामबीज है। इस बीजमें संयुक्त मंत्र है 'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन वल्लभाय स्वाहा'। इस मंत्रको षड्ङ्ग षटपदी मंत्र कहते हैं। इसके छह पद हैं—(१) कृष्णाय, (२) गोविन्दाय, (३) गोपीजन, (४) वल्लभाय, (५) स्वा, (६) हा। इन छह पदोंको उत्तरोत्तर न्यस्त करने पर मंत्रकी अवस्थिति होती है। क्लीं—यह आदि एकाक्षर बीज या कामबीज है। श्रीबृहद् गौतमीय तन्त्र तथा उपनिषदोंमें इसका इस प्रकार अर्थ पाया जाता है—श्रीभगवान्ने 'क्लीं' इस कामबीजके द्वारा विश्वकी सृष्टि की। इस कामबीजके अन्तर्गत 'क' कारसे जल, 'ल' कारसे पृथिवी, 'ई' कारसे अग्नि, नाद अर्थात् अर्द्धचन्द्रसे वायु एवं 'विन्दु' से आकाश उत्पन्न हुआ है। अतएव यह कामबीजात्मक मन्त्र ही समस्त प्राणियोंका आत्मस्वरूप या मूलकारण है।

रागमार्गके अनुसार अर्थ इस प्रकार है—जैसे 'क' कारसे सच्चिदानन्द-विग्रह परमपुरुष श्रीकृष्ण; 'ल' कारसे श्रीराधाकृष्णके प्रेमजनित परमानन्द सुख समुद्र; 'ई' कारसे नित्य वृन्दावनेश्वरी परमा प्रकृति श्रीराधा; नाद और बिन्दु अर्थात् चन्द्रबिन्दुसे श्रीराधाकृष्णके चुम्बनजनित परमानन्द माधुर्यका तात्पर्य है।

प्रति आकर्षित करता है—यही जीवकी चित्-प्रवृत्तिकी पराकाष्ठा है। साधक निष्काम होनेपर ऐसा सिद्ध प्रेम फल प्राप्त करता है। परन्तु सकाम साधकके लिए यह सर्वोत्तम मन्त्र केवल उसके मनोऽभीष्टको देनेवाला होता है।

कामबीज 'क्लीं' ही श्रीकृष्णका स्वरूप है। जैसे श्रीसनत्कुमार-संहितामें कहा गया है—हे नारद! यह कामबीज केवल अक्षरमय ही नहीं है, अपितु श्रीकृष्णका श्रीविग्रह-स्वरूप है। क्योंकि इसके अक्षरसमूह श्रीकृष्णके एक-एक अङ्ग हैं।

'क' कारसे श्रीकृष्णके शिरोदेशको (मस्तक, ललाट, भ्रूयुगल, नासिका, नेत्रद्वय और कर्णद्वय) समझना होगा। 'ल' कारसे उनके गण्डदेश, हनु (गण्डस्थलके ऊपरी भाग), चिबुक (थुथनी), ग्रीवा (गर्दन), कण्ठ और नखसमूहका बोध होता है।

अर्द्धचन्द्र—उनके वक्षस्थल, उदर, पार्श्वदेश, नाभि और कटिदेश हैं। 'विन्दु' से उनके ऊरु, जानु, जंघा और घुटनोंका मध्य भाग, गुल्फ, पद (पार्ष्णि), जंघाका निम्नप्रदेश एवं पद (चरणकी अङ्गुलियों) और नखसमूहको समझना चाहिए।

और भी कहा है—हे नारद! यह कामबीज पाँच अक्षरयुक्त, पञ्च पुष्पवाण हैं। 'क' कारसे आम्र-मञ्जरी, 'ल' कारसे अशोक पुष्प, 'ई' कारसे मल्लिका (वेली) पुष्प, अर्द्धचन्द्रसे माधवी पुष्प एवं विन्दुसे मौलश्री पुष्प—ये पाँच प्रकारके पुष्प पञ्च-पुष्पवाण हैं।

(१) 'कृष्णाय'—श्रीगोपाल तापनी उपनिषद्में कहा है—'पाप कर्षणो हि कृष्ण' अर्थात् जो पापसमूहका कर्षण करते हैं या सम्यक् रूपसे हरण करते हैं, वे ही कृष्ण हैं। यहाँ पाप कहनेसे सबके समस्त प्रकारके पापों और अपराधोंको समझना चाहिए। यहाँ तक कि असुरोंके अपराधोंको भी दूर करते हैं। इसलिए यहाँ 'कर्षति सर्वापराधान्' अर्थात् श्रीकृष्ण सबके समस्त प्रकारके अपराधोंका विनाश करते हैं। यही कृष्ण शब्दकी निरुक्ति है।

वे कृष्ण ही परब्रह्म एवं सच्चिदानन्द-विग्रह हैं। बृहद् गौतमीय-तन्त्रमें ऐसा उल्लेख है—'कृष्ण एव परंब्रह्म सच्चिदानन्द विग्रहः।'

और ब्रह्मसंहितामें भी—'ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः'—इसका पहले वर्णन किया गया है।

श्रीमहाभारतमें—

चिद् विषयमें जो कामबीज है—वह गोलोक स्थित कमलके भीतर अवस्थित है और जड़ विषयमें जो प्रतिफलित कामबीज है, वह मायिक

'कृषि भूर्वाचकः शब्दोणश्च निर्वृत्तिवाचकः।
तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥'

श्रीकृष्ण तदीय वेणु, रूप और लीला आदिके अतुलनीय माधुर्यके प्रभावसे त्रिजगतके स्थावर-जङ्गमादि सबके चित्तको आकर्षित करते हैं, ऐसे परब्रह्म श्रीकृष्ण ही एकमात्र परमाराध्य हैं।

(२) 'गोविन्दाय'—श्रीगोपाल-तापनी श्रुतिमें इस प्रकार वर्णन है—'गो-भूमि-वेद वेदिता गोविन्द': अर्थात् जो गो, भूमि और वेद समूहमें प्रसिद्ध हैं तथा उन सबका पोषण कर आनन्दवर्द्धन करते हैं, वे ही गोविन्द हैं। गो शब्दसे बहुतसे अर्थ रहनेपर भी यहाँ तीन प्रकारके अर्थको कह रहे हैं—(१) प्रसिद्ध पशुजाति विशेष—गौएँ, (२) भूमि (भुवन) और (३) वेद।

पुनः—पशुजाति विशेष कहनेसे श्रीमन् नन्द-गोकुल स्थित गो-समूहको लक्ष्य किया जाता है। जो अतुलनीय ऐश्वर्य और माधुर्यसे परिपूर्ण होकर भी गौओंसे परिवेष्टित होकर स्वतन्त्र क्रीड़ा-परायण हैं एवं जो श्रीनन्द-गोकुलमें अपने ब्रजजन मनोहारी नव-जलधर श्यामसुन्दर रूपमें विराजमान रहकर सुमधुर लीलाका विस्तार करते हैं। समस्त भुवन और वेदसमूह जिनकी लीलामाधुरीका उच्चस्वरसे गान करते हैं, जो भुवनमें और वेदोंमें प्रसिद्ध हैं, वे गोपाल वेशधारी गोकुलचन्द्र श्रीकृष्ण ही 'गोविन्द' पदवाच्य हैं।

(३) 'गोपीजन'—श्रीगोपाल तापनी श्रुतिमें—'गोपीजनाविद्याकला'—अर्थात् गोपीजन अर्थसे गोपीजनरूप अविद्या कलाको समझा जाता है। 'अविद्या' शब्दका अर्थ—आ-सम्यक् विद्या अर्थात् सर्वापेक्षा श्रेष्ठ विद्या। इस विद्याके द्वारा श्रीकृष्णाकर्षिणी शक्तिको समझना चाहिए।

कला शब्दका अर्थ—प्रेम भक्तिकी मूर्त्ति है। अतएव 'गोपीजन' शब्दसे श्रीकृष्णाकर्षिणी शक्ति-स्वरूपा—प्रेममयी भक्तिकी मूर्त्तिमान-विग्रह गोपियोंका ही बोध होता है।

एकमात्र इस जातीय प्रेम भक्तिके द्वारा ही श्रीकृष्ण वशीभूत होते हैं। यही मधुर रसका प्रेम—जो दास्य, सख्य और वात्सल्य रसके प्रेमको पराभूत करके सर्वश्रेष्ठ रूपमें विराजमान होता है।

'गोपीजन'—शब्दका दूसरा अर्थ यह है कि 'गोपी' शब्दसे गुप् धातुका अर्थ रक्षा करना, पालन करना है। श्रीकृष्णकी एक विशेष शक्ति जो जगतमें

समस्त प्रकारकी कामनाओंकी सिद्धि प्रदान करनेवाला होता है।

भक्तोंको प्रेम प्रदान कर उनका पालन पोषण करती है—उस शक्तिको गोपी कहा जाता है। इस शक्तिका नाम ह्लादिनी–शक्ति है। श्रीराधा ही ह्लादिनी–शक्ति स्वरूपिणी हैं। अतएव गोपी शब्दसे ह्लादिनी–शक्ति स्वरूपिणी प्रकृति–कुल–ललाम वृषभानुराजनन्दिनी श्रीराधाको ही समझना चाहिए।

जैसे 'गोपी तु प्रकृति राधा जन तदंशमण्डलः' अर्थात्—'गोपी'–शब्दसे प्रकृति—श्रीराधा तथा 'जन'–शब्दसे राधाके अंशमण्डल अर्थात् कायव्यूह रूपा श्रीललिता, विशाखा आदि सखियोंका बोध होता है।

(४) 'वल्लभाय'—वल्लभ–शब्दका अर्थ प्रेरक अर्थात् प्रवर्तक या प्रवर्तन–कर्ता अथवा रमण है। जो अपनी माधुर्यमयी लीलाओंके द्वारा गोपियोंके प्रवर्तन कर्ता या रमण हैं अर्थात् जो सर्वश्रेष्ठ नायक रूपमें गोपियोंके साथ परम मधुर लीला विलास करते हैं, वे ही गोपीजनवल्लभ या गोपियोंके पति हैं अर्थात् श्रीललिता, विशाखा आदि समन्विता श्रीराधिकाके प्राण प्रियतम हैं।

वे नन्दनन्दन रसिकशेखर श्रीकृष्ण हैं। वे ही वृन्दावनमें गोपियों अर्थात् कमलनयनी व्रजरमणियों द्वारा परिवेष्टित श्रीराधिकाके साथ मदनमोहन रूपमें विराजमान हैं; परन्तु श्रीकृष्ण जब गोपियोंकी मुकुटमणि श्रीराधिकाके साथ विराजमान रहते हैं, तभी वे मदनमोहन हैं; 'राधा सङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः'—गोपीमण्डल द्वारा परिवेष्टित होकर श्रीराधिकाके साथ विराजमान हैं, इसलिए उनको नित्य मदनमोहन कहा जाता है। श्रीकृष्ण एवं गोविन्द–रूप मदनमोहन मूर्त्ति ही गोपीजन वल्लभ हैं।

अतएव 'गोपीजन वल्लभ' कहनेसे श्रीमदनमोहनको समझा जाता है एवं मदनमोहन ही नित्य 'राधालिङ्गित विग्रह' हैं। अतएव 'गोपीजन वल्लभ' कहनेसे स्वतः ही श्रीराधाकृष्ण–युगलका बोध होता है। अतएव अष्टादशाक्षर या दशाक्षर युगल–मन्त्रको सर्वश्रेष्ठ मन्त्रराज कहा जाता है।

(५) 'स्वाहा'—श्रीगोपाल तापनी श्रुतिमें 'स्वाहा' शब्दसे 'तन्माया च' कहा है। 'स्वाहा'—श्रीकृष्णकी माया अर्थात् श्रीयोगमायाको समझा जाता है। यह योगमाया श्रीगोपीजन–वल्लभ श्रीकृष्णकी स्वरूप–भूता चित्शक्ति है। यही भक्तोंको श्रीकृष्णके पादपद्ममें समर्पण करती है। अतएव 'स्वाहा' पदका स्वाहायात्म समर्पणमिति'—इस प्रकार अर्थ समीचीन है। जिनकी सहायतासे

श्लोक २५

तपस्त्वं तप एतेन तव सिद्धिर्भविष्यति॥२५॥

अन्वय—त्वं तपः तप (हे ब्रह्मन्! तुम इस मंत्रकी जपरूप तपस्याका आचरण करो) एतेन तव सिद्धिः भविष्यति (इसीसे तुम्हें मनोऽभीष्ट सर्वसिद्धि प्राप्त होगी॥२५॥

अनुवाद—हे ब्रह्मन्! तुम इस मंत्रके द्वारा तपस्या करो, इसीसे तुम्हारा अभीष्ट अर्थात् मनोवाञ्छा पूर्ण होगी।

टीका—एतदेव "स्पर्शेषु यत् षोड़शमेकविंशम्" इति तृतीयस्कन्धानुसारेण योजयति,—तपस्त्वमित्यर्द्धेन। स्पष्टम्॥२५॥

टीकानुवाद—यहाँ पर 'तपस्त्वम्' इस अर्द्धश्लोकमें उक्त तपस्याका स्वरूप अर्थात् कैसी तपस्या करो—बतलाया जा रहा है। श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धके अनुसार श्रीब्रह्माजी स्पर्श-वर्णके सोलहवें और इक्कीसवें अक्षर—'त' और 'प'=तप-तप शब्द सुनकर एकाग्र चित्तसे भगवच्चिन्तन करने लगे। उसी समय उन्होंने भगवत्कृपासे दैव वाणीके द्वारा उन श्रेष्ठ मंत्रराज कृष्णमंत्रका श्रवण किया। देवी सरस्वतीने कहा, हे ब्रह्मन्! तुम विशेष सावधानीपूर्वक मंत्रजपरूपी यह तपस्या करो। इसीसे तुम्हारा सर्वाभीष्ट सिद्ध होगा।

तात्पर्य—इस श्लोक और टीकाका तात्पर्य स्पष्ट है॥२५॥

आत्मसमर्पण किया जाता है, वे हैं—'स्वाहा'। इस 'स्वाहा' पदके उच्चारणसे या स्मरणसे गोपीजन वल्लभके श्रीपादपद्ममें भक्तोंका सर्वतोभावसे आत्मसमर्पण होता है। इसलिए ऐसा चिन्तन करते हुए 'स्वाहा' पदका उच्चारण या स्मरण करना चाहिए। इसीसे श्रीराधाकृष्ण-युगलमें सम्पूर्णरूपसे आत्मसमर्पण होता है।

श्लोक २६

अथ तेपे स सुचिरं प्रीणन् गोविन्दमव्ययम् ।
श्वेतद्वीपपतिं कृष्णं गोलोकस्थं परात्परम् ॥
प्रकृत्या गुणरूपिण्या रूपिण्या पर्य्युपासितम् ।
सहस्रदलसम्पन्ने कोटिकिञ्जल्कवृंहिते ॥
भूमिश्चिन्तामणिस्तत्र कर्णिकारे महासने ।
समासीनं चिदानन्दं ज्योतिरूपं सनातनम् ॥
शब्दब्रह्ममयं वेणुं वादयन्तं मुखाम्बुजे।
विलासिनीगणवृतं स्वैः स्वैरंशैरभिष्टुतम् ॥२६ ॥

अन्वय—अथ सः (इस दैववाणीको सुनकर ब्रह्माजीने) अव्ययम् गोविन्दम् श्वेतद्वीप पतिं परात्परम् गोलोकस्थं कृष्णं प्रीणन् (नित्य-स्वरूप, गोविन्द, श्वेतद्वीपाधिपति, सर्वश्रेष्ठ तत्त्व गोलोकस्थित श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिए) सुचिरं तेपे (बहुत समय तक तपस्या की) गुणरूपिण्या रूपिण्या प्रकृत्या (सत्त्व, रजः और तमोगुणमयी मूर्त्तिमती माया) पर्य्युपासितम् (भगवान्के धामके बाहर रहकर उन्हीं श्रीकृष्णकी उपासना करती रहती है) [इसके पश्चात् उनके ध्यानका वर्णन कर रहे हैं।] भूमिः चिन्तामणिः (उस गोलोककी भूमि चिन्तामणि सदृश है) तत्र (उस चिन्तामणिमयी भूमिमें) सहस्रदल सम्पन्ने कोटिकिञ्जल्कवृंहिते (सहस्र दल-सम्पन्न और करोड़ों केशर द्वारा सम्वर्द्धित एक कमल है); कर्णिकारे महासने (उसके कर्णिकारमें एक महान् आसन है) समासीनं चिदानन्दं ज्योतिरूपं सनातनम् (उस महान् आसनके ऊपर चिदानन्दमय ज्योतिरूप सनातन श्रीकृष्ण विराजमान हैं) मुखाम्बुजे शब्दब्रह्ममयं वेणुं वादयन्तं (उनके मुखारविन्दमें शब्द ब्रह्ममयी वंशी बज रही है) विलासिनीगण्वृतं (वे विलासिनी गोपियोंके द्वारा परिवेष्टित हैं); स्वैः स्वैः अंशैः अभिष्टुतम् (तथा उनके अपने-अपने अंश और विलास रूप स्वांश-परिकरोंके द्वारा स्तुत हो रहे हैं) ॥२६ ॥

अनुवाद—अनन्तर ब्रह्माजी गोविन्दकी प्रसन्नताके लिए बहुत समय तक गोलोक स्थित श्वेतद्वीप-पति श्रीकृष्णकी तपस्या करने लगे। उनका ध्यान इस प्रकार है—

चिन्तामणिमय भूमिमें सहस्रदल सम्पन्न (हजारों पंखुड़ियोंसे युक्त) करोड़ों केशर द्वारा सम्वर्द्धित एक पद्म अवस्थित है। उसकी कर्णिकामें एक महासन (सिंहासन) वर्तमान है। उसपर चिदानन्द-ज्योतिरूप सनातन श्रीकृष्ण समासीन हैं। उनके मुखारविन्दसे शब्दब्रह्ममय वेणु-वादन हो रहा है एवं वे विलासिनी

गोपियोंके द्वारा परिवेष्टित हैं तथा अपने-अपने अंश-विलासरूप परिकरोंके द्वारा स्तवित हो रहे हैं। ऐसे उपास्य वस्तुकी आराधना गुणमयीरूपधारिणी प्रकृति धामसे बाहर रहकर करती हैं॥२६॥

टीका—स तु तेन मन्त्रेण स्व-कामना-विशेषानुसारात् सृष्टिकृच्छक्तिविशेष-विशिष्टतया वक्ष्यमाण-स्तवानुसाराद्गोकुलाख्यपीठगततया श्रीगोविन्द-मुपासितवानित्याह—अथ तेप इति चतुर्भिः। 'गुणरूपिण्या' सत्त्वरजस्तमोगुणमय्या; 'रूपिण्या' मूर्त्तिमत्या 'पर्य्युपासितं' परितस्तल्लोकाद्बहिःस्थितयोपासितः ध्यानादिनार्च्चितम्—"माया परेत्यभिमुखे च विलज्जमाना" इति, "बलिमुद्वहन्तिसभदन्त्यजयानिमिषा" इति च श्रीभागवतात्। 'अंशैः' तदावरणस्थैः परिकरैः॥२६॥

टीकानुवाद—अनन्तर ब्रह्माजीने उक्त मन्त्र-जपके द्वारा अपनी विशेष कामना—सृष्टि करनेकी इच्छासे आगे कहे जानेवाले स्तवसे गोकुल-पीठपर विराजमान श्रीगोविन्ददेवकी आराधना की; उसीको 'अथतेपे'—इन चार श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। ब्रह्माजीने जिस गोलोकपति श्रीगोविन्ददेवकी आराधना की, वे श्रीगोविन्ददेव कैसे हैं? अहो! सत्त्व, रज, तमोगुणमयी माया मूर्त्तिमती होकर भगवल्लोकसे बाहर रहकर ही ध्यान आदिके द्वारा उन सर्वाराध्य श्रीगोविन्देदवकी आराधना करती है। वह विमुख जीवोंको दण्ड देनेके कारण अपनेको दोषी मानकर भगवान्‌के सम्मुख आनेमें भी बड़ी लज्जित रहती है—'यस्याभिमुखे माया विलज्जमाना सती पृष्ठदेशमुपैति'। (भा.२.७.४७)

वह भगवान्‌के पीछे बहुत दूर रहकर ध्यान द्वारा ही उनकी आराधना करती है। और भी—'बलिमुद्वहन्तिसभदन्त्यजयानिमिषा' (१०.८७.२८)—देवगण भी बहिरङ्गा मायाशक्तिके साथ भगवल्लोकसे बाहर रहकर ही छोटे-छोटे खण्डराज्यके अधिपतियों द्वारा महामण्डलेश्वरको उपहार भेंट दिये जाने की भाँति, उन श्रीगोविन्दके लिए पूजोपहार प्रदान करते हैं। दूसरे लोगोंकी तो बात ही अलग रहे, 'अंशै'—गोलोकमें अवस्थित भगवान्‌के कायव्यूहरूप अंश—परिकरजन भी जिन श्रीगोविन्ददेवकी आराधना करते हैं; उन्हीं श्वेतद्वीप पति, परात्पर अव्यय, गोलोकमें विराजमान श्रीगोविन्ददेव नामक श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिए ब्रह्माजीने बहुत काल तक तपस्या की। बहिरङ्गा शक्ति भी गोलोकसे बाहर रहकर ही, साक्षात् सामनेसे नहीं, प्रत्युत् दूरगत ध्यान द्वारा ही उनकी आराधना करती है। उसके ध्यानकी परिपाटी कैसी है? बतला रहे हैं—"चिन्तामणिमयी भूमि-विशिष्ट उस गोलोकमें सहस्रदल-सम्पन्न

कोटि-किञ्जल्क-द्वारा परिशोभित कर्णिकारूप महान् सिंहासन पर आरूढ़ चिदानन्दमय-ज्योतिरूप नित्य-विग्रह श्रीगोविन्ददेव अपने मुखारविन्दसे शब्द-ब्रह्ममय वेणु-वादन कर रहे हैं; वे अपनी प्रेयसी गोपरमणियों द्वारा परिवेष्टित हैं तथा गोलोक-स्थित उनके परिकरवृन्द उनकी स्तुति कर रहे हैं।"—ऐसा ध्यान ही सर्वाभीष्ट प्रदानकारी है।

जो लोग मानव-जन्म लाभकर भी भगवान्‌की आराधना नहीं करते, उनका जीवन निश्चित रूपसे व्यर्थ है; वे भगवान्‌की माया द्वारा मोहित होकर—मायाका दास होकर चौरासी लाख योनियोंमें भटकते हुए त्रिताप-ग्रस्त होते हैं—'नाराधनं भगवतो.....वत मायया ते'। विशेष जाननेके लिए श्रीमद्भा. ३/१५/२५में यह प्रसंग द्रष्टव्य है॥२६॥

तात्पर्य—ध्यानका विषय यद्यपि चिन्मय है, फिर भी अपने रजोगुण स्वभावके कारण गुणरूपिणी अर्थात् सत्त्व, रजः और तमो गुणमयी दुर्गा आदि रूपोंको धारण करनेवाली अपरा-शक्तिरूपिणी मायादेवी पूज्यभावसे भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान कर रहीं थीं।

जहाँ हृदयमें जड़ वस्तुकी प्राप्तिकी अभिलाषा रहती है, वहाँ मायादेवीके उपास्य-तत्त्व ही पूजनीय होते हैं। उस स्थितिमें मायादेवीकी पूजा न कर उनके उपास्यदेव श्रीकृष्णकी ही पूजा करनी चाहिए। उसीसे सर्वाभीष्टकी सिद्धि प्राप्त होती है। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा ही कहा गया है—

'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

अर्थात् यद्यपि अन्यान्य देवी-देवता भगवान्‌की विभूतियाँ हैं और वे विशेष-विशेष फलोंके दाता भी हैं तथापि बुद्धिमान व्यक्ति उन-उन देवताओंकी पूजा न करके समस्त प्रकारके फलोंको प्रदान करनेमें समर्थ भगवान् श्रीहरिकी ही दृढ़ भक्तिपूर्वक आराधना करें।

ब्रह्माजीने तदनुसार मायादेवीके उपास्य देवता गोलोक विलासी श्रीकृष्णका ध्यान किया। अन्याभिलाषिता-रहित शुद्ध भक्ति ही निष्काम भक्ति है और ब्रह्मा आदिकी भक्ति सकाम भक्ति है। सकाम भक्तिमें भी एक प्रकारकी निष्काम स्थिति है। ग्रन्थके अन्तमें पाँच श्लोकोंमें उसका विस्तृत रूपसे वर्णन है। स्वरूपसिद्धि न होने तक बद्धजीवोंके लिए ऐसा भजन करना ही सहज सुलभ भजन है॥२६॥

श्लोक २७

अथ वेणुनिनादस्य त्रयीमूर्त्तिमयी गतिः।
स्फुरन्ती प्रविवेशाशु मुखाब्जानि स्वयम्भुवः॥
गायत्रीं गायतस्तस्माददधिगत्य सरोजजः।
संस्कृतश्चादिगुरुणा द्विजतामगमत्ततः॥२७॥

अन्वय—अथ (ब्रह्माजीकी दीर्घकाल तपस्याके पश्चात्) वेणुनिनादस्य (श्रीकृष्णकी वेणुध्वनिकी) त्रयीमूर्त्तिमयी गतिः (गायत्रीमयी परिपाटी) स्फूरन्ती (स्फूर्त्तिमात्र कर अर्थात् श्रीकृष्णके वेणुमें कामगायत्री उच्चरित होकर) आशु स्वयम्भुवः मुखाब्जानि प्रविवेश (शीघ्र ही ब्रह्माजीके आठों कर्णकुहरोंमें प्रविष्ट हुई) गायत्री गायतः तस्मात् (काम-गायत्री गानकारी श्रीकृष्णसे) सरोजजः अधिगत्य (उस गायत्रीको प्राप्त होकर ब्रह्माजीने) आदि गुरुणा संस्कृतः (आदि गुरु श्रीकृष्णसे द्विजत्व संस्कार प्राप्त कर) ततः द्विजताम अगमत् (उसी समयसे द्विजत्व प्राप्त किया)॥२७॥

अनुवाद—तदनन्तर वेदमाता-गायत्रीमयी परिपाटीके साथ अर्थात् सुश्रृंखलरूपमें श्रीकृष्णकी वेणुध्वनिसे स्फूर्त्तिप्राप्त होकर अर्थात् कम्पित या संचालित होकर काम-गायत्री स्वयम्भु ब्रह्माके आठ कर्णकुहरोंके द्वारसे होकर उनके मुखकमलमें प्रविष्ट हुई। पद्मयोनि ब्रह्माने उस वेणु-गीतसे निकली हुई गायत्रीको प्राप्त कर आदिगुरु भगवान्‌के द्वारा संस्कृत होकर द्विजत्व प्राप्त किया॥२७॥

टीका—तदेवं दीक्षातः परस्तादेव तस्य ध्रुवस्येव द्विजत्व-संस्कारस्तदाबाधित-त्वात्तत्तन्मन्त्राधिदेवाज्जात इत्याह,—अथ वेन्विति द्वयेन। 'त्रयीमूर्त्तिः' गायत्री वेदमातृत्वात्, द्वितीयपद्ये तस्या एव व्यक्तिभावित्वाच्च, तन्मयी; 'गतिः' परिपाटी। मुखाब्जानि प्रविवेश इत्यष्टभिः कर्णैः प्रविवेशेत्यर्थः। आदिगुरुणा श्रीकृष्णेन स ब्रह्मा संस्कृत इति कर्म्मस्थाने प्रथमा॥२७॥

टीकानुवाद—इस प्रकार साधक दीक्षाके द्वारा पहले द्विजत्व संस्कार प्राप्त होता है और उसके पश्चात् मन्त्र-साधनासे मन्त्र-देवताका दर्शन प्राप्त करता है। जैसे ध्रुवको उनके मन्त्र-देवताका दर्शन हुआ था। पाँच वर्षकी आयुमें ही ध्रुव घरसे निकलकर भगवत् आराधनाके लिए चले गये; परन्तु उन्हें आराधनाकी पद्धतिका कुछ भी ज्ञान नहीं था। अन्तर्यामी भगवान्‌ने उनके पास देवर्षि नारदजीको भेजा। उन्होंने आकर उनकी दृढ़ताकी भलीभाँति परीक्षा कर श्रीनारदजीने मथुरामें यमुनाके तटपर उन्हें दीक्षा-मन्त्र प्रदान किया और

कहा कि तुम मधुवनमें जाकर भगवान्‌की आराधना करो, वे तुम्हें अतिशीघ्र ही दर्शन देंगे। श्रीनारदके उपदेशानुसार कठोर साधनके द्वारा ध्रुवको छह महीनोंमें ही प्रभुके दर्शन हो गये। इसलिए भगवान्‌का भजन–साधन करनेके लिए सर्वप्रथम दीक्षा ग्रहण करना अनिवार्य है।

ध्रुवके समान ही ब्रह्माका भी द्विजत्व–संस्कार दीक्षाके पश्चात् ही सम्पन्न हुआ, वह भी उन मंत्राधिदेवतासे ही सम्पन्न हुआ। उसीका विवरण 'वेणु निनादस्य'—इन दो श्लोकोंके द्वारा कर रहे हैं। वेदत्रयीमूर्त्ति गायत्री—वेदमाता हैं; द्वितीय पद्यमें उसका स्पष्ट उल्लेख है। तन्मयी गतिः—अर्थात् परिपाटी सहित मंत्र ब्रह्माके आठों कर्णकुहरोंके द्वारसे उनके मुखकमलमें प्रविष्ट हुआ। इस प्रकार ब्रह्माने आदिगुरु श्रीकृष्णके द्वारा गायत्रीमंत्रसे दीक्षा–संस्कार प्राप्तकर द्विजत्वको प्राप्त किया था॥२७॥

तात्पर्य—श्रीकृष्णका मुरलीनाद—सच्चिदानन्दमय–शब्दविशेष है। अतएव उसमें समस्त वेदोंका आदर्श वर्तमान है। गायत्री एक वैदिक छन्द है। संक्षेपमें एक ध्यान और प्रार्थना उसमें होती है। काम–गायत्री, समस्त गायत्रियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। क्योंकि उसमें जो ध्यान और प्रार्थना है, वह सम्पूर्ण रूपसे चिद्विलासमय है, जो अन्य किसी भी गायत्रीमें नहीं है।

अष्टादशाक्षर मन्त्रके पश्चात् जो गायत्री प्राप्त होती है, उसे काम–गायत्री कहते हैं। वह इस प्रकार है—'क्लीं कामदेवाय विद्महे पुष्पवाणाय धीमहि तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात्।' इस गायत्रीमें श्रीगोपीजनवल्लभके परिपूर्ण ध्यानके पश्चात् तदीय लीलाकी प्रतीति एवं उन अप्राकृत अनङ्गको प्राप्त करनेकी प्रार्थना निहित होती है। चित्–जगतमें इससे उत्कृष्ट कहीं भी कोई रसाश्रित प्रेमकी चेष्टा नहीं है। वही गायत्री ब्रह्माजीके कर्ण–कुहरमें प्रविष्ट होनेके साथ–ही–साथ ब्रह्माजी द्विजत्व–संस्कार प्राप्त करके उसी गायत्रीका गान करने लगे। जो सौभाग्यवान् जीव इस गायत्रीको तत्त्वतः प्राप्त करते हैं, वास्तवमें वे पुनः अप्राकृत–जन्म प्राप्त करते हैं—ऐसा समझना चाहिए। इस मायामय संसारमें जड़बद्ध जीव स्वभाव और वंशकी रीतिके अनुसार जो द्विजत्व प्राप्त करते हैं, उसकी अपेक्षा अप्राकृत जगतमें प्रवेशरूप यह द्विजत्व प्राप्ति सर्वतोभावेन उत्कृष्ट है। क्योंकि चिद्‌विषयमें दीक्षित होकर जो व्यक्ति द्विजत्व या अप्राकृत जन्म प्राप्त करता है उसीके द्वारा चित्–जगतकी प्राप्तिरूप जीवकी चरम महिमा है अर्थात् जीवके जीवनकी चरम सफलता है॥२७॥

श्लोक २८

त्रय्या प्रबुद्धोऽथ विधिर्विज्ञाततत्त्वसागरः।
तुष्टाव वेदसारेण स्तोत्रेणानेन केशवम्॥२८॥

अन्वय—अथ त्रय्या प्रबुद्धः विधिः (अनन्तर उस वेदमयी गायत्रीके आश्रयमें सम्यक् प्रकारसे जाग्रत ब्रह्माजीने) विज्ञात तत्त्व सागरः (तत्त्व सागर अर्थात् भगवत् स्वरूपादिसे अवगत होकर) अनेन वेदसारेण स्तोत्रेण (आगे कहे जाने वाले समस्त वेदोंके साररूप स्तवोंके द्वारा) केशवम् तुष्टाव (श्रीकृष्णकी स्तुति की)॥२८॥

अनुवाद—उस वेद-त्रयीमयी गायत्रीके स्मरण द्वारा प्रबुद्ध होकर ब्रह्माजी तत्त्वसागरसे अवगत हुए। तब उन्होंने सर्ववेद-सार इस स्तवके द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति की॥२८॥

टीका—ततश्च त्रयीमपि तस्मात् प्राप्य तमेव तुष्टावेत्याह,—त्रय्येति स्पष्टम्॥२८॥

टीकानुवाद—पहले श्लोकके भावानुसार श्रीब्रह्माजीने इस कामगायत्री-कृष्णमन्त्रके द्वारा बहुत काल तक आराधना की। उस समय भगवान्ने परम अनुग्रहपूर्वक उनके हृदयमें वेदादि शास्त्रगत तत्त्व-सिद्धान्तोंको प्रकाशित किया। उस समय ब्रह्माजीने वेदके सारगर्भित वाक्योंके द्वारा भगवान्की स्तुति-प्रार्थना की। और सब कुछ श्लोकमें स्पष्ट है॥२८॥

('केशव' शब्दका अर्थ है—केश=अंशुसमूह=शक्तिसमूहका विस्तार करनेवाले या उनके प्रकाशकको 'केशव' कहते हैं। अथवा क=ब्रह्मा, ईश=शंकर, इन दोनोंके प्रकाशकको 'केशव' कहते हैं। एक और भी गूढ़ अर्थ है—'केशान् वयति संस्करोतीति केशव' अर्थात् प्रियतमा गोपियोंके केश-संस्कार करनेवाले श्रीकृष्णको ही 'केशव' कहा गया है)।।२८।।

तात्पर्य—काम-गायत्रीके स्मरणसे ब्रह्माजीके हृदयमें यह अनुभूति हुई कि 'मैं कृष्णकी नित्यदासी हूँ'। कृष्णके दासीत्वमें और जो कुछ गूढ़ रहस्य हैं, उनसे अवगत न होने पर भी उनके हृदयमें चिदचित्-विवेकसे आरम्भ कर कृष्ण-तत्त्व, कृष्ण-शक्ति-तत्त्व, मायातत्त्व, भक्तितत्त्व आदि तत्त्वोंका सागर सम्पूर्णरूपसे प्रकाशित हुआ। इस प्रकार उनके हृदयमें वेदवाक्योंकी स्फूर्त्ति होने पर वे अखिल वेदोंके सार-स्वरूप इस स्तवके द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे। इस स्तवमें सारे वैष्णव-सिद्धान्त गागरमें सागरकी भाँति भरे हुए हैं। इसीलिए श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने अपने भक्तोंको इसकी शिक्षा दी है। अतएव समस्त सुधी पाठकवृन्द अतिशय प्रयत्नके साथ इस स्तवका प्रतिदिन पाठ और तद्गत भावोंका आस्वादन करें॥२८॥

श्लोक २९

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष–
लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम् ।
लक्ष्मीसहस्त्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥२९॥

अन्वय—(जो) कल्पवृक्षलक्षावृतेषु (लक्ष–लक्ष कल्पवृक्षोंके द्वारा आवृत) चिन्तामणिप्रकरसद्मसु (चिन्तामणि–समूहके द्वारा निर्मित भवनोंमें) सुरभीः (कामधेनुओंको) अभिपालयन्तं (सर्वतोभावसे पालन करते हैं) (और) लक्ष्मीसहस्त्रशत–सम्भ्रम–सेव्यमानं (असंख्य लक्ष्मियों अर्थात् गोपियोंके द्वारा सम्भ्रम अर्थात् विशेष यत्नपूर्वक परिसेवित हो रहे हैं) तम् आदिपुरुषं गोविन्दम् (उन्हीं आदिपुरुष गोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ) ॥२९॥

अनुवाद—जहाँ लक्ष–लक्ष कल्पवृक्ष तथा मणिमय भवनसमूह विद्यमान हैं, जहाँ असंख्य कामधेनु गौएँ हैं, शत–सहस्त्र अर्थात् हजारों–हजारों लक्ष्मियाँ—गोपियाँ प्रीतिपूर्वक जिस परम पुरुषकी सेवा कर रही हैं, ऐसे आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥२९॥

टीका—स्तुतिमाह,—चिन्तामणीत्यादि। तत्र गोलोकेऽस्मिन्मन्त्रभेदेन तदेकदेशेषु बृहद्ध्यानमयादिष्वेकस्य मन्त्रस्य वा समयादिषु च पीठेषु सत्स्वपि मध्यस्थत्वेन मुख्यतया प्रथम गोकुलाख्यपीठनिवासयोग्यलीलया स्तौति,—चिन्तामणीत्येकेन। 'अभि' सर्वतोभावेन वन–नयन–चारण–गोस्थानानयनप्रकारेण 'पालयन्तं' सस्नेहं रक्षन्तम्। कदाचिद्रहसि तु वैलक्षण्यमित्याह,—लक्ष्मीति। लक्ष्म्योऽत्र गोपसुन्दर्य्य एवेति व्याख्यातमेव॥२९॥

टीकानुवाद—श्रीब्रह्माजीने 'चिन्तामणि'–श्लोकसे प्रारम्भकर उनतीस श्लोकोंसे आदिपुरुष श्रीगोविन्दकी स्तुति की, जिसमें उनके नाम, रूप, गुण, लीला–महिमा, ऐश्वर्य–माधुर्य और धाम आदिका वर्णन हुआ है।

श्रीकृष्णकी लीलाएँ अनन्त हैं। उनमेंसे उनकी दैनन्दिनी (प्रतिदिनकी) लीलाएँ भी असंख्य–रूपसे होती हैं। उन लीलाओंको अष्टकालीय या अष्टयामकी लीला भी कहते हैं। जिसमें वात्सल्य, सख्य और मधुर रसाश्रित परिकरगण श्रीकृष्णके बाल्य, पौगण्ड तथा कैशोर अवस्थाकी लीलाओंको एक ही साथ, एक ही समयमें अपने–अपने भावानुसार आस्वादन करते हैं। श्रीकृष्णका नित्य कैशोर स्वरूप—'नवकिशोर नटवर गोपवेश वेणुकर'

है—यही उनका नित्य और मूल-स्वरूप है। उनके इस स्वरूपको प्रत्येक भक्त अपने-अपने भावके अनुसार अनुभव करता है।

शास्त्रोंमें उनकी आराधना दो प्रकारकी देखी जाती है। एक स्वारसिकी, दूसरी मन्त्रोपासनामयी। श्रीकृष्णके गोलोक वृन्दावन-स्थित लीलाएँ बहुतसे स्थानोंपर बहुत प्रकारसे होती हैं, अतएव उन सभी लीलाओंका स्मरण तथा श्रवणकीर्त्तनादि भक्तिके द्वारा जो उपासना होती है, वह स्वारसिकी उपासना कहलाती है। और श्रीकृष्णके लीलापीठमें एक स्थानपर स्थित एक लीलामें चित्तको सन्निवेशकर उसका श्रवण, मनन और अर्चन आदिरूप जो मन्त्र साधना है, वह मन्त्रोपासनामयी है। उसमें एक स्थानपर स्थित कृष्णकी एक लीलाका ध्यान किया जाता है, इसलिए इसको मन्त्रोपासनामयी कहा जाता है।

उनमेंसे ब्रह्माजीने सर्वप्रथम श्रीकृष्णकी अनन्त लीलाओंमेंसे वासुदेव, संकर्षण आदिकी परव्योम-लीला, कारणार्णवशायी पुरुषावतारकी लीला, मत्स्य, कूर्म आदि नैमित्तिक अवतारकी लीला, ब्रह्मा-शिव आदि गुणावतारकी लीला, पृथु-व्यास आदि आवेशावतारकी लीला, सविशेष परमात्मा आदिकी लीला, निर्विशेष ब्रह्म आदि अनन्त क्रीड़ामय भगवान्‌की लीलाओंमेंसे सर्वश्रेष्ठ कृष्णकी गोकुल-वृन्दावनकी लीलाओंकी स्तुति की। यही उनका मनोऽभीष्ट है।

इस प्रकार गोलोकमें, गोलोकके एकदेशस्थित मंत्रोपासनामयी लीलापीठ और बहुदेश वर्त्तिनी रासलीला आदि असंख्य लीलामय स्वारसिकी लीलायोगपीठ, इन दोनोंके विद्यमान रहने पर भी मध्यवर्ती मुख्य योगपीठमें होनेवाली वृहद् ध्यानमयी स्वारसिकी लीलाओंके वर्णनके माध्यमसे—चिन्तामणि—इस प्रथम श्लोकके द्वारा स्तव करते हैं।

वे लीलाएँ कैसी हैं—'सुरभीरभिपालयन्तम्' अर्थात् गायोंको चरानेके लिए उन्हें गोष्ठसे वनमें लाते हैं, उन्हें हरी-हरी कोमल घास चराते हैं, पावन-सरोवर आदिमें पानी पिलाते और स्नान कराते हैं, पुनः उन्हें गोष्ठमें लौटा लाते हैं। इस प्रकार अतिशय प्रीतिपूर्वक उनकी रक्षा और पालन करते हैं। कभी एकान्तमें रहस्यमयी विलक्षण लीलाएँ भी करते हैं। वे विलक्षण लीलाएँ कैसी हैं, उनका वर्णन करते हैं—'लक्ष्मीसहस्रशत' अर्थात् असंख्य कल्पवृक्षोंसे समावृत चिन्तामणि-निर्मित भवनमें अनन्त व्रजसुन्दरियोंके द्वारा उल्लासपूर्वक परिसेवित आदिपुरुषका मैं भजन करता हूँ। लक्ष्मी शब्दसे गोप-रमणियोंको ही समझना चाहिए॥२९॥

तात्पर्य—चिन्तामणि–शब्दसे यहाँ चिन्मय रत्नोंको समझना होगा। मायाशक्तिने जैसे जड़–पञ्चभूतोंके द्वारा जड़–जगत्‌की सृष्टि की है, वैसे ही चित्–शक्तिने चिद्‌वस्तुरूप चिन्तामणियोंके द्वारा चित्–जगत्‌की रचना की है। उसमें भी विशेष बात यह है कि गोलोकके भगवद्–भवनोंके निर्माण कार्यमें व्यवहृत सामग्रीरूप चिन्तामणियाँ, साधारण चिन्तामणियोंकी अपेक्षा अधिकतर दुर्लभ और उपादेय हैं। साधारण कामधेनुका जब–कभी भी दोहन करने पर वह दूध देती है और गोलोककी कामधेनुओंके थनसे शुद्धभक्त–जीवोंकी भूख–प्यास मिटानेवाला चिदानन्द–स्रावी प्रेम–प्रस्रवणरूप दुग्ध–समुद्र सदैव झरता रहता है। श्लोकगत 'लक्ष–लक्ष' और 'सहस्रशत' शब्दोंका तात्पर्य अनन्त या असंख्य संख्यासे है। 'सम्भ्रम' शब्दका अर्थ आदरपूर्वक अर्थात् प्रेमससे परिप्लुत होकर है। 'लक्ष्मी'–शब्दसे गोपसुन्दरियोंको समझना चाहिए। 'आदिपुरुष'का अर्थ सबके आदि स्वयं–अनादि श्रीगोविन्ददेव हैं॥२९॥

विवृति—श्रीब्रह्माजीने 'चिन्तामणि' आदि इस श्लोकसे प्रारम्भकर श्रीकृष्णकी स्तुति की।

उन्होंने इस स्तुतिमें अतिशय गम्भीर आशयपूर्ण भावोंको प्रकट किया है। एक साधक भक्तके लिए परम उपयोगी साधनका विषय एक स्थानमें अवस्थित एक लीला–विशेषके चिन्तनमय मन्त्रोपसनामयी पद्धति तथा सामूहिक रूपसे समस्त लीलाओंका चिन्तन रूप स्वारसिकी पद्धति—इस प्रकार दो तरहकी साधन–पद्धतियाँ हैं। जिसमें सर्वप्रथम श्रीब्रह्माजीने इस स्तवमें बृहद् ध्यानमय स्वारसिकी लीलाके विषयमें वर्णन किया है।

श्रीब्रह्माजीने इस श्लोकके अनुरूप कुछ और भी स्तुतियाँ की हैं जैसे गोपाल तापनीमें—

नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे।
कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमो नमः॥

(श्रुति ३०)

हे भगवान्! जिनके विज्ञान बलसे सबकुछ प्रतिभासित होता है, उस विज्ञानके आधार आप स्वयं हैं, आप समस्त आनन्दके मूलाधार हैं, आप सबके आकर्षण और आनन्द प्रदाता हैं, हे गोपीनाथ, हे गोविन्द! आपको बारंबार प्रणाम हैं।

बर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे ।
रमामानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः ॥३८॥

हे प्रभो! आपके नयनयुगल पद्मपत्रकी भाँति विस्तृत हैं, आपके गलदेशमें वनमाला विलम्बित है। हे गोविन्द! आपके नाभिकमलसे जगत्-सृष्टिका उद्भव हुआ है, आप गोपियोंके प्राणपति हैं, आपको मेरा प्रणाम स्वीकार हो।

हे भगवन्! मयूरपिच्छयुक्त चूड़ा आपके मस्तकपर सुशोभित है। आप सबका मनोरञ्जन करते हैं, आपके अन्दर कोई कुण्ठा नहीं है, आप अपरिमेय ज्ञानमय हैं। आप गोपियोंके हृदयरूप मानस-सरोवरमें विहार करनेवाले राजहंस हैं, अतएव हे गोविन्द! आपके श्रीचरणकमलोंमें मेरा प्रणाम स्वीकार हो।

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दने ।
कालिन्दीकूललोलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥

हे श्रीकृष्ण! आप नित्य वृन्दावनविहारी हैं, आप मधुर वंशीवादन करते हुए भक्तोंको निरन्तर अपनी ओर आकर्षित करते हैं। आप वेद, पृथ्वी और गायोंकी रक्षा करते हैं एवं गो, गोप, गोपी और गायोंका पालन करते हुए गोपालरूपमें विराजमान हैं। दुष्ट कालिय, अघ, वक आदि असुरोंका संहारकर गो-गोप-समूहको जीवन दान करते हैं।

हे यमुनातटविहारी! चञ्चल कुण्डलको धारण करनेवाले हे गोविन्द! आपको मेरा प्रणाम स्वीकार हो।

इस प्रकार श्रीब्रह्माजीने विचित्र भावोंके तरङ्गोंमें डूबकर स्तुति-प्रार्थना की। जब कमललोचन श्रीकृष्ण समस्त सखाओंसे परिवेष्टित होकर गोष्ठालयसे गोचारणके निमित्त वनमें गमन करते हैं, उस समय ब्रजगोपियों तथा ब्रजजनोंका आनन्दवर्द्धन करते हुए सबके चित्त मन-प्राणका हरण कर लेते हैं, उनके गोष्ठवेश तथा शोभनीय श्यामकान्तिसे चारों ओर अपूर्व शोभाका विस्तार होने लगता है, जैसे नीलकान्तमणिकी कमनीय-कान्तिसे समस्त दिशाएँ समुद्भासित होती हैं उसी प्रकार श्यामसुन्दरके श्यामरूपकी प्रभा द्वारा समस्त वृन्दावन भी श्याममय बन जाता है।

वहाँके वृक्षराजि लताओंके साथ श्रीकृष्णका स्वागत समारोह मनाते हैं, उनके आगमनके साथ-साथ वृन्दावनके पशु-पक्षी आदि परमानन्द प्रेममें परिप्लुत हो जाते हैं। वृक्षसमूह मधु-धाराके बहाने अश्रुधारा प्रवाहित करते हैं। काँटेके उद्गमसे रोमाञ्च-पुलक आदि भावोंको धारण करते हैं। ऐसे

प्रेममय वृन्दावनके वृक्षोंको ब्रह्माजीने कल्पवृक्षके रूपमें देखा है, इसलिए उन्होंने कहा—'कल्पवृक्षलक्षावृतेषु'—इससे उस वृन्दावनमें लक्ष–लक्ष कल्पवृक्ष शोभायमान हैं। उनका आश्रय ग्रहण करनेसे आश्रितजनोंकी सारी अभिलाषाएँ पूर्ण होती हैं। ऐसे–ऐसे असंख्य वृक्षराजि हैं। वे सभी स्वानन्द–सच्चिदानन्द–घन–रस स्वरूप हैं। उनमें भी आश्चर्यजनक वर्ण और परम चमत्कारपूर्ण आकृतिके भेद हैं। वे विस्मयकारी सौरभसे युक्त परम सुन्दर–सुन्दर फल–फूल और कोमल मञ्जरियों आदिसे विकसित हैं। उस वृन्दावनके कल्पवृक्ष राजि श्रीराधाकृष्णके प्रीतिविधानके निमित्त बहुविध रूपसे प्रकाशित हैं। कोई–कोई अमृत सारकी उत्तम परिणतिस्वरूप—निर्यास विशेष है। कोई–कोई दिव्य–क्षीरसार द्वारा सुन्दर रूपसे निर्मित हैं। कोई–कोई मत्तताजनक सुधाघनरूप अङ्गधारी हैं। कोई–कोई स्फटिककी भाँति और कोई–कोई कर्पूरकी भाँति धवलवेशधारी होकर विराजमान हैं।

और भी 'कल्पवृक्षलतावृतेषु'—इसके द्वारा लतावेष्टित वृक्षोंका सरस और सजीव वर्णन किया गया है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपादने भी कहा है—हे माधवी–मधुराङ्ग–तरुण–तमाल! इस कानन–राज्यकी राज्यलक्ष्मी माधवीलता तुम्हें आपादमस्तक परिवेष्टित कर तुम्हारे स्कन्ध, तुम्हारी शाखा–प्रशाखाओं आदिकी अपूर्व मनोहर शोभाश्रीको प्रकाशित कर रही है। तुम्हारे सौरभसे श्रीवृन्दावनके दिग्–दिगन्त परिपूरित हैं। तुम्हारी कीर्तिरूपी छायाका आश्रय करनेसे विश्व–मानवकी अखिल सन्तापराशि दूर हो जाती है।

श्रीराधाकृष्णके प्रति गाढ़े अनुरागके कारण श्रीवृन्दावनकी वृक्षराजि मुकुल रूपमें पुलकको धारण करते हैं, मधु–प्रवाहके छलसे अश्रुधारा वर्षण करते हैं, मृदुमन्द पवनके प्रवाहसे सञ्चालित पल्लवरूप हास्य भङ्गिसे प्रेमानन्दमें दिव्य नृत्य करते हैं, प्रफुल्लित कुसुम विकासके छलसे हास्य प्रकट करते हैं। वहाँके पक्षी कल–कूजनके द्वारा सम्यक् प्रकारसे श्रीराधामाधवका स्तव गान करते हैं; फल आदिके भारसे अवनत होकर उनके श्रीचरणोंमें प्रणाम करते हैं—ऐसे वृन्दावनके वृक्षराजि हम सबका परमानन्द विधान करें।

अतएव वृन्दावनकी समस्त तरु–लताएँ कल्पतरु और कल्पलताएँ हैं। साधारण कल्पतरु और कल्पलता, जैसे मानवके अभिलषित धर्म, अर्थ, काम आदिको प्रदान करते हैं, वैसे ये नहीं हैं। इनका आश्रय ग्रहण करनेसे हृदयकी सारी कामना–वासनाएँ दूर हो जाती हैं; हृदय श्रीराधा–माधवकी

सेवाभावनासे परिपूर्ण हो जाता है। ये तरुलताएँ अपने आश्रितोंको श्रीयुगल चरणोंमें कृष्ण-प्रेम प्रदानकर धन्य बना देती हैं।

इस विषयमें श्रील सरस्वतीपादने कहा है—

या राधाया वरतनुनटेत्युक्ति मात्रेण नृत्येद्
गायेत्युक्त मधुकर रुतैविज्ञगानं लनोति ।
क्रन्देत्युक्ता विसृजति मधुत्फुल्लिता स्याद्धसेति
प्रोक्ता श्रिलष्य द्रुममिति गिरा सस्वजे धृष्टगुच्छा ॥

(वृन्दावन महिमामृतम् ५.३७)

उन व्रजकी लताओंको लक्ष्य कर जब श्रीराधाजी कहती हैं—हे वराङ्गिनि! तुम नृत्य करो, तो वे लताएँ अपने पल्लवोंके माध्यमसे नृत्य करती हैं; गान करो—यह कहनेपर भ्रमरके झंकारसे गान करती हैं; क्रन्दन करो—कहनेसे मधुधारा वर्षण करती हैं; हास्य करो, तो इस वाक्यसे उत्फुल्लित होती हैं; वृक्षका आलिङ्गन करो, यह कहनेसे अतिशय हृष्ट होकर वृक्षका आलिङ्गन करती हैं।

वृषभानुराजनन्दिनी श्रीराधाजी किसी कुञ्जमें अदृश्य हो जानेपर श्यामसुन्दर उन्हें अन्वेषण करते हुए लताओंकी सहायता लेते हैं। वे लताएँ संकेत द्वारा—किशलयके कम्पनसे उनका अनुसन्धान कराती हैं। इस प्रकार कुञ्ज-निकुञ्जमें जहाँ श्रीराधामाधवकी रहस्यमयी लीलाएँ होती हैं, जहाँ समस्त ब्रजजन परम प्रेमानन्द-लहरीमें सदा निमज्जित रहते हैं, ऐसे परम धाम वृन्दावनमें विराजमान आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥२९॥

श्लोक ३०

वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षं
वर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दराङ्गम् ।
कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥३०॥

अन्वय—(जो) वेणुं क्वणन्तं (वेणु वादनरत) अरविन्द दलायताक्षं (कमलदल सदृश नयनयुगल युक्त) वर्हावतंसम् (शिरोभूषण मयूर पंखसे सुशोभित) असिताम्बुदसुन्दराङ्गं (नीलजलधर सदृश सुन्दर अङ्ग) (और) कन्दर्पकोटिकमनीय-विशेषशोभं (कोटि-कोटि कन्दर्पोंकी शोभाको परास्त करनेवाले कमनीय कान्तिविशिष्ट) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥३०॥

अनुवाद—वेणुवादनमें तत्पर, कमलसदृश विशाल और प्रफुल्ल नयनवाले, मयूरपुच्छयुक्त शिरोभूषणको धारण किये हुए, नीलमेघकी कान्तिसे सुशोभित कोटि–कन्दर्पमोहन विशेष शोभासम्पन्न उन आदिपुरुष श्रीगाविन्ददेवका मैं भजन करता हूँ॥३०॥

टीका—तदेव चिन्तामणिप्रकरसद्ममयं 'कथा गानं नाट्यं गमनमपि' इति वक्ष्यमाणानुसारेण गोकुलाख्य–विलक्षणपीठगतां लीलामुक्त्वा। एकस्थानस्थितिकां कथां गमनादिरहितां बृहद्ध्यानादि–दृष्टां द्वितीयपीठगतां लीलामाह,—वेणुमिति द्वयेन। तत्र वेणुमिति सर्वं स्पष्टम्॥३०॥

अनुवाद—वहाँका सहज–कथन ही गान है, गमन अर्थात् चलना–फिरना ही नृत्य है, वंशी ही प्रियसखी है—इत्यादि आगे जो वर्णन किया जायेगा, उसी रीतिके अनुसार, पूर्व–श्लोकमें कथित चिन्तामणिमय भवनकी अर्थात् गोलोकगत विलक्षण पीठकी स्वारसिकी लीलाका वर्णन करनेके पश्चात् एक स्थानमें अनुष्ठित गानादि रहित द्वितीयपीठगत वृहद्ध्यानमयी—मंत्रोपासनामयी लीलाका वर्णन 'वेणु क्वणन्तम्'—आदि दो श्लोकोंसे कर रहे हैं—जो सुमधुर स्वरसे वेणुवादनमें तत्पर हैं, जिनके नेत्रद्वय–पद्मपत्र–सदृश विशाल और स्निग्ध दृष्टिसम्पन्न हैं, मस्तकपर मयूर–पुच्छ निर्मित चूड़ा, नवजलधर जैसी सुन्दर अङ्गकान्ति है, करोड़ों–करोड़ों कन्दर्पोंके रूप–सौन्दर्यको तिरस्कृत करनेवाली जिनकी अङ्गशोभा है, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्ददेवका मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य—इस श्लोकमें गोलोकके परम–कान्त श्रीकृष्णकी अतुलनीय शोभाका वर्णन कर रहे हैं। विभुचैतन्य श्रीकृष्ण—स्वरूपतः चिद्–देहयुक्त हैं। जड़ जगतकी रमणीय वस्तुओंको देखकर जो कृष्ण–स्वरूपका वर्णन होता है, वह केवल सौसादृश्यके लिए शाखाचन्द्र–न्यायकी भाँति दिग्–दर्शन करानेके लिए होता है। कृष्ण वेणुवादनमें तत्पर हैं; वह वेणु रमणीय–स्वरके संयोगसे समस्त चेतन पदार्थके चित्तको हरण करता है। कमलदलमें जैसी स्निग्धता होती है, वैसी उनकी करुणाभरी चिन्मयी–दृष्टि भी सबके हृदय पीड़ाको हरण करती है। ऐसी करुणाभरी चिन्मय दृष्टिसम्पन्न नेत्रद्वय उनके मुखचन्द्रकी असीम शोभाके विस्तारकारी हैं। मयूर–पुच्छकी भाँति शिरोभूषणकी शोभा उनके चित् सौन्दर्यका विधान करती है। नीले मेघ जैसे स्निग्ध–दर्शन होते हैं, वैसे श्रीकृष्णका वर्ण भी चिन्मय श्यामल सुन्दर—चारुदर्शन है। जड़ जगतमें जो कन्दर्पका स्वरूप है, उसको करोड़ों गुणा करनेपर जो स्वरूप बनता है, उसको भी मोहित करनेवाला श्रीकृष्णका मोहन–स्वरूप है॥३०॥

श्लोक ३१

आलोलचन्द्रक-लसद्वनमाल्यवंशी-
रत्नाङ्गदं प्रणयकेलिकलाविलासम्।
श्यामं त्रिभङ्गललितं नियतप्रकाशं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥३१॥

अन्वय—(जो) आलोकचन्द्रक-लसद्-वनमाल्यवंशीरत्नाङ्गदं (दोदुल्यमान चन्द्रक अर्थात् मयूर-पुच्छ, वनमाला, वंशी और रत्नाङ्गद द्वारा सुशोभित), प्रणयकेलिकलाविलासं (प्रणयकेलि-कला-विलासमें सुनिपुण), श्यामं (श्याम वर्ण) त्रिभङ्ग ललितं (ललित त्रिभङ्ग) (और) नियत प्रकाशं (नित्य प्रकाशमान), तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥३१॥

अनुवाद—दोदुल्यमान मयूर-पुच्छसे सुशोभित वनमाला जिनके गलदेशमें विराजमान है, जिनके करकमलोंमें वंशी और रत्नाङ्गद शेभित हैं, प्रणयकेलि-विलासमें जो सतत प्रमत्त रहते हैं, ललित-त्रिभङ्ग श्यामसुन्दर-रूप ही जिनका नित्यस्वरूप है, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥३१॥

टीका—आलोलेत्यादि। प्रणयपूर्वको यः केलिः परिहासस्तत्र या कला वैदग्धी, सैव विलासो यस्य तं,—"द्रवकेलिपरिहासाः" इत्यमरः॥३१॥

टीकानुवाद—प्रणयपूर्वक केलि अर्थात् हास-परिहासकी कला, उस कलामें जो विदग्धशिरोमणि हैं और वह विदग्धता ही जिनका विलास है, वे हैं 'श्रीकृष्ण'। अमरकोषमें केलि-शब्दका अर्थ 'परिहास' ही देखा जाता है—'द्रवकेलि परिहास'॥३१॥

तात्पर्य—'चिन्तामणिप्रकर' श्लोकमें चिन्मय धाम एवं गोविन्द आदि चिन्मय नामका तथा 'वेणुक्वणन्तम्' श्लोकमें चिन्मय नित्यरूपका एवं इस श्लोकमें उस स्वरूपके चौंसठ-गुणस्वरूप केलि-विलासका वर्णन किया गया है। मधुर रसके वर्णनमें जहाँतक चिद्व्यापारका वर्णन करना संभव है, उन सभीका वर्णन इस 'प्रणय-केलि-विलास'के अन्तर्गत ही समझना चाहिए॥३१॥

विवृति—इस प्रकार ब्रह्माजीने 'चिन्तामणि' श्लोक द्वारा स्वारसिकी उपासनामयी श्रीकृष्णकी अनेक प्रकारकी लीलाओंका तथा 'वेणुक्वणन्तम् श्लोक द्वारा एकदेशस्थित उनकी एक लीलाके ध्यानरूपी मन्त्रोपासनामयी लीलाका वर्णन किया है। प्रस्तुत श्लोक मन्त्रोपासनामयी लीला-ध्यानका

उदाहरण है। शास्त्रोंमें इसी प्रकार मन्त्रोपासनामयी लीलाके बहुतसे उदाहरण हैं। अन्यत्र ब्रह्माजीने कहा है—

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।
द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्॥

(श्रुति १)

—जिनके नेत्र निर्मल कमल जैसे बड़े-बड़े सुन्दर और स्निग्ध हैं, जिनकी अङ्गकान्ति नव-जलधर जैसी श्यामल-वर्णकी है, जिसके द्वारा वे सबके तप्त-हृदयको शान्ति प्रदान करते हैं; जो सदैव विशेष रूपसे दीप्तिशाली हैं अर्थात् स्वप्रकाश-स्वरूप हैं अथवा स्थिर-विद्युत सदृश जिनका पीताम्बर है; जो द्विभुज हैं अर्थात् एक हाथसे विमुख-जीवोंका उद्धार और दूसरे हाथसे प्रेम-प्रदान करनेवाले हैं; जो ज्ञानमुद्रा अर्थात् सदा एकरसमें एकरूपसे अवस्थित हैं, अथवा रस-विशेषमय वेणुवादनके द्वारा रसाविष्ट हैं, इसलिए मौन मुद्रायुक्त हैं और वनमाला द्वारा विभूषित हैं, वन शब्दसे निर्जन प्रदेश—एकान्त स्थान या रहः प्रदेशका तात्पर्य है; 'माल' धातुका अर्थ प्रकाश अर्थात् जो निर्जन प्रदेशमें अपने प्रियजनोंके निकट प्रकाशित हैं तथा उन गोपियोंके द्वारा परिवेष्टित हैं—उनके साथ लीला परायण हैं; जो दूसरोंसे छिपकर किसी एकान्त स्थानमें किसी विशेष गोपीके साथ रस-विशेषका आस्वादन करते हैं—ऐसे श्रीगोविन्दरूप सर्वेश्वरेश्वरका स्मरण करता हूँ।

आगे और भी कहते हैं—

गोप गोपी गवावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम्।
दिव्यालङ्करणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम्॥

(श्रुति २)

जो गोप, गोपी, गो आदिसे परिवृत हैं, जो अपनेको गोपन रखते हैं, इस अर्थसे गोप हैं अथवा गोप कहनेसे श्रीदामादि सखागण, गोपी शब्दसे माया अथवा श्रीराधा आदि गोपीगण, गो शब्दसे वेद अथवा कपिला आदि गौएँ, ये जिनको आश्रय किये

हुये हैं अर्थात् ये सभी श्रीकृष्णके आश्रित हैं, श्रीकृष्ण सुरद्रुम तलाश्रित हैं अर्थात् वेद प्रतिपाद्य हैं या कल्पतरु मूलमें अवस्थित हैं और दिव्य अलंकारोंसे विभूषित हैं अथवा सम्पूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यशः, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदिसे युक्त हैं, जो रत्नतुल्य अतिशय निर्मल हृदयकमलमें उपवेशन

करते हैं अर्थात् वृन्दावनमें कल्पवृक्षके नीचे कमलके ऊपर उपवेशन किये हुये हैं—ऐसे श्रीकृष्णका ध्यान करता हूँ।

और भी—

दीव्यद्वृन्दारण्यकल्पद्रुमाधः श्रीमद्रत्नागारसिंहासनस्थौ ।
श्रीश्रीराधा-श्रीलगोविन्ददेवौ प्रेष्ठालीभिः सेव्यमानौ स्मरामि ॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

—ज्योतिर्मय शोभाविशिष्ट वृन्दावनके कल्पवृक्षके नीचे रत्नमन्दिरस्थ सिंहासनके ऊपर विराजमान श्रीश्रीराधा-गोविन्ददेवकी प्रिय सखियाँ सेवा कर रही हैं; मैं उनका स्मरण कर रहा हूँ।

इस प्रकार श्रीरूप गोस्वामीने भी वर्णन किया है—

महेन्द्रमणिमञ्जुलद्युतिमरन्दकुन्दस्मितः
स्फुरत्पुरटकेतकीकुसुमरम्यपट्टाम्बरः।
स्रगल्लसदुरःस्थलक्वणितवेणुरत्राब्रजन्
व्रजादघहरो हरत्यहह नः सखीनां मनः॥

(भ.र.सि. ३.३.५२)

जिनकी अङ्गकान्ति इन्द्रनीलमणिकी अपेक्षा भी सुन्दरतर, अधरमें कुन्द कुसुमकी भाँति अत्युत्तम शुभ्र हास्य, परिधानमें फुल्ल स्वर्ण केतकीकी भाँति रम्य पट्टाम्बर, वनमालासे वक्षःस्थल मनोज्ञ, ऐसे श्रीहरि ब्रजमें मुरली वादन करते हुए हम सबके चित्तको हरण कर रहे हैं॥३१॥

श्लोक ३२

अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति
पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति।
आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वलविग्रहस्य
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥३२॥

अन्वय—आनन्द चिन्मय सदुज्ज्वल विग्रहस्य यस्य (जो सच्चिदानन्द उज्ज्वल विग्रह एवं जिनके) अङ्गानि (अङ्गसमूह) सकलेन्द्रिय वृत्तिमन्ति (सारी इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे युक्त अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय अपनी-अपनी वृत्तिके अतिरिक्त दूसरी-दूसरी इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे भी युक्त होकर) चिर (चिरकाल) जगन्ति (ब्रह्माण्ड समूहका) पश्यन्ति (दर्शन करते हैं), पान्ति (पालन करते

हैं), कलयन्ति (नियमन करते हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥३२॥

अनुवाद—उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ; जिनका श्रीविग्रह—आनन्दमय, चिन्मय और सत्–मय होनेके कारण परमोज्ज्वल है; जिस श्रीविग्रहके सारे अंग अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय, समस्त इन्द्रियोंकी सारी वृत्तियोंसे सम्पन्न हैं और जो चिदचिद् अनन्त जगतसमूहका नित्य दर्शन, पालन और नियमन करते हैं॥३२॥

टीका—तदेव लीलाद्वयमुक्त्वा परमाचिन्त्यशक्त्या वैभवविशेषेणाह,—अङ्गानीति चतुर्भिः। तत्र तत्र विग्रहस्याह,—अङ्गानीति। हस्तोऽपि द्रष्टुं शक्नोति, चक्षुरपि पालयितुं पारयति, तथान्यदन्यदप्यङ्गमन्यत् कलयितुं प्रभवतीति; एवमेवोक्तं—"सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्" इत्यादि। 'जगन्ति' इति लीलापरिकरेषु तत्तदङ्गं यथा स्वयमेव व्यवहरतीति भावः। तत्र च तस्य विग्रहस्य वैलक्षण्यमेव हेतुरित्याह,—आनन्देति॥३२॥

टीकानुवाद—इस प्रकार श्रीब्रह्माजी आदि पुरुष गोविन्दकी दोनों प्रकारकी लीलाओंका वर्णन कर यहाँ 'अङ्गानि यस्य' इस श्लोकसे लेकर चार श्लोकमें श्रीकृष्णकी अचिन्त्यशक्तिके वैभवको प्रकाश कर रहे हैं। उनके हाथ–पैर देख भी सकते हैं, नेत्र देखनेके अतिरिक्त पालन आदि सभी कार्य कर सकते हैं; इसी प्रकार उनके दूसरे–दूसरे अङ्ग अन्य सभी अङ्गोंके कार्य करनेमें समर्थ हैं। इसीलिए श्रुतिमें कहा गया है—'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' इत्यादि। इस प्रकार 'जगन्ति' अर्थात् अपने लीला–परिकरोंमें उनके भावानुरूप अपने स्वरूपको प्रकट करते हैं तथा अपने अङ्गोंसे उन परिकरोंकी रस–चमत्कारिताका आस्वादन करते हैं। यह सब कुछ उनके श्रीविग्रहके विलक्षण प्रभावसे ही सम्पन्न होता है॥३२॥

तात्पर्य—चिद्रसास्वादनके अभावसे जड़ज्ञानमें सम्पूर्णरूपसे आबद्ध व्यक्तियोंके मनमें एक विषम संशय होता है। वह संशय यह है, वे समझते हैं कि प्राचीन पण्डितोंने जड़ जगतकी भावनाओंके आधार पर अपनी कल्पना–शक्तिसे ही कृष्ण–तत्त्वकी कल्पना की है। उनके इस अनर्थजनक संशयको दूर करनेके लिए ब्रह्माजीने इस प्रस्तुत श्लोक तथा इसके परवर्ती और भी तीन श्लोकोंके द्वारा चित् और अचित्—इन दोनों पदार्थोंको तात्त्विकरूपसे अलग–अलग दिखलाकर शुद्ध–समाधिमें प्राप्त चिन्मयी–कृष्णलीलाको समझानेका प्रयत्न किया है।

श्रीब्रह्माजीके कहनेका अभिप्राय यह है कि श्रीकृष्ण–विग्रह सच्चिदानन्दमय है और मायिक जड़ जगतकी सारी प्रतीतियाँ जड़–तमोमयी होती हैं। इन दोनोंमें विशेषगत विलक्षणता रहनेपर भी यथार्थरूपमें चिद्–व्यापार ही मूलतत्त्व है। विशेष और विचित्रता उनमें नित्य वर्त्तमान है। उसीसे कृष्णका चिन्मय धाम, चिन्मय रूप, चिन्मय नाम, चिन्मय गुण और चिन्मय लीला आदि प्रतिष्ठित हैं। शुद्ध चिद्बुद्धिविशिष्ट और मायासम्बन्धरहित व्यक्तियोंके लिए ही वह लीला आस्वादनयोग्य होती है। चिद्धाम, चित्शक्ति द्वारा प्रकाशित चिन्तामणिमय लीलापीठ और श्रीकृष्ण विग्रह—सबकुछ चिन्मय है। जैसे मायाशक्ति—चित्–शक्तिकी छाया है, वैसे ही जड़ माया द्वारा गठित विचित्रता भी चिद्–वैचित्र्यका हेय प्रतिफलन या छायाविशेष है। अतएव सब प्रकारकी मायिक प्रतीतियाँ जड़–तमोमयी हैं।

इसलिए वह चित् जगत काया है और जड़ जगत छाया है। उस जगतकी विचित्रताके सादृश्य ही इस मायिक जगतमें विचित्रताएँ लक्षित होती हैं। दोनों जगतकी विचित्रतामें सादृश्य रहनेपर भी दोनों परस्पर विलक्षण हैं।

जड़ता ही जड़–जगतका दोष है; जड़ जगतमें सभी पदार्थोंका जन्म होता है, वार्द्धक्य होता है और अन्तमें उनका विनाश हो जाता है; इसी प्रकार इस जगतमें प्रतीत होनेवाले सुख भी दुःखपूर्ण और अनित्य होते हैं। परन्तु चिज्जगतमें ये दोष नहीं हैं। वहाँकी सभी विचित्रताएँ शुद्ध चिन्मयी, नित्य और मायिक–दोष रहित सम्पूर्ण निर्दोष हैं। कृष्णकी आत्मा और शरीर दोनोंमें कोई भेद नहीं है, परन्तु जड़बद्ध जीवोंके शरीर और आत्मामें भेद है। ये दोनों पृथक्–पृथक् हैं। चित् स्वरूपमें देह–देही, अङ्ग–अङ्गी, धर्म–धर्मीका भेद नहीं होता है। परन्तु जड़बद्ध जीवोंमें ये भेद रहते हैं। कृष्ण अङ्गी होनेपर भी उनका प्रत्येक अङ्ग ही पूर्ण–कृष्ण है, समस्त चिद्वृत्तियाँ उनके समस्त अङ्गोंमें निहित हैं। अतएव वे—अखण्ड पूर्ण चिन्मय–तत्त्व हैं।

जीवात्मा और कृष्ण दोनों ही चित्–स्वरूप हैं, अतएव वे एक प्रकारके होते हैं; परन्तु दोनोंमें भेद यह है कि उक्त समस्त चिद्गुणसमूह जीवमें अणुरूपमें और कृष्णमें विभुरूपमें नित्य वर्त्तमान रहते हैं। जीव शुद्ध–स्वरूप प्राप्त होनेपर भी वैसे गुण उसके शुद्धस्वरूपमें अणुरूपमें ही प्रकाशित होंगे। कृष्णकी कृपा होनेपर क्रमशः चिद्–ह्लादिनीका बल आविर्भूत होने पर जीवकी समताकी सिद्धि तो होती है, फिर भी कोई–कोई विशेष गुणके कारण

श्रीकृष्णचन्द्र उन सबके उपास्य देवता हैं। चार प्रकारके गुण केवल श्रीकृष्णमें ही पाये जाते हैं। रूपमाधुरी, गुणमाधुरी, वेणुमाधुरी और लीलामाधुरी—ये चार विशेषताएँ श्रीकृष्णकी अपनी हैं। परव्योमके अधिपति नारायण या पुरुषावतार कारणाब्धिशायी महाविष्णु आदिमें भी ये चारों विषेताएँ नहीं हैं। महादेव आदि देवताओंमें भी नहीं हैं, तब जीवोंमें ये गुण कैसे सम्भव हो सकते हैं?॥३२॥

श्लोक ३३

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूप–
माद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनञ्च।
वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥३३॥

अन्वय—(जो) अद्वैतम् (अद्वैत अर्थात् जिनसे सम्पूर्णरूपसे पृथक् किसी भी द्वितीय वस्तुका अस्तित्व नहीं है) अच्युतम् (अच्युत) अनादिम् (अनादि) अनन्तरूपं (अनन्तरूप) आद्यं (सबके आदि) पुराणपुरुषम् (पुराण पुरुष) नव यौवनं च (और नव यौवन-विशिष्ट) वेदेषु दुर्लभम् (वेदोंमें दुर्लभ अर्थात् वेदसमूह भी जिनके तत्त्व निरूपणमें असमर्थ हैं) आत्मभक्तौ (अपनी भक्तिमें) अदुर्लभम् (दुर्लभ नहीं हैं अर्थात् सुलभ हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥३३॥

अनुवाद—जो अद्वैत, अच्युत, अनादि, अनन्तरूप, आद्य, पुराण-पुरुष होकर भी सदैव नवयौवन-सम्पन्न सुन्दर पुरुष हैं, जो वेदोंके भी अगम्य हैं, परन्तु शुद्धप्रेमरूप आत्म-भक्तिके द्वारा सुलभ हैं, ऐसे आदिपुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥३३॥

टीका—वैलक्षण्यमेव पुष्यति,—अद्वैतमिति त्रिभिः। 'अद्वैतं' पृथिव्यामयमद्वैतो राजेतिवदतुल्यमित्यर्थः,—"विस्मापनं स्वस्य च" इति तृतीयस्थोद्धववाक्यात्। 'अच्युतं'—"कंसो वताद्याकृत मेऽत्यनुग्रहं द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितोऽमुना हरेः। कृतावतारस्य दुरत्ययं तमो पूर्वेऽतरन् यन्नखमण्डलत्विषा॥ यदर्च्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः श्रिया च देव्या" इत्यादि-दशमस्थाक्रूरवाक्यात्, "या वै श्रियार्च्चितमजादिभिराप्तकामैर्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्। कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्" इति

श्रीमदुद्धव-वाक्यात्, "दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्" इत्युक्त्वा "नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः। कृष्णञ्च तत्र छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः॥" इति शुकवाक्याच्च। 'अनादिम्' आदित्रयं; यथैकादशे सांख्यकथने—"कालो मायामये जीवे" इत्यादौ महाप्रलये सर्वावशिष्टत्वेन ब्रह्मोपदिश्य तदपि तस्य द्रष्टा स्वयं भगवान् अस्मिन्नाह,—"एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः। प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया॥" इति। 'पुराणपुरुषं'—"एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः" इति ब्रह्मवाक्यात्, "गूढ़ः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः" इति माथुरवाक्याच्च। तथापि 'नवयौवनं'—पुरापि नवः पुराण इति निरुक्तेः,"गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपम्" इत्यादौ "अनुसवाभिनवम्" इति श्रीदशमात्, "यस्याननं मकरकुण्डलम्" इत्यादि नवमात् "सत्यं शौचम्" इत्यादो "कौशलं कास्तिर्धैर्य्यम्" आदीनि पठित्वा "एते चान्ये च भगवन् नित्या यत्र महागुणाः। प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्" इति प्रथमात्; बृहद्ध्यानादौ तथा श्रवणात्, "गोपवेशमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम्" इति तापनीश्रुतौ तद्ध्याने 'तरुण'-शब्दस्य 'नवयौवन' एवशोभा-निधानत्वेन तात्पर्य्यात्। 'वेदेषु दुर्लभं'—"भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्" इति "अद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव" इति च श्रीदशमात्। 'अदुर्लभमात्मभक्तौ' "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" इत्येकादशात्, "पुरेह भूमन्" इत्यादि श्रीदशमाच्च॥३३॥

टीकानुवाद—'अद्वैतम्' आदि तीन श्लोकोंमें श्रीब्रह्माजी श्रीभगवान्‌की विलक्षणताको पुष्ट करते हैं। तत्त्वविद् विद्वान् पुरुष जिनको अद्वयज्ञान-परतत्त्व कहते हैं, जो ब्रह्म और परमात्माके आश्रय हैं जिनको वेदोंमें 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा गया है, जिनके समान या जिनसे अधिक कोई नहीं है, जिनकी प्राकृत इन्द्रियाँ नहीं हैं और जिनको कोई कर्म-बन्धन भी नहीं है, ऐसे स्वतन्त्र स्वराट् अकेले अद्वितीय पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण ही परम-तत्त्व हैं।

जिनकी अद्वितीयताके विषयमें कहा गया है—

स्वयन्तु साम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीट्कोट्येडितपादपीठः॥
(भा. ३.२.२१)

श्रीकृष्ण ही स्वयंरूप भगवान् हैं, वे तीनों शक्तियोंके अधीश्वर हैं, उनके समान या उनसे बढ़कर कोई नहीं है। वे अपने परमानन्द-स्वरूपमें परिपूर्ण-काम हैं। इन्द्र, चन्द्र, कुबेर, वरुण, ब्रह्मा, शिवादि देवतागण तथा

पुरुषावतार आदि असंख्य लोकपालगण विविध प्रकारके पूजा-उपहार प्रदान करते हुए उनके पादपीठपर करोड़ों-करोड़ों किरीट द्वारा शोभित मस्तक द्वारा प्रणाम करते हैं।

'विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषण भूषणाङ्गम्'—इससे भगवान् इस प्रपञ्च जगतमें अपनी योगमायाका प्रभाव प्रदर्शनके लिए अपनी सच्चिदानन्द श्रीमूर्त्तिको प्रकट करते हैं, उनका वह स्वरूप मर्त्यलीलाके उपयोगी इतना सुन्दर और मनोरम होता है कि उससे स्वयं कृष्णको भी अतिशय विस्मय होता है। वह स्वरूप अतिशय सौभाग्यकी पराकाष्ठा एवं समस्त भूषणोंका भूषणस्वरूप है। अर्थात् समस्त लौकिक दृश्य-वस्तुओंमें परम अलौकिक है।

'अच्युतं'—जो कभी भी अपने स्वरूप, स्वभाव, धर्म आदिसे विच्युत नहीं होते हैं। काशीखण्डमें कहा गया है—'अतोऽच्युतोऽखिले लोके स एकः सर्वगोऽव्ययः' अर्थात् महाप्रलय आदिमें भी उनके भक्तोंका पतन नहीं होता है; इसीलिए अखिल लोकमें एक सर्वग अव्यय पुरुष कृष्णको ही अच्युत कहा गया है। ऐसे अच्युत श्रीकृष्णके विषयमें श्रीअक्रूरजीने भी उनकी स्तुतिमें कहा है—

अहो! आज कंसने मुझपर महान् अनुग्रह किया है, इससे मेरा समस्त अमङ्गल दूर हो गया, मेरा जन्म सार्थक हो गया; क्योंकि आज मैं योगीजनोंके चिन्तनीय भूतल पर अवतरित भगवान् श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंमें प्रणत हो सकूँगा। अम्बरीष आदि प्राचीन महापुरुषगण उन श्रीचरणकमलोंकी नख-चन्द्रिकाकी एक झलक प्राप्तकर दुस्तर संसार-समुद्रको पार कर गये हैं। अहा! ऐश्वर्ययुक्त होनेसे उन चरणकमलोंका अर्चन ब्रह्मा-शिव आदि देवगण करते हुए अघाते नहीं हैं, अखिल सौभाग्यप्रद होनेसे परम सौभाग्यवती लक्ष्मीदेवी, परम पुरुषार्थप्रद होनेसे भक्तजन सहित मुनिगण और परम करुणावरुणालय होनेसे गोचारणमें वनविहार करते हुए ग्वालबाल उन श्रीचरणकमलोंकी अनुरागभरी सेवा करते हैं; तथा वे ही चरणकमल महाभावमयी गोपियोंके कुचकुङ्कुम द्वारा अभिरञ्जित होते हैं।

इस प्रकार श्रीउद्धवजीने उनके श्रीचरणकमलोंकी महिमाका व्याख्यान करते हुए कहा है—

'या वै श्रियार्चित ... परिरभ्य तापम्' अर्थात् लक्ष्मीजी जिनके चरणकमलोंकी सेवा करती हैं, ब्रह्मादि आप्तकाम योगेश्वरगण अपने हृदयमें

जिन पादपद्मोंकी अर्चना करते हैं, उन पादपद्मोंका—रासगोष्ठीमें ये गोपियाँ अपने स्तन-मण्डलमें आलिङ्गन करती हुई चित्तका सन्ताप दूर करती हैं, इस प्रकार जिनके श्रीचरणकमलोंकी महिमाका सर्वत्र वर्णन हुआ है।

इस प्रकार उनका धाम भी लोकातीत-मायातीत तथा तीन गुणोंसे अतीत हैं, उसको दिव्य-लोक कहा जाता है। जैसे भगवान्‌ने नन्द आदि ब्रजवासियोंको प्रकृतिके पार ब्रह्म-स्वरूप वैकुण्ठलोकका दर्शन कराया; वह धाम चिन्मय, अपरिच्छिन्न, सत्य, स्वप्रकाश-स्वरूप, नित्य और ब्रह्म-स्वरूप है। मुनिगण निर्गुणता प्राप्त होनेपर समाधि दशामें उस स्थानका दर्शन करनेमें समर्थ हो पाते हैं। उस लोकमें मूर्त्तिमान वेदोंको श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए देखकर नन्द आदि ब्रजवासी गोपोंको अतिशय विस्मय हुआ।

इस प्रकार श्रीब्रह्माजीके द्वारा वर्णित इस श्लोकमें श्रीजीव गोस्वामीपाद अद्वैत, अच्युत आदिकी व्याख्या करनेके पश्चात् अब अनादि-शब्दकी व्याख्या करते हैं—जैसे एकादश-स्कन्धके सांख्य-कथन-प्रसंगमें 'कालोमायामये जीवे' श्लोकमें कहा गया है—श्रीकृष्ण अनादिके आदि हैं; जो सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयमें एक स्वरूप होकर वर्त्तमान रहते हैं। जिस समय ब्रह्मा और शंकर भी नहीं रहते हैं, उस समय एकमात्र भगवान् ही वर्त्तमान रहते हैं अर्थात् विश्वके प्रलय हो जानेपर भी वे अपने नित्य धाममें नित्य परिकरोंके साथ नित्य लीलापरायण होकर रहते हैं। इसलिए उनका कभी परिवर्त्तन नहीं होता है।

जैसे एकादश-स्कन्ध भागवतमें भी वर्णन किया गया है—प्रलय-कालमें मर्त्य-शरीर अन्नमें, अन्न बीजमें, बीज भूमिमें, भूमि गन्धमें, गन्ध जलमें, जल रस-तन्मात्रामें, रस तेजमें, तेज रूपमें, रूप वायुमें, वायु स्पर्शमें, स्पर्श आकाशमें, आकाश शब्द-तन्मात्रामें, इन्द्रिय समूह अपने प्रवर्त्तक देवताओंमें, देवतागण नियामक मनमें, मन अहंकारमें, शब्द तामस-अहंकारमें, अहंकार त्रय महत्तत्त्वमें, महत्तत्व गुणोंमें, गुण प्रकृतिमें, प्रकृति कालमें, काल ज्ञानमय जीवमें एवं जीव मुझमें अवस्थित होता है परन्तु विश्वकी सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयके हेतु स्वरूप मेरा कभी भी अभाव नहीं होता है। (श्रीमद्भा. ११.२४.२९)

इस प्रकार उनको पुराणपुरुष कहा जाता है—'पुराणपुरुषं-एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराण' अर्थात् ब्रह्माजीने कहा—हे भगवन्! आप ही एकमात्र सत्य हैं, क्योंकि आप परमात्मा हैं एवं इस परिदृश्यमान जगतसे भिन्न हैं। आप

जगतके जन्म आदिके मूल कारण हैं, पुराणपुरुष और नित्य सनातन हैं। आप ही पूर्ण नित्यानन्दमय, कूटस्थ, अमृतस्वरूप एवं उपाधिमुक्त निरञ्जन अर्थात् माया–गुण रहित, विशुद्ध और अनन्त—अपरिच्छिन्न तथा अद्वय हैं। 'गूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः' अर्थात् मथुराकी यादव–पत्नियोंने कहा—ये कृष्ण—ब्रह्मा, शंकर और लक्ष्मीदेवीके द्वारा अर्चितपद पुराण या सनातन पुरुष श्रीकृष्ण हैं; 'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः'—अर्थात् निराकार, निर्विशेष, अव्यक्त ब्रह्म मायाशक्तिकी विद्यावृत्तिद्वारा परिच्छिन्न होकर नन्दभवनमें श्रीकृष्णरूपमें अवतीर्ण हुए हैं—ऐसी बुद्धिवाले अज्ञजनोंके लिए आप अज्ञात हैं, इसलिए आप गूढ़ हैं तथा अपने स्वरूपमें विचित्र वनमाला द्वारा विभूषित होकर बलदेवके साथ गोचारण एवं वेणुवादन करते हुये विविध प्रकारके लीला–विलास करते हैं; इस प्रकार वे पुराण पुरुष हैं। श्रुतिमें भी कहा गया है—उनका नवयौवन–स्वरूप कैशोर–रूप ही नित्य स्वरूप है, उसीमें उनकी नित्य स्थिति है। वे पुरातन होकर भी नित्य–नवीन हैं।

श्रीदशम स्कन्धमें भी कहा है—

'गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्यरूपम्'—अहो कौन–सी तपस्याके फलसे गोपियाँ उनकी असमोर्द्ध रूपमाधुरीका निरन्तर पान करती हैं; 'अनुसवाभिनवम्' अर्थात् उनकी प्रतिक्षण नवनवायमान रूप–माधुरीका पान करती हैं; गोपियाँ अपने नेत्रोंद्वारा श्रीकृष्णके लावण्यसार, असमोर्द्ध्व, स्वभावसिद्ध यश, श्री और ऐश्वर्यके एकमात्र आधारस्वरूप, दुर्लभ नित्य–नवीन सौन्दर्यका दर्शन करती हैं। जिनके मकराकृति–कुण्डलशोभित मनोहर कर्ण–युगल और उनके द्वारा देदीप्यमान गण्डयुगल अद्भुत सुन्दर विलासयुक्त, हास्य समन्वित हैं। इन्हीं रूप और गुणोंके द्वारा वे समस्त भक्तजनोंके चित्त मन प्राणको आकर्षण करते हैं।

इसलिए प्रथम स्कन्धमें श्रीकृष्णके गुणोंका वर्णन करते हुए कहा है—सत्यं शौचं दया क्षान्ति... श्रीनिवासेन साम्प्रतम्।।

भगवान् श्रीहरिके असंख्य गुण हैं, उनमेंसे यहाँ सामान्य रूपसे दिग्दर्शन कराया जा रहा है—

(१) सत्य अर्थात् यथार्थ भाषण, (२) शौच—शुद्धता, (३) दया—परदुःख असहिष्णुता, (४) शरणागत पालक, (५) भक्तजनोंसे मित्रता, (६) क्षान्ति—क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी चित्तका संयम, (७) वदान्यता, (८) सन्तोष—स्वभाविक रूपसे तृप्तिका अनुभव, (९) आर्जव—सरलता,

(१०) सर्वमंगलकारीत्व, (११) शम—मनकी निश्चलता, (१२) अनुकूल विषयमें दृढ़ संकल्प, (१३) दम—बाह्य इन्द्रियोंका स्थैर्य साधन, (१४) तप—क्षत्रियत्वादि लीलावतार अनुरूप स्वधर्म, (१५) साम्य—शत्रु-मित्र आदिमें समबुद्धि, (१६) तितिक्षा—अपने प्रति महद् अपराधका सहन, (१७) उपरत—लोभनीय वस्तुके प्रति उदासीनता, (१८) श्रुत-शास्त्र विचार, (१९) ज्ञान—पाँच प्रकारके हैं—प्रत्यक्ष, परोक्ष, अपरोक्ष, अधोक्षज और अप्राकृत, (२०) बुद्धिमत्ता, (२१) कृतज्ञता, (२२) देशकाल पात्रज्ञता, (२३) सर्वज्ञता, (२४) आत्मज्ञता, (२५) ऐश्वर्य—नियन्तृत्व, (२६) शौर्य—संग्राममें उत्साह, (२७) तेज-प्रभाव, (२८) प्रभाव विख्यातिरूप प्रताप, (२९) बल—अतिशीघ्र दुष्कार्य साधनमें दक्षता, (३०) स्मृति—कर्त्तव्य-अनुसन्धान, (३१) धृति—अक्षुब्ध चित्तता, (३२) स्वातन्त्र्य—अपराधीनता, (३३) कौशल—विविध क्रियामें निपुणता, (३४) एक ही समयमें बहुतसे कार्य करनेकी दक्षता या चातुर्य, (३५) कला-विलासमें अभिज्ञता, (३६) अवयवकी कान्ति, (३७) वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्दसमूहकी कान्ति, (३८) कैशोरकी कान्ति, (३९) नारीगण मनोहारित्व, (४०) धैर्य—अव्याकुलता, (४१) मार्दव—चित्तका प्रेमार्द्रभाव, (४२) प्रेमवश्यता, (४३) प्रागल्भ्य—प्रतिभा अतिशयता, (४४) वावदूकता अर्थात् कुशल वक्ता, (४५) प्रशय—विनय, (४६) लज्जाशीलता, (४७) यथोपयुक्त सर्व मानदातृत्व, (४८) प्रियम्वदता—मधुर भाषी, (४९) शील—सुन्दर स्वभाव, (५०) साधु समाश्रयत्व, (५१) सहः—मनकी पटुता, (५२) ओजः—ज्ञानेन्द्रियकी पटुता, (५३) बल—कर्मेन्द्रियकी पटुता, (५४) भग—भोगास्पदता, (५५) सुखित्व, (५६) सर्वसमृद्धिमान, (५७) दुर्बोध अभिप्रायत्व, (५८) स्थैर्य—अचञ्चलता, (५९) आस्तिक्य—शास्त्रदर्शन, (६०) कीर्त्ति—सद्‌गुण ख्याति, (६१) रक्त लोकत्व या लोकप्रियता, (६२) मान—पूज्यता, (६३) अनहंकृति—समस्त प्रकारसे पूज्य होते हुए भी गर्वका अभाव, (६४) ब्रह्मण्यता, (६५) सर्वसिद्धिनिषेविता, (६६) सच्चिदानन्द विग्रहत्व, (६७) सन्तोष आदि कतिपय गुण भक्तोंमें तथा कर्मी, ज्ञानी और योगियोंमें भी देखा जाता है। परन्तु वे समस्त गुण उनमें सामान्य रूपसे होते हैं, भगवान्‌में ये समस्त गुण परिपूर्ण रूपमें विराजमान हैं। इसलिए ये समस्त महागुण अप्राकृत, चिन्मय या स्वरूपस्थित गुण हैं। (६९) श्रीकृष्णकी अप्राकृत-गुणावलीका नित्यत्व, उनकी लीलाका नित्यत्व, लीला परिकर पार्षद, धाम, भक्त एवं तदीय वस्तुका नित्यत्व, अप्राकृतत्व और पूर्णता है। इस प्रकार जो गुण जीवोंमें सम्भव नहीं हैं, वे समस्त एकमात्र भगवान्‌में ही हैं।

जैसे—(७०) सत्य संकल्प, (७१) मायावश कारिता, (७२) विशुद्ध सत्त्वमें अधिष्ठान, (७३) जगत पालकत्व, (७४) हतारिगति–दायकत्व, (७५) आत्मारामोंके चित्तको आकर्षणकारी, (७६) ब्रह्मा, शिवादि देवताओंके भी सेव्य, (७७) अचिन्त्य–शक्तित्व, (७८) नित्य नवनवायमान सौन्दर्य, (७९) पुरुषावतार रूपमें मायाधीशत्व, (८०) जगतकी सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय कारित्व, (८१) गुणावतारोंका बीजत्व, (८२) लोमकूपमें अनन्त ब्रह्माण्डका आश्रयत्व, (८३) वासुदेव नारायण आदि रूपमें भी परम अचिन्त्य–अखिल–महाशक्तिमयता, (८४) स्वयं कृष्णरूपमें हतशत्रुको मुक्ति और भक्ति तक प्रदान कारिता, (८५) अपने विस्मयकारी रूपमाधुरी आदि, (८६) अचेतन पदार्थको अपने सान्निध्य द्वारा अशेष सुख प्रदान आदि अनन्त गुण भगवान्‌में नित्य विराजमान हैं। (१. १६.२७–३१)

उनकी मन्त्रमयी उपासनामें तथा बृहद्‌ध्यान आदिमें उसी प्रकारसे वर्णन है। तापनीश्रुतिमें कहा गया है—'गोपवेशमभ्रामं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम्'—श्रीकृष्णको गोपवेशधारी मेघसदृश दिव्य–कान्तिवाले, नव–तरुण, कल्पवृक्ष–तलासीन गोपाल कहा गया है। यहाँ तरुण शब्दसे नवयौवन–स्वरूप कहा गया है, इससे वे शोभा और सौन्दर्यके निधान हैं।

'वेदेषु दुर्लभं'—इस पदसे श्रीब्रह्माजीने कहा—जो श्रुतियोंके दुर्लभ अथवा वेदमार्गमें चलनेवाले कर्मी, ज्ञानी और योगियोंके लिए भी दुर्लभ है, जैसे श्रीउद्धवजीके वाक्यमें—जो श्रुतियाँ आजतक उनका अन्वेषण करती–करती थक गयी हैं, ऐसी मुकुन्द–पदवीको गोपियोंने ही प्राप्त किया है।

इसी प्रकार ब्रह्माजीका भी कथन है—'अद्यापि यत् पदरजः श्रुतिमृग्यमेव'—अर्थात् श्रुतियाँ जिनकी चरणरज पानेकी लालसासे आज तक भी तपस्या कर रही हैं।

जैसे यशोदानन्दन श्रीकृष्ण, भक्तिमान जनोंके प्रेम द्वारा सुलभ होते हैं, वैसे ज्ञानियोंके तथा योगियोंके लिए कदापि सुलभ नहीं हैं।

'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः'—वे केवलमात्र भक्तिके द्वारा ही प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार भगवान्‌ने भी कहा है—हे उद्धव! मदीया साधनात्मिका प्रबला भक्ति मुझको जैसे वशीभूत कर सकती है; वैसे योग, सांख्य, धर्म, वेदपाठ, तपस्या या दानक्रिया आदि मुझको वशीभूत नहीं कर सकते हैं। एकमात्र श्रद्धाजनित अनन्या–भक्तिके द्वारा परम–आत्म–स्वरूप मैं साधुओंके द्वारा ही सुलभ होता हूँ।

इस प्रकार अनन्य-भक्ति चण्डालको भी पवित्र करती है। परन्तु सत्य, शौच, दया, मौन, धर्म, तपस्या, ज्ञान आदि ये सब गुण, मुझमें भक्तिरहित मानव-चित्तको निश्चित रूपसे शुद्ध नहीं कर सकते हैं। (भा.११.१६.२१)

इस प्रकार श्रीब्रह्माजीके कथनमें—'पुरेह भूमन्'—(१०.१४.५) हे अपरिच्छिन्न स्वरूप! हे अच्युत! पुराकालमें इस लोकमें बहुतसे योगीपुरुष विद्यमान थे। परन्तु वे लोग योगमार्गमें फल प्राप्त करनेमें असमर्थ होकर अपने-अपने लौकिक और वैदिक कर्मोंको आपके चरणोंमें समर्पण कर उसके फलस्वरूप वे भवदीय कथाओंका श्रवण-कीर्त्तन रूप भक्तिके द्वारा आत्मतत्त्व ज्ञान लाभकर अनायास ही आपके सामीप्य-रूप (पार्षद-गति) उत्कृष्ट गतिको प्राप्त किये हैं॥३३॥

तात्पर्य—'अद्वैत' अर्थात् अद्वयज्ञान अखड-तत्त्व; जिनकी अंग-प्रभासे अनन्त ब्रह्म तथा उनके अंशसे करोड़ों परमात्मारूपी ईश्वर बहिर्गत होने पर भी वे 'अखण्ड' रहते हैं; 'अच्युत' अर्थात् स्वांशरूपसे कोटि-कोटि अवतार तथा विभिन्नांशरूप अनन्त-कोटि जीव निःसृत होनेपर भी वे— परमपूर्ण हैं; जन्म आदि लीलाएँ प्रकट कर भी वे—'अनादि' हैं; प्रकट लीलाको अप्रकट करके भी अनन्त हैं; अनादि होकर भी वे प्रकट-लीलामें जन्मादि लीला करनेके कारण आदियुक्त हैं। यथार्थतः सनातन पुरुष होकर भी वे नवयौवन-स्वरूप हैं। तात्पर्य यह है कि उनमें समस्त प्रकारके विरुद्ध गुणोंका समावेश है फिर भी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा ये समस्त विरुद्धाविरुद्धगुण उन्हींमें सामञ्जस्य प्राप्त होते हैं। यही चित्-धर्म अर्थात् जड़-विलक्षण-धर्मकी विशेषता है।

उनका परम मनोहर त्रिभङ्गललित श्यामसुन्दर स्वरूप—नित्य नवयौवन-सम्पन्न और मायिक काल-देशजनित व्यवधान और मायिक दोषोंसे अतीत है। भूत और भविष्यत्-रहित शुद्ध वर्त्तमान काल ही चिन्मय धाममें विराजमान है। धर्म और धर्मी भेदसे जो जड़ देशमें परिच्छेद और अपरिच्छेद है, वह चित्-जगतमें नहीं है। अतएव जो समस्त धर्म जड़ जगतमें मायिक देश, काल, पात्र द्वारा आच्छादित बुद्धिसे विरुद्ध रूपमें दिखाई देते हैं, वे सभी अविरुद्ध रूपसे चित् जगतमें परम उपादेय रूपमें वर्त्तमान हैं। इस प्रकार अभूतपूर्व चित्-सत्ताको मायाग्रस्त जीव कैसे अनुभव कर सकता है?

जीवका मायिक ज्ञान—सदैव मायिक देश काल आदि दोषों द्वारा दूषित है, इसलिए वह मायिक भावको परित्याग करनेमें असमर्थ है। यदि ज्ञानवृत्ति चिद्वस्तुका अनुभव नहीं करती है, तब कौन-सी वृत्ति उक्त शुद्ध चिद्विशेषका अनुभव करती है? इसके उत्तरमें श्रीब्रह्माजीने कहा—चिद्-व्यापार वेदके लिए भी अगम्य है। वेद शब्दमूलक हैं और शब्द प्रकृतिमूलक हैं। इसलिए वेद साक्षात् रूपसे अप्राकृत गोलोककी अनुभूति नहीं करा सकते हैं। वेद जब चित्-शक्ति द्वारा विभावित होते हैं, तभी वे चिद्-व्यापारके विषयमें कुछ कह सकते हैं।

किन्तु जब जीवोंमें उस चित्शक्तिकी ह्लादिनीसार-समवेता भक्ति प्रकाशित होती है तब उसीसे गोलोक-तत्त्वकी अनुभूति हो सकती है। भक्तिकी ह्लादिनीवृत्ति असीम अनन्त है; वह शुद्ध चित्-ज्ञानमयी होती है। वही ज्ञान, भक्तिके साथ एकात्मताको प्राप्त होकर अर्थात् पृथक् रूपसे अपना (ज्ञानका) परिचय न देकर केवल भक्तिके रूपमें परिचित होकर गोलोक-तत्त्वको प्रकाशित करता है॥३३॥

श्लोक ३४

पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसंप्रगम्यो
वायोरथापि मनसो मुनिपुङ्गवानाम्।
सोऽप्यस्ति यत्प्रपदसीम्न्यविचिन्त्यतत्त्वे
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥३४॥

अन्वय—वायोः (योगियोंके प्राणायाम द्वारा रुद्ध वायुका) अथापि (अथवा) मुनिपुङ्गवानाम् (श्रेष्ठ-श्रेष्ठ मुनिजनोंके द्वारा अर्थात् निर्भेदब्रह्मके अनुसन्धानकारी ज्ञानियोंके) मनसः (मनोधर्मके) कोटिशतवत्सर-संप्रगम्यः (शत करोड़ वर्षोंके गमनयोग्य) पन्थाः तु (जो पथ है उसकी शेष सीमा योगियोंका कैवल्य और मायावादी ज्ञानियोंका ब्रह्म-सायुज्य), सः अपि (भी) अविचिन्त्यतत्त्वे (प्राकृत चिन्तातीत-स्वरूप) यत् प्रपदसीम्नी (जिनके पादपद्मयुगलके अग्र भागमें अर्थात्) अस्ति (विद्यमान है) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥३४॥

अनुवाद—प्राकृत चिन्तासे अतीत उस परमतत्त्वको पानेके लिए अभिलाषी कोई व्यक्ति, प्राणायाम द्वारा योगियोंके प्राणवायु आदिके नियमनके पथ पर अथवा नेति-नेति कहनेवाले निर्विशेष मायावादियोंके निर्विशेष निराकार ब्रह्मके अनुसंधानकारी मुनिपुङ्गवोंके ज्ञानचर्चारूप पथ पर शत-कोटि वर्षों तक चल कर भी जिनके श्रीचरणारविन्दकी अग्रसीमा मात्रको ही प्राप्त होते हैं, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्ददेवका मैं भजन करता हूँ॥३४॥

टीका—पन्थास्त्विति। 'प्रपदसीम्नि' चरणारविन्दयोरग्रे,—"चित्रं वतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्। गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्" इति श्रीनारोदोक्तेः। "एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति" इति गोपालतापन्याम्। तत्र सिद्धान्तमाह,—अविचिन्त्यतत्त्व इति; "आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः" इति तृतीयात्, "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्तस्य लक्षणम्॥" इति स्कान्दाद्भारताच्च, "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इति ब्रह्मसूत्रात्, "अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रमहौषधीनां प्रभावः" इति भाष्ययुक्तेश्चेति भावः॥३४॥

टीकानुवाद—करोड़ों-करोड़ों वर्षोंतक साधन करते हुए निर्विशेष-ज्ञानी-पुरुष जिनके प्रपदसीम्नि अर्थात् चरणकमलोंके अग्रभाग तक ही पहुँच पाते हैं अर्थात् जिनके श्रीचरणकमलोंकी ज्योतिमात्रको दूरसे अवलोकन करते हैं। उनके लिए गोकुलमें परिकरों द्वारा सेवित श्रीगोविन्दजीका दर्शन सर्वथा असंभव है।

जब श्रीनारदजी जैसे प्रेमी भक्तोंके लिए भी गोकुलमें परिकरों द्वारा परिसेवित श्रीगोविन्दजीका दर्शन आश्चर्यजनक है, तब ज्ञानी-योगियोंके लिए यह दर्शन कैसे संभव हो सकता है? इनका तो वहाँ प्रवेश भी संभव नहीं है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

चित्रं वतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्॥
(श्रीमद्भा. १०/६८/२)

एक समय देवर्षि नारदजी द्वारकापुरीमें उपस्थित हुए। वहाँ पर उन्होंने जो कुछ देखा, उससे वे बड़े ही आश्चर्यचकित हुए। भगवान् श्रीकृष्ण एक ही स्वरूपमें रहकर एक ही समय अलग-अलग सोलह सहस्र राजभवनोंमें सोलह सहस्र रमणियोंके साथ विवाह कर रहे थे। कहीं पाणिग्रहण, कहीं हवन, कहीं गठबन्धनपूर्वक अग्निकी परिक्रमा, कहीं और कुछ—अलग-अलग

वैवाहिक रीतियोंका निर्वाह कर रहे थे। यह देखकर सर्वज्ञ श्रीनारदजीको भी बड़ा कौतूहल हुआ।

गोपालतापनी-श्रुतिमें भी कहा गया है—'एको वशी सर्वगः कृष्णः ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति।' अर्थात् श्रीकृष्ण ही एकमात्र सर्वेश्वरेश्वर हैं, सर्वव्यापक हैं, एक होकर भी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे स्वांश अवतारों, विभिन्नांश जीवों, कायव्यूहरूप असंख्य परिकरोंके रूपोंमें प्रकटित हैं। वे असमोर्द्ध-तत्त्व हैं। श्रीमद्भागवतमें (३/३३/३) कहा गया है—'आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः'—अर्थात् भगवान् ही सबकी आत्मा हैं, सबके ईश्वर हैं, वे अचिन्त्य, अतर्क्य असंख्य शक्तियोंसे सम्पन्न हैं। स्कन्दपुराण और महाभारतमें भी कहा गया है—'अचिन्त्यः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्' अर्थात् प्रकृतिसे अतीत पदार्थों और भावोंको अचिन्त्य कहा गया है। ससीम तथा मायिक दोषोंसे भरपूर मानव-मेधाशक्तिसे वे सर्वथा अगम्य हैं। ब्रह्मसूत्रमें भी ऐसा कहा गया है—'तर्काप्रतिष्ठानात्' अर्थात् तर्ककी कोई प्रतिष्ठा नहीं है। क्योंकि आज तर्क द्वारा जिसकी स्थापना की जाती है, कल कोई दूसरा व्यक्ति किसी नये तर्कसे उसका खण्डन कर देता है। अतएव ब्रह्मसूत्रका कथन है—'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' अर्थात् श्रुति द्वारा ही अचिन्त्य-भगवत्तत्वको जानो; क्योंकि वे भगवान्‌की वाणी हैं। वेदवाणी ही मूल-प्रमाण हैं। इनसे भ्रम, प्रमाद, इन्द्रियोंकी अपटुता और विप्रलिप्सा (दूसरोंकी बंचना करनेकी इच्छा)—ये चार दोष नहीं होते हैं। यह आम्नाय या गुरु-परंपरासे प्राप्त होता है। इसीसे ही उस अचिन्त्य तत्त्वको जाना जा सकता है। इस विषयमें ब्रह्मसूत्र-भाष्यकी यह युक्ति है कि जिस प्रकार मणि, मंत्र और महौषधिका प्रभाव लोकबुद्धिके अगोचर होता है, उसी प्रकार चिन्मय-तत्त्वोंका प्रभाव भी अलौकिक होता है, उसी अलौकिक शक्ति—अनन्य निर्मल भक्ति द्वारा ही चिन्मय वस्तुको जाना जा सकता है॥३४॥

तात्पर्य—शुद्ध भक्तिका रसास्वादन ही—श्रीगोविन्दके चरणकमलोंकी प्राप्ति है। अष्टाङ्ग-योगी करोड़ों-करोड़ों वर्षोंतक समाधि लगाकर जिस कैवल्यको लाभ करते हैं एवं अद्वैतवादी श्रेष्ठ-मुनिगण करोड़ों-करोड़ों वर्षोंतक चिद् अचिद्‌का विचार करते हुए नेति-नेति करते-करते, एक-एककर सभी मायिक वस्तुओंको परित्यागकर अन्तमें निर्विशेष-चिन्तारूप मायातीत निर्भेदब्रह्म अर्थात् निर्विशेष-निराकार ब्रह्मज्योतिमें लीन हो जाते हैं; वह ब्रह्मज्योति-गोलोक स्थित श्रीगोविन्ददेवके श्रीचरणकमलोंकी एकमात्र कनिष्ठाङ्गुलिकी, चिन्मयलोकसे

बाहरमें प्रतिफलित ज्योतिमात्र है, वह श्रीगोविन्दजीका चरणकमल नहीं है।

यथार्थमें 'कैवल्य' और 'ब्रह्मलय'—ये दोनों मायिक-जगत और चित् जगतकी मध्यसीमामें अवस्थित हैं। इन दोनों स्थितियोंको पार नहीं करनेसे चिन्मय जगतकी सेव्य-सेवक और सेवाकी विचित्रताओंकी उपलब्धि नहीं हो सकती है। कैवल्य और ब्रह्मलयकी अवस्थाएँ—केवल मायिक-सम्बन्धसे उत्पन्न दुःखोंके अभाव मात्र हैं—वे कदापि सुख नहीं हैं। यद्यपि कष्टके अभावको कुछ सीमा तक 'सुख' कहा जा सकता है, तथापि वह अत्यन्त अल्प और तुच्छ है। प्राकृत दुःखमय अवस्थाको दूर करना ही 'आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति' है—यह कथन ठीक नहीं है; जीवोंका शुद्ध अप्राकृत अवस्थामें स्थित होना—भगवत्सेवाकी प्राप्ति ही चरम प्राप्ति है। यह अवस्था केवल चित्-स्वरूपिणी भक्तिकी कृपासे ही प्राप्त हो सकती है। वह नीरस चिन्तन-पथसे कदापि प्राप्त नहीं की जा सकती है।

श्लोक ३५

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं
यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः।
अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥३५॥

अन्वय—असौ एकः अपि (जो गोविन्द स्वरूपतः एकतत्त्व होकर भी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे) जगदण्डकोटि (करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्डोंकी) रचयितुं (रचना करनेमें) यच्छक्तिः अस्ति (समर्थ हैं) जगदण्डचयाः (ब्रह्माण्ड समूह) यदन्तः (जिनके भीतर अवस्थित हैं) अण्डान्तरस्थ-परमाणु-चयान्तरस्थं (और जो ब्रह्माण्डके अन्तर्गत परमाणुराशिके प्रत्येकके भीतर पूर्ण रूपसे विराजमान हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥३५॥

अनुवाद—शक्ति और शक्तिमान दोनों अभिन्न (भेदरहित) एक ही तत्त्व हैं। करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्डकी रचना जिस शक्तिसे होती है, वह शक्ति भगवान्में अपृथक्‌रूपसे अवस्थित है। सारे ब्रह्माण्ड भगवान्में अवस्थित हैं तथा भगवान् भी अचिन्त्य-शक्तिके प्रभावसे एक ही साथ समस्त ब्रह्माण्डगत सारे परमाणुओंमें पूर्णरूपसे अवस्थित हैं, ऐसे आदिपुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥३५॥

टीका—एकौऽप्यसौ इति—"तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्

व्यदृश्यन्त घनश्यामाः” इत्यारभ्य तैर्वत्सपालादिभिरेवानन्तब्रह्माण्ड –सामग्री–युत–तत्तदधिपुरुषाणां तेनान्तर्भावात्; 'जगदण्डचयाः' इति—“न चान्तर्न बहिर्यस्य” इत्यादेः, “अणोरणीयान्महतो महीयान्” इत्यादि–श्रुतेः,“योऽसौ सर्वेषु भूतेष्वाविश्य भूतानि विदधाति स वो हि स्वामी भवति। योऽसौ सर्वभूतात्मा गोपाल एको देवः सर्वभूतेषु गूढः” इत्यादि तापनीभ्यः॥३५॥

टीकानुवाद—जो एक होकर भी सबका सृजन करते हैं, जो समस्त ब्रह्माण्डमें अणु–अणु तकमें व्याप्त हैं, विशेषतः वे अणुसे भी अणु और बृहत्से भी बृहत् हैं। श्रीमद्भागवतमें इस अचिन्त्य–शक्तिका वर्णन पाया जाता है—

तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्।
व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेय वाससः॥

(श्रीमद्भा.१०.१३.४६)

अचिन्त्य–शक्तिका प्रभाव ही ऐसा है कि उन्होंने (श्रीकृष्णने) एक होने पर भी ब्रह्माके देखते–देखते ही असंख्य गोवत्स और गोपबालकोंका रूप धारण कर लिया। वे सभी वत्सपालगण नवजलधर श्याम–विग्रह तथा पीताम्बर धारण किये हुए हैं; वे सभी अपनी–अपनी चारों भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण कर विराजमान हैं; उनके मस्तकपर किरीट, कानोंमें कुण्डल, वक्षःस्थलमें हार एवं गलदेशमें वनमाला विराजमान है। उन सबके दाहिने स्तनके ऊपर दक्षिणावर्त्त रोमावलि, कण्ठमें तीन रेखाएँ, गलेमें कौस्तुभ मणि, हाथमें कंकण, पददेशमें नूपुर, कटिसूत्र और अङ्गुरीयक शोभा पा रहे हैं। बहु पुण्यशालीजनोंके द्वारा प्रदत्त सुकोमल नयी–नयी तुलसीमाला उनके चरणोंसे मस्तक तक परिव्याप्त हैं। वे सभी सारे भक्तजनोंकी मनोवाञ्छाको पूर्ण कर रहे हैं। ब्रह्मासे लेकर तृण तक स्थावर–जङ्गम सभी मूर्त्तिमान होकर नृत्य, गीत, वाद्य आदि उपचारों द्वारा पृथक्–पृथक् रूपसे उनकी उपासना कर रहे हैं।

वे अणिमा आदि ऐश्वर्य, माया आदि विभूति एवं महत्तत्व आदि चतुर्विंशति तत्त्वोंसे परिवेष्टित हैं। भगवान्‌की महिमासे जिनका स्वातन्त्र्य–भाव दूर हो गया है—ऐसे काल, स्वभाव, संस्कार, काम, कर्म और गुण आदि पदार्थसमूह मूर्त्तिमान होकर उनकी उपासना कर रहे हैं।

इससे उन वत्सपालक आदिसे लेकर अनन्त ब्रह्माण्डकी सभी वस्तुएँ तथा उनमें अधिष्ठित पुरुष–समुदाय सबकुछ उन्हींमें प्रविष्ट हैं और उनसे ही सबका प्रादुर्भाव होता है।

पुनः 'जगदण्डचयाः'—जिनसे सम्पूर्ण चराचर विश्वका प्रकाश हो रहा है, इस प्रकार ब्रह्माजीने उस परब्रह्म और तदात्मक निखिल गो, गोवत्स और गोपालोंका दर्शन किया (१०.१३.५५)। जिनका बाहर-भीतर नहीं है, अणुसे भी अणु हैं, महानसे भी महान हैं, जो सर्वव्यापक हैं, पूर्व-पश्चात् कालका व्यवधान जिनमें नहीं है, जो जगतके पूर्व और पर अर्थात् कार्य-कारण हैं। जो सर्वव्यापक हेतु जगतके अन्तर और बाहर हैं एवं कार्य-कारणके अभेद विचारसे जो जगतस्वरूप हैं, अव्यक्त, इन्द्रियजात-ज्ञानके अगोचर नररूप-विशिष्ट भगवान् श्रीकृष्ण हैं। जो महान्—इत्यादि 'अणोरणीयान्महतो महीयान' आदि श्रुति-मंत्रोंसे प्रशंसित हैं। 'योऽसौ सर्व्वेषु भूतेष्वाविश्य भूतानि विदधाति स वो हि स्वामी भवति। योऽसौ सर्व्व भूतात्मा गोपाल एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः॥' (गो.ता.श्रुति २३) अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। वे केवल जन्म और जरा रहित—इतना ही नहीं, छह प्रकारकी उर्मि (लहरियों) से रहित हैं—क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु, शोक, मोह रूप तरङ्ग-विहीन हैं। वे सदा एक रूप, अपक्षय-रहित, जो सूर्य मण्डलके मध्यवर्ती, जो कामधेनु गायोंको प्रसन्न करनेके लिए उनका पालन कर रहे हैं, जो समस्त वेदोंमें अवस्थित होकर भी उनके द्वारा उद्घोषित हो रहे हैं, जो चराचर समस्त प्राणियोंमें प्रविष्ट रहकर उन सबका नियमन कर रहे हैं—ऐसे वे गोविन्द हम सबके स्वामी हैं; वे समस्त प्राणियोंकी आत्मा—गोपाल हैं। वे एक देवता होकर समस्त प्राणियोंमें छिपे हुए हैं। इत्यादि वाक्योंसे उनकी सविशेषता प्रमाणित होती है॥३५॥

तात्पर्य—मायिक तत्त्वसे विलक्षण और भी एक दूसरा स्वभाव चिद्वस्तुओंमें सर्वश्रेष्ठ श्रीकृष्णमें वर्त्तमान है। वे अपनी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा स्वेच्छासे अनन्त ब्रह्माण्डोंका सृजन करते हैं। सारा जगत उन्हींकी शक्तिका परिणाम है। पुनः उनकी स्थिति भी अलौकिकी है। क्योंकि चिद्-अचिद् सम्पूर्ण जगत उनके भीतर अवस्थित है एवं वे एक ही समयमें समस्त जगतमें, यहाँ तक कि समस्त जगतके प्रत्येक परमाणुमें परिपूर्ण रूपसे अवस्थित हैं। सर्वव्यापित्व-धर्म केवल कृष्णका प्रादेशिक-ऐश्वर्यमात्र है, परन्तु सर्वव्यापक होते हुए भी श्रीकृष्णरूप मध्यमाकार स्वरूपसे सर्वत्र पूर्णरूपमें अवस्थान ही उनका लोकातीत चिद्-ऐश्वर्य है। इस विचारके द्वारा युगपत् अचिन्त्य-भेदाभेद तत्त्व ही स्वीकृत हुआ है और मायावाद आदि समस्त दुष्टमत अस्वीकृत हुए हैं॥३५॥

श्लोक ३६

यद्भावभावितधियो मनुजास्तथैव
संप्राप्य रूपमहिमासनयानभूषाः।
सूक्तैर्यमेव निगमप्रथितैः स्तुवन्ति
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥३६॥

अन्वय— यद्भाव भावितधियः (जिनके भावमें विभावित बुद्धि अर्थात् भावभक्ति-प्राप्त) मनुजाः (मनुष्यगण) तथा एव (अपने-अपने सिद्ध-भावके अनुरूप) रूपमहिमासनयानभूषाः (रूप, महिमा*, आसन, यान और भूषण) संप्राप्य (प्राप्त होकर) निगम-प्रथितैः (श्रुति प्रसिद्ध) सूक्तैः एव (मन्त्र-समूहके द्वारा) यम् (जिनका) स्तुवन्ति (स्तव करते हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ) ॥३६॥

अनुवाद—जिनकी भावरूप भक्तिके द्वारा विभावित चित्तवाले मनुष्य—अपने अपने भावानुरूप रूप, आसन, यान और भूषणको प्राप्त कर निगमोक्त मन्त्र-सूक्तोंके द्वारा जिनका स्तव करते हैं, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥३६॥

टीका—अथ तस्य साधकचयेष्वपि भक्तेषु वदान्यत्वं वदन्नित्येषु कैमुत्यमाह,—यद्भावेति। यथा गोपैः समान-गुणशीलवयोविलास-वेशैश्चेत्यागमविधिनेत्यादि-नित्यतत्सङ्गिनां तत्साम्यं श्रूयते, तथैव सम्भाव्येत्यर्थः; "वैरेण यं नृपतयः शिशुपालशाल्वपौण्ड्रादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः। ध्यायन्त आकृतिधियः शयनासनादौ तद्भावमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्॥" इत्येकादशात्॥३६॥

टीकानुवाद—अनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण अपने नित्य परिकरोंके साथ नित्य लीला-विलास करते हैं, यह तो सच है; परन्तु साधक भक्तोंके प्रति उनकी कितनी वदान्यता है, उसीको यहाँ कैमुतकी न्यायसे वर्णन करते हैं—'यद्भाव भावित धियो'—इस श्लोकके-द्वारा। ब्रजवासीजन श्रीकृष्ण जैसे गुण, शील, वयस, विलास, वेश आदिके द्वारा उनकी सेवा-परिचर्या करते हैं—उनके

---

* शान्तरसके अधिकारी—शान्तपीठरूप ब्रह्मपरमात्म धामको; दास्यरसके अधिकारी—ऐश्वर्यगत वैकुण्ठधामको; शुद्ध सख्य, वात्सल्य और मधुर रसके अधिकारी—वैकुण्ठलोकसे ऊपर स्थित गोलोक धामको प्राप्त होते हैं।

साथ क्रीड़ा-विलास करते हैं। इस प्रकार उनकी समता अर्थात् परिकर-पार्षदगति वेद-पुराण आदिमें सुनी जाती है। वैसे साधक भक्त उन नित्य परिकरोंके आनुगत्यमें उन-उन भावोंकी अनुगतिकर उनके साथ नित्य-कृष्णसेवा-सुखका आस्वादन करते हैं। और अधिक क्या—जिनके साथ शत्रुता करके भी सतत-चिन्तन द्वारा उनको प्राप्त हुआ जाता है, तब भक्तिमान जन उनको प्राप्त करेंगे—इसमें क्या संशय है?

वैरेण यं नृपतयः शिशुपाल-शाल्व-पौण्ड्रादयो गतिविलास-विलोकनाद्यैः।
ध्यायन्त आकृतिधियः शयनासनादौ तद्भावमापुरनुरक्तधियां पुनःकिम्॥

अर्थात् जब शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व आदि नरपतिगण शयन, भोजन आदि सभी कार्योंके समयमें भी शत्रुभावसे जिनका चिन्तन कर—जिनकी गति, विलास, अवलोकन आदि क्रियाओंका आविष्ट होकर चिन्तनके द्वारा उनकी समताको प्राप्त हुए हैं; तब उन श्रीकृष्णमें अनुरक्त महानुभावोंको उनकी समता प्राप्त होगी—इसमें आश्चर्य क्या है? अर्थात् उन सबको अपने-अपने भावोंकी अवश्य ही सिद्धि होगी॥३६॥

तात्पर्य—रस विचारसे भक्ति-भाव पाँच प्रकारके होते हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार। उनमेंसे किसी भी एक भावमें आरूढ़ भक्तजन तदुचित कृष्ण-स्वरूपकी निरन्तर सेवा-भावना करते हुए अन्तमें अपने योग्य प्राप्य स्थानको लाभ करते हैं; उसी रसके अनुरूप चिन्मय-स्वरूप महिमा, उसीके अनुरूप सेवा-पीठरूप आसन, गमनागमनरूप यान और अपने रूपको समृद्धि करनेवाले चिन्मय गुणसमूहरूप अलंकारको प्राप्त करते हैं। शान्तरसके अधिकारी, शान्तिपीठ-स्वरूप ब्रह्म-परमात्म धाम, दास्यरसके अधिकारी ऐश्वर्यपूर्ण वैकुण्ठधाम और शुद्ध-सख्य, वात्सल्य एवं मधुर रसके अधिकारी, वैकुण्ठसे ऊपर गोलोक धामको प्राप्त होते हैं। उन-उन स्थानोंमें अपने-अपने रसके अनुरूप समस्त उपकरण और सामग्री प्राप्त होकर वेदोदिष्ट सूक्तोंके अनुसार स्तव करते हैं अथवा उनकी सेवा-परिचर्या करते हैं। वेद, कहीं-कहीं पर चित्-शक्तिका अवलम्बन करके भगवल्लीला-कथाका वर्णन करते हैं। उन्हीं लक्षणों द्वारा मुक्त महापुरुषों—भक्तोंका भी वर्णन प्राप्त होता है। जैसे पद्मपुराणमें कहा गया है—'माने स्यापि वन्दनं, अर्चनं कुब्जसेवायाम्'॥३६॥

श्लोक ३७

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि-
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥३७॥

अन्वय— यः अखिलात्मभूतः (जो निखिल प्रियवर्गके आत्मस्वरूप) आनन्दचिन्मरसप्रतिभाविताभिः (उज्ज्वल-नामक परम प्रेममयरससे प्रकटित) निजरूपतया एव (स्वकीयाभावसे वर्त्तमान ह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीमती राधा) ताभिः कलाभिः (और श्रीमतीजीके कायव्यूहरूप सखियोंके साथ) गोलोक एव (गोलोक धाममें ही) निवसति (निवास करते हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥३७॥

अनुवाद—आनन्द-चिन्मयरसके द्वारा प्रतिभाविता, अपने चिद्रूपके अनुरूपा, चिन्मय रस स्वरूपा, चौंसठ कलाओंसे युक्ता, ह्लादिनी-शक्ति-स्वरूपा श्रीराधा और उनकी कायव्यूह-स्वरूपा सखियोंके साथ जो अखिलात्मभूत गोविन्द अपने गोलोक-धाममें निवास करते हैं, ऐसे आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥३७॥

टीका—तत्प्रेयसीनां तु किं वक्तव्यम्? यतः परमश्रीणां तासां साहित्येनैव तस्य तल्लोकवास इत्याह,—आनन्देति। 'आनन्दचिन्मयो रसः' परमप्रेममय उज्ज्वलनामा, तेन 'प्रतिभाविताभिः'; यद्वा पूर्वं तावद्यो रसस्तन्नाम्ना रसेन सोऽयं भावित उपासितो जातस्ततश्च तस्य तेन रसेन याः प्रतिभावितास्ताभिः सहेत्यर्थः प्रतिशब्दाल्लभते; यथा अखिलानां गोलोकवासिनामन्येषामपि प्रियवर्गाणामात्मतः परमश्रेष्ठतयाऽऽत्मवदव्यभिचार्य्यपि ताभिरेव सह निवसतीति तासामतिशायित्वं दर्शितम्। तत्र हेतुः—'कलाभिः' ह्लादिनीशक्तिवृत्तिरूपाभिः। तत्रापि वैशिष्ट्यमाह, —प्रत्युपकृतः स इत्युक्तेस्तस्य प्रागुपकारित्वमायाति, तद्वत्। तत्रापि 'निजरूपतया' स्वदारत्वेनैव, न तु प्रकटलीलावत् परदारत्वव्यहारेणेत्यर्थः। परमलक्ष्मीणां तासां तत्परदारत्वासम्भावदस्य स्वदारत्वमयरसस्य कौतुकावगुण्ठिततया समुत्कण्ठया पौरुषार्थं प्रकटलीलायां माययैव तादृशत्वं व्यञ्जितमिति भावः। 'य एव' इत्येवकारेण यत् प्रापञ्चिकप्रकटलीलायां तासु परदारताव्यवहारेण निवसति सोऽयं य एव तदप्रकटलीलास्पदे गोलोके निजरूपताव्यवहारेण निवसतीति व्यज्यते। तथा च व्याख्यातं गौतमीयतन्त्रे तद-प्रकट-

नित्य-लीलाशीलमय-दशार्णव्याख्याने—"अनेकजन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा" इति। "गोलोक एव" इत्येव-कारेण सेयं लीला तु क्वापि नान्यत्र विद्यत इति प्रकाश्यते॥३७॥

टीकानुवाद—उनकी प्रेयसियोंका उनसे जो एकात्म भाव है, उसके विषयमें कहना ही क्या है; जो भगवान् श्रीकृष्ण उन महालक्ष्मी-स्वरूपा गोपियोंके साथ उस लोकमें निवास करते हैं। यहाँ श्रील जीवगोस्वामीपाद गोपियोंका प्राधान्य दिखलाते हुए कहते हैं कि गोपियोंके निवास स्थानपर ही श्रीकृष्ण रहते हैं, यहाँ ऐसा ही अर्थ ध्वनित होता है। अतएव वह गोपियोंका लोक ही गोलोक धाम है। इसलिए यहाँ श्रीब्रह्माजी प्रस्तुत श्लोक 'आनन्दचिन्मयरस'-द्वारा गोपियोंकी विशेषताको व्यक्त कर रहे हैं। उस गोलोकमें रहनेवाले बन्धु-बान्धव, आत्मीय-स्वजन, सखा, माता-पिता आदि गुरुजन—सारे गोलोकवासी श्रीकृष्णके अत्यन्त प्रियपात्र और आत्मवत् होने पर भी 'निजरूपतयाकलाभिः' अर्थात् ह्लादिनीशक्तिकी वृत्तिरूपा प्रेयसियाँ—श्रीकृष्णके स्वरूपसे अभिन्न उन्हींकी कलाएँ हैं। ये प्रेयसियाँ—उन्नतोज्ज्वल-रसकी प्रतिमूर्त्तियाँ अर्थात् उक्त चिन्मय सम्पूर्ण आनन्दके द्वारा प्रतिभावित होनेके कारण सर्वाधिक प्रिय हैं। अतएव चिन्मय आनन्दरसकी साक्षात् मूर्त्तियाँ—प्रेयसियोंके साथ ही गोलोकमें निवास करनेकी बात कही गयी है और इस कथनके द्वारा गोपियोंकी सर्वश्रेष्ठताका ही प्रतिपादन किया गया है।

यहाँ 'प्रतिभाविताभिः' पद द्वारा उन गोपियोंका और भी वैशिष्ट्य वर्णन कर रहे हैं—आनन्द-चिन्मय-रस—परमोन्नत प्रेममय उज्ज्वल रससे प्रतिभावित अर्थात् रसराज श्रीकृष्णने प्रेमरससे जिन सबको विभोर किया था, उसी प्रीति द्वारा अभिसिक्त-हृदयोंसे ही उन सब गोपियोंने प्रीति की; उन्हीं गोपियोंके साथ आप सदैव निवास करते हैं—यह अर्थ 'प्रति'-शब्दसे ध्वनित होता है। जैसे, 'प्रत्युपकृत सः' कहनेसे, उसने पहले उपकार किया था, तत्पश्चात् उससे उसे उपकार मिला है—यह अर्थ बोध होता है; उसी प्रकार यहाँ भी 'प्रतिभावित'-शब्दका अर्थ ग्रहण करना होगा; अर्थात् श्रीकृष्णने गोपियोंको जैसे उज्ज्वल रससे विभावित किया था, गोपियोंने भी श्रीकृष्णको वैसे ही उस उज्ज्वल रसका पान कराया था। इस प्रकार गोपियोंने भी उनका परम उपकार किया है। यहाँ 'निजरूपतया'-पदसे एक और भी गूढ़ अर्थ प्रकाशित होता है, वह यह कि ये गोपियाँ—श्रीकृष्णसे अभिन्न उनकी ह्लादिनी-शक्तिरूप

कलाएँ हैं; अतएव प्रकट लीलामें जिस प्रकार गोपियोंमें परदारत्व दृष्टिगोचर होता है, उस प्रकार गोलोककी अप्रकट लीलामें महालक्ष्मी-स्वरूपा उन गोपियोंमें परदारत्व नहीं है, वहाँ वैसा होना असंभव है। वहाँ स्व-दारत्व अर्थात् अपनी प्रेयसियाँ या पत्नियाँ हैं। जिस प्रकार कभी कौतुकवश पत्नी घूँघटद्वारा अपने पतिको विशेष उत्कण्ठित करती है, उसी प्रकार वृन्दावनकी प्रकटलीलामें उत्कण्ठा वृद्धिके लिए योगमाया द्वारा ही उक्त परकीया भाव की प्रतीति हुई थी। 'गोलोक एव'—इस 'एव'-शब्दसे यही अर्थ ध्वनित होता है कि गोलोकमें सदा स्वदार अर्थात् पत्नी रूपमें ही गोपियोंके साथ निवास करते हैं—परदारत्वरूपसे नहीं। गौतमीय-तन्त्रके अप्रकट-नित्यलीलाशीलन दशाक्षर मंत्रकी व्याख्यामें भी ऐसा कहा गया है—'अनेक जन्म सिद्धानां गोपिनां पतिरेव वा' अर्थात् श्रीकृष्ण अनेक जन्मोंमें सिद्ध होनेवाली गोपियोंके पति हैं। यहाँ प्रस्तुत श्लोकमें गोलोकके बाद 'एव'-कारसे यही अर्थ ध्वनित होता है कि स्वदारत्व-लीला गोलोकमें ही है, अन्यत्र नहीं—यही तात्पर्य है॥३७॥

तात्पर्य—शक्ति और शक्तिमान दोनों एक आत्मा होकर भी ह्लादिनी शक्तिके द्वारा श्रीराधा और श्रीकृष्ण रूपमें पृथक्-पृथक् होकर नित्य अवस्थान करते हैं।

उन आनन्द (ह्लादिनी) और चित्-स्वरूप (श्रीकृष्ण) दोनोंमें ही अचिन्त्य शृङ्गार रस वर्त्तमान है। उस रसके विभाव दो प्रकारके हैं अर्थात् आलम्बन और उद्दीपन। उनमेंसे आलम्बन दो प्रकारके हैं—आश्रय और विषय। आश्रय—स्वयं राधिका और उनकी कायव्यूह-स्वरूपा गोपियाँ हैं और विषय—स्वयं श्रीकृष्ण हैं। वे कृष्ण ही गोलोकपति गोविन्द हैं। उस रसकी प्रतिभावित आश्रय गोपियाँ हैं; उनके साथ ही गोलोकमें श्रीकृष्णकी नित्यलीला होती है।

'निजरूपतया'—अर्थात् ह्लादिनी-शक्तिकी वृत्तिसमूह एक-एक कलाके रूपमें प्रकटित हैं। वे कलाएँ चौंसठ प्रकारकी हैं, जैसे—नृत्य, गीत, वाद्य, नाट्य, आलेख्य, विशेषकछेद्य, तण्डुल-कुसुम-वणि विकार, पुष्पास्तरण, दशन-वसनाङ्गराग, मान-भूमिका-कर्म, शय्या रचन, उदक वाद्य, उदक घात, चित्रायोग, माल्यग्रन्थन-विकल्प, शेखरापीड़-योजन, नेपथ्ययोग, कर्णपत्रभङ्ग, गन्धयुक्ति, भूषण-योजन, ऐन्द्रजाल, कौमारयोग, हस्त-लाघव, चित्र-शाकपूप-भक्ष्यविकार-क्रिया, पानक-रसरागासव-योजन, सूची-वाप-कर्मादि, सूत्रक्रीड़ा, प्रहेलिका, प्रतिमाला,

दुर्वचक-योग, पुस्तक-वाचन, नाटिका-आख्यायिका दर्शन, काव्य-समस्या पूरण, पट्टिका-वेत्रवाण-विकल्प, तर्ककर्म, तक्षण, वास्तुविद्या, रौय-रत्न-परीक्षा, धातुवाद, मणिराग-ज्ञान, आकर-ज्ञान, वृक्षायुर्वेद-योग, मेष कुक्कट-शावक-युद्ध-विधि, शुक-सारिका प्रपालन, उत्सादन, केश-मार्जन कौशल, अक्षर-मुष्टिका-कथन, म्लेच्छितक-विकल्प, देश-भाषा-ज्ञान, पुष्प-शकटिका निमित्त ज्ञान, यन्त्रमातृका, धारणमातृका, सम्पट्य, मानसी-कार्य-क्रिया, क्रिया विकल्प, छलितक योग, कोष छन्दो-ज्ञान, वस्त्र-गोपन, द्यूत, आकर्षण क्रीड़ा, बालक क्रीड़नक, वैनायिकी विद्या, वैजयिकी विद्या और वैतालिकी विद्या—ये सारी विद्याएँ मूर्त्तिमती होकर रसके प्रकरण-रूपमें गोलोक धाममें नित्य प्रकट हैं तथा जड़ जगतमें चित्शक्ति-योगमायाके द्वारा ब्रजलीलामें सुन्दर रूपसे प्रकटित हैं। इसलिए श्रील रूप गोस्वामीपादने कहा है—

'सदानन्तैः प्रकाशैः स्वैर्लीलाभिश्च स दीव्यति।
तत्रैकेन प्रकाशेन कदाचिज्जगदन्तरे॥
सहैव सपरिवारैर्जन्मादि कुरुते हरिः।
कृष्णभावानुसारेण लीलाख्या शक्तिरेव सा॥
तेषां परिकराणाञ्च तं तं भावं विभावयेत्।
प्रपञ्चगोचरत्वेन सा लीला प्रकटा स्मृता॥
अन्यास्त्वप्रकटा भान्ति तादृश्यस्तदगोचराः।
तत्र प्रकटलीलायामेव स्यातां गमागमौ॥
गोकुले मथुरायाञ्च द्वारकायाञ्च शार्ङ्गिनः।
यास्तत्र तत्राप्रकटास्तत्र तत्रैव सन्ति ताः॥'

अर्थात् गोलोकमें श्रीकृष्ण सदैव अपने अनन्त-लीला-प्रकाशोंके साथ सुशोभित हैं। कभी-कभी जगतमें भी वे उन लीलाओंके साथ अवतरण करते हैं। श्रीहरि अपने परिकरोंके साथ जन्म आदि लीलाओंको प्रकट करते हैं। श्रीकृष्णकी इच्छाके अनुरूप लीलाशक्ति भी उनके परिकरोंको उन-उन भावोंमें विभावित करती हैं। श्रीकृष्णकी जो लीलाएँ प्रपञ्चमें गोचर होती हैं, उन्हें सामूहिकरूपमें प्रकट-लीला कहते हैं और वे लीलाएँ ही प्रपञ्चके अगोचर अप्रकटरूपमें गोलोकमें होती रहती हैं, उन्हें अप्रकट-लीला कहते हैं। प्रकट-लीलामें कृष्ण गोकुल, मथुरा और द्वारकामें गमनागमन करते हैं। परन्तु जो लीलाएँ उक्त तीनों स्थानोंमें अप्रकट हैं, वे चिन्मय धाम वृन्दावन आदि स्थानोंमें नित्य ही प्रकट रहती हैं। इन सिद्धान्त वाक्योंसे

यह विदित होता है कि प्रकट और अप्रकट लीलामें कुछ भी भेद नहीं है।

इस श्लोककी टीकामें और उज्ज्वल–नीलमणि टीकामें तथा कृष्णसन्दर्भ आदिमें अस्मदीय आचार्यचरण श्रीजीव गोस्वामीपादने कहा है कि इन प्रकट लीलाओंमें कुछ मायिक सम्बन्ध संश्लिष्ट रहनेके कारण उनमें कुछ माया–प्रत्यायित (मायिक प्रतीतिमय) कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, जो स्वरूप–तत्त्वमें कदापि रहने योग्य नहीं हैं; जैसे असुर–संहार, परनारी संग तथा जन्मादि अनेक कार्य हैं; जो स्वरूप–तत्त्वमें कदापि संभव नहीं हैं। गोपियाँ—श्रीकृष्णकी स्वरूप–शक्तिगत तत्त्व हैं; वे श्रीकृष्णकी स्वकीया पत्नियाँ हैं; अतएव उनमें परदारत्व कैसे संभव है? तब प्रकटलीलामें जो परदारत्व दीखता है, वह केवल मायिक प्रतीति–मात्र है।

श्रीजीव गोस्वामीपादके इस कथनका एक गूढ़ार्थ है, उसका प्रकाश होने पर सब प्रकारकी शंकाएँ अपने आप दूर हो जाएँगी। श्रीजीवगोस्वामीचरण गौड़ीय–वैष्णवोंमें तत्त्वाचार्य हैं, वे श्रीलरूप, सनातन गोस्वामीके प्रधान अनुगताचार्य हैं, इसके अतिरिक्त वे कृष्णलीलामें मञ्जरी भी हैं, इसलिए ऐसा कोई भी गूढ़–तत्त्व नहीं है, जिसे वे न जानते हों। कुछ लोग उनके गूढ़ अभिप्रायको न समझकर उनके कथनोंका स्वकपोल कल्पित अर्थ कर उसके पक्ष और विपक्षमें तर्क उपस्थित करते हैं। श्रीरूप सनातनके मतानुसार प्रकटलीला और अप्रकट लीलामें कोई भेद नहीं है—दोनों अभिन्न हैं। एक प्रपञ्चातीत प्रकाश है और दूसरा प्रपञ्चस्थित प्रकाश है—केवल यही भेद है। प्रपञ्चातीत प्रकाशमें द्रष्ट–दृष्टगत सम्पूर्ण विशुद्धता है। बड़े सौभाग्यसे श्रीकृष्णकी कृपा होने पर जो लोग प्रपञ्च सम्बन्ध सम्पूर्ण रूपसे छोड़कर चिज्जगतमें प्रविष्ट होते हैं और यदि उनमें साधनकालीन रसवैचित्र्यकी आस्वादन–सिद्धि रहती है, तभी वे गोलोककी सम्पूर्ण विशुद्ध लीलाका दर्शन और आस्वादन कर सकते हैं। ऐसे पात्र सुदुर्लभ होते हैं। दूसरी ओर प्रपञ्चमें रहकर भी जिन्होंने भक्तिकी सिद्धि लाभकर कृष्णकी कृपासे चिद्रसकी अनुभूति प्राप्त की है, वे भौम–गोकुलकी लीलामें गोलोक लीलाका दर्शन करते हैं। इन दोनों प्रकारके अधिकारियोंमें भी कुछ तारतम्य है, वस्तुसिद्धि नहीं होने तक उस गोलोक लीलाके दर्शनमें कुछ–कुछ मायिक प्रतिबन्ध रहते हैं। दूसरी तरफ स्वरूपसिद्धिके तारतम्यसे स्वरूपदर्शनका तारतम्य होता है। इस स्वरूपदर्शनके तारतम्यानुसार भक्तोंके गोलोक दर्शनका तारतम्य

भी अवश्य स्वीकर करना होगा। नितान्त मायाबद्ध व्यक्ति भक्तिचक्षुरहित होता है। उनमेंसे कोई-कोई केवल मायाकी विचित्रतामें आबद्ध होते हैं और कोई-कोई भगवद्वहिर्मुख-निर्विशेष-ज्ञानका आश्रय लेकर अपने चरमविनाशके पथ पर अग्रसर होते हैं। वे लोग भगवान्‌की प्रकट लीलाको देखकर भी अप्रकट लीलासे सम्बन्धरहित उसे केवल जड़ीय व्यवहारमात्रके रूपमें ही देखते हैं। इसलिए अधिकारी भेदसे गोलोक दर्शनकी गति ही ऐसी है।

इसमें सूक्ष्म विचार यह है कि जैसे गोलोक मायातीत सम्पूर्ण शुद्ध तत्त्व है, उसी प्रकार भौम-गोकुल भी शुद्ध और सर्वथा मलशून्य होने पर भी योगमायारूप चित्‌शक्ति द्वारा जड़जगतमें प्रकटित हैं। प्रकट और अप्रकट विषयमें तनिक भी मायिक दोष, हेयता और असम्पूर्णता नहीं है। केवल देखनेवाले जीवोंके अधिकारोंके अनुरूप ही कुछ-कुछ पार्थक्य प्रतीत होता है। दोष (मल), हेयत्व, उपाधि, माया, अविद्या, अशुद्धता, फल्गुत्व, तुच्छत्व और स्थूलत्व, देखनेवाले जीवके जड़-भावित चक्षु और बुद्धि अहंकारनिष्ठ हैं। ये सब दृश्यवस्तुनिष्ठ नहीं हैं। जो जितने ही अधिक दोष रहित हैं, वे उतना ही अधिक विशुद्ध तत्त्वदर्शनमें समर्थ होते हैं। शास्त्रोंमें जो तत्त्व प्रकाशित हुआ है, किन्तु उन तत्त्वोंकी आलोचना करनेवाले व्यक्तियोंके अधिकारके तारतम्यसे तत्त्व मलयुक्त अथवा मलरहित अनुभूत होते हैं। श्रीरूप सनातनके विचारसे भौम-गोकुलमें जितनी प्रकारकी लीलाएँ प्रकटित हुई हैं, वे समस्त लीलाएँ मायागन्धरहित विशुद्ध रूपमें अवस्थित हैं। इसलिए परकीया भाव भी किसी न किसी प्रकार अचिन्त्य शुद्ध भावसे गोलोकमें अवश्य ही वर्तमान है। योगमाया द्वारा कृत समस्त प्रकाश ही शुद्ध है। परदारा-भाव (परकीया भाव) योगमाया कृत है। इसलिए वह शुद्धतत्त्वमूलक है। किन्तु वह शुद्धतत्त्व क्या है?—इस पर कुछ विचार करनेकी आवश्यकता है। श्रील रूपगोस्वामीने लिखा है—

'पूर्वोक्त-धीरोदत्तादि चतुर्भेदस्य तस्य तु।

पतिश्चोपपतिश्चेति प्रभेदाविह विश्रुतौ। पतिः स कन्यायाः यः पाणिग्राहको भवेत्। रागेणोल्लंघयन् धर्मं परकीया-बलार्थिना। तदीय-प्रेम-सर्वस्वं बुधैरूपपतिः स्मृतः॥ लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृत-नायके। न कृष्णे रसनिर्यास-स्वादार्थमवतारिणी॥'

तत्र नायिकाभेद-विचारः,—"नासौ नाट्यरसे मुख्ये यत् परोढ़ा निगद्यते।

तत्तु स्यात् प्राकृत–क्षुद्रनायिकाद्यनुसारतः॥"—इन श्लोकोंमें श्रीलजीव गोस्वामीने सुगंभीर विचारकर परकीया भावको योगमायाकृत जन्मादि लीलाकी भांति विभ्रम–विलासके रूपमें प्रतिष्ठित किया है। "तथापि पतिः पुरवनितानां द्वितीयो व्रजवनितानां"—अर्थात् द्वारकामें पति भाव है तथा व्रजसुन्दरियोंमें परकीया भाव है, ऐसा माना है। श्रीलरूप–सनातन गोस्वामीके सिद्धान्तानुसार भी योगमायाकृत विभ्रम–विलास स्वीकृत हुआ है। तथापि श्रील जीवगोस्वामीने जब गोलोक और गोकुलके एकत्वका प्रतिपादन किया है, तब गोकुलमें सभी लीलाओंका मूलतत्त्व अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। जो विवाहकी विधियोंके अनुसार कन्याका पाणिग्रहण करते हैं, वे पति कहलाते हैं। जो अनुरागके वशीभूत होकर परकीया–रमणीको प्राप्त करनेके लिए धर्मका उल्लंघन करते हैं, वे उपपति कहलाते हैं। गोलोकमें विवाह–विधि बन्धनरूप धर्म नहीं है, इसलिए वहाँ उक्त लक्षणयुक्त पतित्व भी सम्भव नहीं है। साथ ही वैसी–वैसी स्वीय स्वरूपाश्रिता गोपियोंका अन्यत्र विवाह न होनेके कारण उनका परदारत्व भी नहीं है। वहाँ स्वकीया और परकीया—इन दोनों प्रकारके भावोंकी पृथक्–पृथक् स्थिति भी सम्भव नहीं है। प्रकटलीलामें (प्रापञ्चिक जगतमें) विवाह विधिबन्धनरूप एक धर्म है, कृष्ण उस धर्मसे सर्वथा अतीत हैं। इसलिए माधुर्यमण्डलरूप धर्म योगमाया द्वारा संगठित होता है। कृष्ण उस धर्मका उल्लंघन कर परकीया रसका आस्वादन करते हैं। योगमाया द्वारा प्रकटित यह धर्म–उल्लंघन लीला प्रपंचमें ही प्रपंच द्वारा आच्छादित नेत्रोंसे दीख पड़ती है। वास्तवमें श्रीकृष्णलीलामें वैसा लघुत्व नहीं है।

परकीया रस ही समस्त रसोंका सार है। गोलोकमें ही उसका अभाव है—ऐसा कहकर गोलोकको तुच्छ मानना होगा। परमुपादेय गोलोकमें परमुपादेय रसास्वादन नहीं है, ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। सर्वावतारी कृष्ण उसे किसी रूपसे गोलोकमें और किसी आकारसे गोकुलमें आस्वादन करते हैं। इसलिए परकीया रूप धर्मलंघन प्रतीति मायिक जड़नेत्रों द्वारा प्रतीत होने पर भी किसी न किसी रूपमें उसकी सत्यता गोलोकमें भी है। "आत्मारामोऽप्यरीरमत्" (श्रीमद्भा.१०/२९/४२) आत्माराम होने पर भी रमण किया, "आत्मन्यवरूद्धसौरतः" (श्रीमद्भा.१०/३३/२६) सत्यकाम श्रीकृष्णने सुरत सम्बन्धी हाव–भावोंको अपने हृदयमें स्थापन पूर्वक 'रेमे व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिविम्बविभ्रमः" (श्रीमद्भा. १०/३३/१७) जैसे नन्हा–सा शिशु निर्विकार होकर अपनी परछाईके साथ

खेलता है, वैसे ही रमा-रमण भगवान् श्रीकृष्णने व्रजसुन्दरियोंके साथ क्रीड़ा-विहार किया—इत्यादि शास्त्रवचनोंके द्वारा यह प्रतीत होता है कि आत्मारामता ही श्रीकृष्णका अपना स्वरूप धर्म है। श्रीकृष्ण ऐश्वर्यपूर्ण चिज्जगत्में अपनी आत्मशक्तिको प्रकटकर स्वकीया भावसे रमण करते हैं। वहाँ स्वकीया बुद्धि प्रबल रहनेके कारण दास्य रस तक ही रसकी गति होती है, किन्तु गोलोकमें करोड़ों-करोड़ों गोपियोंके रूपमें प्रकट कर स्वकीया भावको भूलकर उनके साथमें नित्य रमण करते हैं। स्वकीया अभिमानमें रसकी अत्यन्त दुर्लभता नहीं रहती। इसलिए अनादि कालसे गोपियोंमें स्वाभाविक रूपसे परोढ़ाका अभिमान प्रबल रहता है। और श्रीकृष्ण उस अभिमानके अनुरूप अपने अन्दर उपपतिका अभिमान अंगीकार कर वंशीरूप प्रियसखीकी सहायतासे रासादि लीलाओंको सम्पन्न करते हैं।

गोलोक नित्यसिद्ध एवं मायिक प्रत्ययसे सर्वथा अतीत एक रसपीठ है। इसलिए वहाँ उस अभिमानसे ही रस-प्रवाह सिद्ध होता है। वात्सल्य रस भी वैकुण्ठमें नहीं है, ऐश्वर्यकी ऐसी गति है, किन्तु परम माधुर्यमय गोलोकमें (स्थित व्रजमें) इस रसके मूल-अभिमानके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वहाँ नन्द-यशोदा प्रत्यक्ष हैं, किन्तु जन्म-व्यापार वहाँ नहीं है। जन्मके अभावमें नन्द-यशोदाका जो पितृत्व-मातृत्व आदि अभिमान है, वह वस्तुतः नहीं है, परन्तु अभिमान मात्र है। जैसे— "जयति जननिवासो देवकीजन्मवादः" इत्यादि रस-सिद्धिके लिए यह अभिमान नित्य है। इसी प्रकार शृंगार रसमें भी परोढ़ा और उपपति अभिमान मात्र नित्य होनेसे कोई दोषकी बात नहीं होती अथवा वह शास्त्रके विरुद्ध भी नहीं है। व्रजमें जब गोलोक तत्त्व प्रकट होते हैं, उस समय प्रापञ्चिक जगत्में प्रपञ्चमय दृष्टिसे उक्त दोनों अभिमान कुछ स्थूल दिखलायी पड़ते हैं। केवलमात्र यही भेद है। वात्सल्य रसमें नन्दयशोदाका पितृत्व और मातृत्व अभिमान कुछ स्थूल आकारमें जन्मादि लीलाके रूपमें प्रतीत होता है तथा शृंगार रसमें गोपीगत परोढ़ा अभिमान स्थूल रूपमें अभिमन्यु-गोवर्धन आदिके साथ विवाहके रूपमें प्रतीत होता है। वास्तवमें गोपियोंका पृथक् सत्तागत पतित्व न तो गोलोकमें है और न गोकुलमें। इसलिए शास्त्रमें ऐसा कहा गया है "न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः" अर्थात् व्रजदेवियोंका अपने पतियोंके साथ कभी संगम नहीं हुआ। इसलिए रस-तत्त्वाचार्य श्रीरूपगोस्वामीने लिखा है कि उज्ज्वल रसमें नायक दो प्रकारके होते हैं।

जैसे—"पतिश्चोपपतिश्चेति प्रभेदाविह विश्रुतौ" अर्थात् पति और उपपति भेदसे नायक दो प्रकारके होते हैं। श्रीलजीव गोस्वामीने इसकी टीकामें लिखा है—"पतिः पुरवनितानां द्वितीयो व्रजवनितानां" अर्थात् द्वारकापुरीकी वनिताओंके नायक पति होते हैं और व्रजमें नायक श्रीकृष्ण व्रजवनिताओंके उपपति होते हैं। अपनी टीकाके इन वचनोंसे ही श्रील जीवगोस्वामीने वैकुण्ठ और द्वारकामें कृष्णका पतित्व तथा गोलोक–गोकुलमें नित्य उपपतित्व स्वीकार किया है। गोलोक तथा गोकुलनाथमें उपपतिके लक्षण सम्पूर्ण रूपसें देखे जाते हैं। श्रीकृष्ण द्वारा अपनी आत्मारामता रूप धर्मका उल्लंघन होता है। उसमें परोढ़ा मिलनके लिए राग ही उस धर्मलंघनका हेतु है। गोपियोंका नित्य परोढ़ा अभिमान ही वह परोढ़त्व है। वस्तुतः उनका पृथक् सत्तायुक्त पति न रहने पर भी केवल अभिमान ही वहाँ पर उनका परकीया–रमणीभाव सम्पादन करता है। इसलिए "रागेणोल्लंघयन् धर्मं" इत्यादि सभी लक्षण माधुर्यपीठमें नित्य वर्तमान रहते हैं। भौम–व्रजमें वही भाव कुछ अंशोंमें प्रापञ्चिक चक्षुविशिष्ट–व्यक्तियोंके द्वारा स्थूलरूपमें लक्षित होता है। इसलिए गोलोकमें स्वकीया और परकीया रसका अचिन्त्य भेद और अभेद है। भेद नहीं है, ऐसा भी कहा जा सकता है तथा अभेद नहीं है, ऐसा भी कहा जा सकता है। परकीय सार जो स्वकीय निवृत्ति अर्थात् विवाहविधिरहित–रमण एवं स्वकीय–सार जो परकीय निवृत्तिरूप स्वरूपशक्तिरमण है—ये दोनों एक रस होकर भी उभय वैचित्र्यके आधारके रूपमें नित्य विराजमान हैं। गोकुलमें उसी रूपमें रहने पर भी केवल प्रपंचके दर्शकोंकी दृष्टिमें दूसरे प्रकारसे दीखता है।

गोलोकवीर श्रीगोविन्दमें धर्माधर्मशून्य पतित्व और उपपतित्व निर्मल रूपमें विराजमान है। गोकुलवीरमें वैसा रहने पर भी योगमायाके द्वारा प्रतीति वैचित्र्य हुआ करता है। यदि ऐसा कहा जाय कि योगमाया जो कुछ प्रकाश करती है वह परम सत्य होता है, इसलिए परकीया भाव भी वैसे ही परम सत्य है। इस शंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं कि रसास्वादनमें जैसे अभिमानकी प्रतीति रह सकती है और उसमें कोई भी दोष नहीं है, क्योंकि वह निराधार नहीं है, किन्तु जड़बुद्धिमें जो हेय प्रतीति होती है, वही दोषयुक्त है। वह हेय प्रतीति शुद्ध जगत्में नहीं है।

वास्तवमें श्रील जीवगोस्वामीने यथायथ सिद्धान्तका ही प्रतिपादन किया है और प्रतिपक्षका सिद्धान्त भी अचिन्त्यरूपसे सत्य है। केवल स्वकीयावाद

और परकीयावादको लेकर वृथा विवाद करना ही मिथ्या और वागाडम्बरपूर्ण है। जो लोग निरपेक्ष होकर श्रील जीवगोस्वामी एवं प्रतिपक्षकी टीकाओंको अच्छी तरहसे अनुशीलन करेंगे, उनके हृदयमें किसी भी प्रकारकी शंका उठनेकी सम्भावना नहीं है। शुद्ध वैष्णव जो कुछ कहते हैं, वह सब सत्य होता है। उसमें पक्ष और प्रतिपक्ष नहीं होता। उनके वाक्य-कलहमें कुछ रहस्य होता है। जड़बुद्धिसम्पन्न लोग शुद्धवैष्णवताके अभावमें शुद्ध वैष्णवोंके प्रेम कलहका रहस्य न समझ पानेके कारण उनमें पक्ष-विपक्षका केवल आरोप करते हैं। "गोपीनां तत्पतीनाञ्च"—इस रासपञ्चाध्यायीके श्लोककी वैष्णवतोषणी टीकामें जो विचार दिया है, भक्त श्रील चक्रवर्तीपादने उसे बिना किसी आपत्तिके अपने मस्तक पर धारण किया है।

गोलोकादि चिद्विलासके सम्बन्धमें कोई भी विचार करते समय श्रीमन्महाप्रभु और उनके अनुगत श्रीगोस्वामियोंके द्वारा दिये गये एक उपदेशको स्मरण रखना उचित है। वह यह कि भगवत्-तत्त्व कभी भी निर्विशेष नहीं है, वह जड़ातीत नानाप्रकारकी विशेषताओं और विलासोंसे भरपूर है। भगवद् रस—विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी इन चार प्रकारकी चिन्मय विचित्रतापूर्ण सामग्रियों द्वारा परमास्वादनीय सुन्दर रूपमें गोलोक और वैकुण्ठमें नित्य विद्यमान रहता है। गोलोकका वह रस योगमायाके प्रभावसे भक्तोंके कल्याणके लिए जगतीतलमें प्रकटित होकर व्रजरसके रूपमें प्रतीत होता है। इस गोकुल रसमें जो कुछ देखा जाता है, वह सबकुछ गोलोकरसमें विशद् रूपसे प्रतीत होना आवश्यक है। इसलिए नागर-नागरियोंका विचित्र-भेद और उसमें रस-विचित्रता, भूमि-नदी-पर्वत-गृह-द्वार-कुञ्ज और गाय प्रभृति समस्त गोकुलोपकरण ही यथायथ समाहित रूपमें गोलोकमें अवस्थित हैं। केवल जड़बुद्धिविशिष्ट व्यक्तियोंकी उनके सम्बन्धमें जो जड़-प्रतीति रहती है, वह गोलोकमें नहीं है। विचित्र व्रजलीलामें अधिकार भेदसे गोलोककी पृथक्-पृथक् स्फूर्तियाँ होती हैं। उन विविध स्फूर्तियोंके कौन-कौनसे अंश मायिक और कौन-कौनसे अंश शुद्ध हैं—इस विषयमें एक स्थिर सिद्धान्त होना कठिन है। भक्तिचक्षु प्रेमाञ्जन द्वारा जितने ही शोधित होंगे, हृदयमें क्रमशः विशद् स्फूर्ति उदित होगी। इसलिए इस विषयमें तर्क-वितर्ककी कोई आवश्यकता नहीं है। तर्क-वितर्कसे अधिकार उन्नत नहीं होता । गोलोक तत्त्व-अचिन्त्य भावमय है। ऐसे अचिन्त्य भावको चिन्ता द्वारा अनुसंधान करनेसे भूसा कूटनेके समान व्यर्थ परिश्रमकी भाँति निष्फल चेष्टा होगी।

अतः ज्ञानचेष्टासे उपरत रहकर, भक्तिचेष्टाके द्वारा अनुभूति लाभ करना ही कर्त्तव्य है। जिस विषयको ग्रहण करनेसे अन्तमें निर्विशेष प्रतीतिका उदय होता है, भक्तिमार्गमें उसका परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। मायिक प्रतीति-शून्य शुद्ध पारकीयरस अतीव दुर्लभ है। गोलोक लीलामें उसका वर्णन है, उसीका अवलम्बन कर रागानुग भक्त साधन करेंगे। ऐसा करनेसे सिद्धि होने पर अधिकतम उपादेय मूलतत्त्वको प्राप्त कर सकेंगे। जड़बुद्धिसम्पन्न व्यक्तियोंकी पारकीय चेष्टामयी भक्ति बहुधा जड़गत विधर्मके रूपमें बदल जाती है। ऐसा लक्ष्य करके ही हमारे तत्त्वाचार्य श्रील जीवगोस्वामीचरणने उत्कण्ठित होकर जिन विचारोंका उल्लेख किया है, उसका सार ग्रहण करना ही शुद्ध वैष्णवता है। आचार्यकी अवज्ञा करते हुए मतान्तर स्थापनका प्रयत्न करनेसे अपराध होता है॥३७॥

श्लोक ३८

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलाकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥३८॥

अन्वय— सन्तः (केवल एक कृष्णमें ही निष्ठासम्पन्न साधुजन) यं (जिन) अचिन्त्यगुणस्वरूपं (प्राकृत चिन्तासे अतीत रूप-गुण-सम्पन्न) श्यामसुन्दरं (श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका) प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन (प्रेमाञ्जनके द्वारा रञ्जित भक्ति-नेत्रोंसे अर्थात् प्रेम-भक्तियोगसे) सदा एव (सदासर्वदा) हृदयेषु (अपने-अपने शुद्ध हृदयमें) विलोकयन्ति (दर्शन करते हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥३८॥

अनुवाद—प्रेमरूप काजल (अञ्जन)-केद्वारा रञ्जित भक्तिनेत्रोंसे सन्तपुरुषगण जिन अचिन्त्य-गुणविशिष्ट श्यामसुन्दर श्रीकृष्णको हृदयमें अवलोकन करते हैं, उन आदिपुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥३८॥

टीका—यद्यपि गोलोक एव निवसति, तथापि प्रेमाञ्जनेति। 'अचिन्त्यगुणस्वरूपम्' अपि प्रेमाख्यं यदञ्जनं येन छुरितवदुच्चैः प्रकाशमानं भक्तिरूपं विलोचनं तेनेत्यर्थः॥३८॥

टीकानुवाद—यद्यपि श्रीकृष्णका गोलोकमें निवास है तथा वे

अचिन्त्यगुण-विशिष्ट हैं, फिर भी प्रेमरूप काजल-संलिप्त भक्तिनेत्रोंसे उनका दर्शन होता है। क्योंकि उनका अनुभव सबको समान रूपसे नहीं होता है। जिनको जितना प्रेम है, उतना ही उस प्रेमके अनुरूप भगवान्‌का दर्शन होता है।

अतएव प्रेमके तारतम्यसे उनके प्रकाशका तारतम्य देखा जाता है। भक्तोंकी साधनामें भक्तिके द्वारा (भक्त हृदय) जितना परिभावित होता है, उतना ही श्रीकृष्णका अनुभव होता है। इसलिए कहा है—'भक्ति परेशानुभवो विरक्ति'—इससे भक्तिके परिमाणमें ही भगवान्‌का अनुभव होता है। पुनः जिनके अन्दर जितना प्रगाढ़ ममतायुक्त प्रेम होता है, वह उतने ही अधिक रूपसे उनका अनुभव करता है। अतएव प्रेमके तारतम्यसे माधुर्य-अनुभवका तारतम्य होता है।

तात्पर्य—श्यामसुन्दर-स्वरूप ही श्रीकृष्णका नित्य रूप है। वही रूप युगपत् सविशेष और निर्विशेष दोनों हैं; क्योंकि उनमें सारे अविरुद्ध और विरुद्ध गुणोंका सुन्दर रूपसे सामञ्जस्य है। साधुगण-भक्ति समाधि द्वारा अपने हृदयमें उनका दर्शन करते हैं।

श्यामरूप इस जगतका कोई श्याम वर्ण नहीं है, वह उस चिन्मय जगतका नित्य सुखदायी रूप है। जड़ नेत्रोंसे उनका दर्शन नहीं होता है। 'भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले। अपश्यत् पुरुषं पूर्णम्'—इत्यादि व्यास-समाधिका विचार करनेपर देखा जाता है कि श्रीकृष्ण-स्वरूप पूर्ण स्वरूप हैं और वे ही पूर्णपुरुष भी हैं। केवल मात्र भक्ति-भावित भक्त-हृदयमें उनका आविर्भाव होता है। ब्रजमें जब कृष्णकी प्रकट लीला हुई उस समय भक्त-अभक्त सभी व्यक्तियोंने उनका दर्शन किया, परन्तु केवल भक्तोंने ही व्रज-पीठस्थ श्रीकृष्णको हृदयका परमधन मानकर उनका समादर किया; इसका कारण यह है कि उनके हृदयमें भक्ति-भावना थी। जिनके हृदयमें भक्ति-भावना नहीं थी, वे लोग श्रीकृष्णका दर्शन करके भी उनके माधुर्यका अनुभव नहीं कर सके। सम्प्रति भक्तगण वैसा साक्षात् दर्शन नहीं कर पानेपर भी अपने भक्ति-भावित हृदयमें ब्रजधाममें विराजमान श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं। जीवके शुद्ध चिन्मय-स्वरूपके नेत्र ही भक्ति-नेत्र हैं। वे भक्तिके अनुशीलनके तारतम्यसे विकसित होते हैं; और उसी परिमाणमें श्रीकृष्ण-स्वरूपका शुद्ध दर्शन भी होता है।

साधन भक्ति जब 'भावावस्था'को प्राप्त होती है, तब श्रीकृष्णकी कृपासे प्रेमाञ्जन उस भावभक्तके नेत्रोंमें संयुक्त होता है। तभी साक्षात् दर्शन होता है। यह भी भक्तकी भक्तिके तारतम्यसे होता है। इसका तात्पर्य यह है कि त्रिभङ्ग–ललित श्यामसुन्दर नवकिशोर नटवर, गोपवेश वेणुकर श्रीकृष्णका स्वरूप कोई कल्पित रूप नहीं है; नित्य सच्चिदानन्दस्वरूप है। वह समाधि नेत्रोंमें ही प्रत्यक्ष गोचर होता है॥३८॥

श्लोक ३९

रामादिमूर्त्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद्भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान यो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥३९॥

अन्वय—यः (जो कृष्ण–नामक) परमः पुमान् (परमपुरुष) रामादि–मूर्त्तिषु (श्रीरामादि मूर्त्तियोंमें) कलानियमेन (स्वांश–कला आदि रूपमें) तिष्ठन् (अवस्थित होकर) भुवनेषु (ब्रह्माण्ड समूहमें) नानावतारम् (विभिन्न रूपमें अवतार) अकरोत् (प्रकाश करते हैं) किन्तु (परन्तु) स्वयं (स्वयं) कृष्णः समभवत् (श्रीकृष्ण स्वरूपमें ही अवतीर्ण होते हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥३९॥

अनुवाद—जो परम पुरुष अपने अंशकला आदिके नियमन द्वारा राम आदि मूर्त्तियोंमें स्थित होकर भुवनमें बहुतसे अवतारोंको प्रकाश करते हैं तथा स्वयं कृष्णरूपमें प्रकट होते हैं, उन आदिपुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥३९॥

टीका—स एव कदाचित् प्रपञ्चे निजांशेन स्वयमवतरतीत्याह,—रामादीति। यः कृष्णाख्यः 'परमः पुमान् कला नियमेन' तत्र नियतानामेव शक्तीनां प्रकाशेन 'रामादिमूर्त्तिषु तिष्ठन्' तत्तन्मूर्त्तीः 'प्रकाशयन् नानावतारमकरोत्' य एव 'स्वयं समभवत्' अवततार। तं लीला–विशेषेण गोविन्दमहं भजामीत्यर्थः। तदुक्तं श्रीदशमे देवैः—"मत्स्याश्व–कच्छप–वराह–नृसिंह–हंस–राजन्य–विप्र–विवुधेषु कृतावतारः। त्वं पासि नस्त्रिभुवनञ्च यथाधुनेश भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते॥" इति ॥३९॥

टीकानुवाद—स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण, कभी स्वयं और कभी अपने अंश-कलासे समय-समयपर इस जगतमें अवतीर्ण होते हैं, उसीका यहाँ प्रस्तुत 'रामादि मूर्त्तिषु'—श्लोक द्वारा वर्णन कर रहे हैं।

परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अंश-कलाओंके द्वारा जगतमें श्रीराम आदि मूर्त्तियोंको प्रकाश करते हैं। यहाँ 'तिष्ठन्' पदके द्वारा श्रीराम आदि अवतार नित्य प्रकाशित हैं। उन स्वरूपोंको समय-समयपर जगतके हितके लिए जगतमें प्रकट करते हैं तथा कभी-कभी स्वयं भी अवतरित होते हैं। ऐसे लीला-सम्पन्न उन परमपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ। जैसे दशम स्कन्धमें, देवस्तुतिमें कहा गया है—

'मत्स्त्याश्वकच्छप वराह ... यदुत्तम वन्दनं ते।'(भा.१०/२/४०) हे भगवन्! आपने जैसे पहले-पहले मत्स्य, अश्व (हयग्रीव), कूर्म्म, नृसिंह, वराह, हंस, श्रीराम, परशुराम, विप्र वामन एवं देवताओंके रूपमें अवतार ग्रहणकर हम सबका तथा त्रिभुवनका पालन किया है, वैसे ही इस समय आप स्वयं अवतीर्ण होकर पृथ्विका भार हरणकर हम सबका पालन करें। हे यदुत्तम! आपके श्रीचरणोंकी हम वन्दना करते हैं॥३९॥

तात्पर्य—श्रीराम, नृसिंह, वराह आदि अवतारोंको स्वांश अवतार कहते हैं। वे सभी वैकुण्ठमें अपने-अपने धाममें अपने परिकरोंके साथ नित्य निवास करते हैं। जब कृष्णकी इच्छा होती है, तब जगतके कार्य निमित्त यहाँ अवतार ग्रहण करते हैं। वे समस्त अवतार पृथ्वीके भार हरण, दुष्टोंका दमन, युगधर्मकी प्रतिष्ठा तथा जीव कल्याण हेतु अपनी लीलाओंको प्रकट करते हैं। परन्तु स्वेच्छासे ही यदा-कदा अपने धाम और परिकरोंके साथ स्वयं इस प्रपञ्चमें अवतरित होते हैं। उसी प्रकार परम-पुरुष श्रीकृष्णसे अभिन्न श्रीकृष्ण-चैतन्य महाप्रभु भी स्वयंरूपमें ही आविर्भूत होते हैं—यही गूढ़ तात्पर्य है॥३९॥

श्लोक ४०

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम् ।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥४०॥

अन्वय—जगदण्ड कोटिकोटिषु (गोविन्दके विभूतिरूप करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्डोंमें) अशेषवसुधादि विभूति भिन्नम् (अनन्त पृथ्वी आदि विभूतिसमूहसे पृथक) निष्कलम् (निरुपाधि) अनन्तम् (अपरिसीम) अशेषभूतं (और धर्मीरूप सविशेष गोविन्दके धर्म रूपमें अवस्थित अर्थात् उपनिषदगण जिसको निर्विशेष ब्रह्म कहते हैं) तद्ब्रह्म (वह ब्रह्म) यस्य प्रभवतः (जो प्रभावशाली गोविन्दकी) प्रभा (अङ्गकान्ति है) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥४०॥

अनुवाद—जिनकी अङ्ग-प्रभासे उत्पन्न उपनिषदुक्त निर्विशेष-ब्रह्म, करोड़ों-करोड़ों पृथ्वी आदि विभूतियोंसे पृथक् होकर निष्कल, अनन्त, अशेष-तत्त्वरूपमें प्रतीत होता है, उन आदि पुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥४०॥

टीका—तदेवं तस्य सर्वावतारित्वेन पूर्णत्वमुक्त्वा स्वरूपेणाप्याह,—यस्येति। द्वयोरेकरूपत्वेऽपि विशिष्टतयाऽऽविर्भावात् श्रीगोविन्दस्य धर्म्मिरूपत्वमविशिष्ट-तयाऽऽविर्भावाद्ब्रह्मणो धर्म्मरूपत्वं ततः पूर्वस्य मण्डलस्थानीयत्वमिति भावः। अतएव गीतासु—"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" इति; अतएवैकादशे स्वविभूतिगणनायां तदपि स्वयं गणितं—"पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान्। विकारः पुरुषो व्यक्तं रजः सत्त्वं तमः परम्॥" इति। टीका चात्र—"परं ब्रह्म च" इत्येषा। श्रीमत्स्यदेवेनाप्यष्टमे तथोक्तं—"मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति शब्दितम्। वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विदितं हृदि॥" इति। अतएवाह ध्रुवश्चतुर्थे—"या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्मध्यानाद्भवज्जनकथा श्रवणेन वा स्यात्। सा ब्रह्मपि स्वमहिमन्यपि नाथ माभूत् किम्वन्तकासिलुलितात् पततां विमानात्॥" अतएवात्मारामाणामपि तद्गुणेनाकर्षः श्रूयते,—"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥" इति॥ अत्र विशेषजिज्ञासा चेत् श्रीभागवतसन्दर्भो दृश्यतामित्यलमतिविस्तरेण॥४०॥

टीकानुवाद—इससे पूर्वमें सर्वावतारी रूपमें श्रीगोविन्दकी पूर्णताका प्रतिपादन कर प्रस्तुत 'यस्य प्रभा प्रभवतो'-श्लोकमें स्वरूपसे भी उनकी

पूर्णताका प्रतिपादन कर रहे हैं। श्रीगोविन्द और ब्रह्म—तत्त्वकी दृष्टिसे एक होने पर भी शक्तिरूप ब्रह्म, शक्तिमानरूप श्रीगोविन्दका विशेषण है; क्योंकि श्रीगोविन्द स्वयं धर्मी हैं और निर्विशेष-ब्रह्म उन्हींका धर्म अर्थात् अङ्ग-ज्योति मात्र है। अतएव श्रीगोविन्द—सूर्यमण्डल स्थानीय हैं और ब्रह्म—सूर्यमण्डलसे बहिर्गत चिद्-विशेष-रहित ज्योति-स्थानीय है। विष्णुपुराणके वचनोंसे उक्त विचारकी संपुष्टि होती है—'शुभाश्रयः सचित्तस्य सर्वगस्य तथात्मनः।' इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। श्रीधरस्वामीने भी इसकी इसी प्रकारसे व्याख्या की है—सर्वग आत्माका आश्रय भी अर्थात् उसकी भी प्रतिष्ठा परमब्रह्म ही हैं। गीतामें भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—'ब्रह्मणोऽहि प्रतिष्ठाहमिति'। अर्थात् मैं ही ब्रह्मकी प्रतिष्ठा या आश्रय हूँ। श्रीमद्भागवत एकादश-स्कन्धमें (भा.११/१६/३७) भगवान्ने स्वयं अपनी विभूतियोंके वर्णन-प्रसंगमें कहा है—

मैं ही पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, महतत्त्व, विकार, पुरुष, सत्त्व, रज, तम हूँ तथा प्रकृतिसे परे 'परं' अर्थात् परमब्रह्म भी हूँ। आठवें स्कन्धमें श्रीमत्स्यदेवने भी कहा है—

मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति शब्दितम्।
वेत्सस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि॥

(भा. ८.२४.३८)

'हे सत्यव्रत मुने! तुम्हारे प्रश्न और मेरे उत्तर-रूप कथनके द्वारा हृदयमें प्रकाशित 'ब्रह्म'-शब्दसे मेरी महिमाको अनुभव कर सकोगे।'

इसकी टीकामें—हे मुने! तुमने आत्माराम साधुओंका सङ्ग किया है, इसलिए तुम्हें ब्रह्म-स्वरूपको अनुभव करनेकी इच्छा हो रही है, यह मेरे अनुग्रहसे सफल होगा। क्योंकि मेरी महिमा ही वह 'ब्रह्म' है। वह मेरा एक धर्म है, जो व्यापक तथा निर्विशेष-स्वरूप है। इसलिए मेरे अनुग्रहसे ही उस निर्विशेष-ब्रह्मका तुम्हें अनुभव होगा, क्योंकि वह ब्रह्म मदीय रूप है।'

अतएव चतुर्थ-स्कन्ध भागवतमें ध्रुव चरितमें भी कहा गया है—

'या निर्वृतिस्तनुभृतां....पततां विमानात्॥' (भा. ४/९/१०)

अर्थात् हे नाथ! भवदीय चरणकमलोंका ध्यान करके एवं आपके निजजनोंके साथ आपकी लीला-कथाओंके श्रवणसे जो आनन्द प्राप्त

होता है, उसका एक कण भी ब्रह्मानन्दमें नहीं है। इसलिए देवता–पदकी तो बात ही क्या है? वह अत्यन्त तुच्छ है। क्योंकि कालरूप तलवार द्वारा स्वर्गारोहण यान (विमान) खण्डित होनेपर देवतागण भी मृत्युलोकमें पतित हो जाते हैं। इसीलिए आत्माराम मुनिगण भी भगवान्के गुणोंसे आकर्षित हो जाते हैं। भगवान् श्रीहरिके गुण इस प्रकार हैं कि आत्माराम मुनिगण तथा विधि–निषेधसे परे साधु–पुरुष भी भगवान् उरुक्रममें अनुरक्त चित्त होकर उनकी भक्ति करते हैं।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी अङ्गज्योतिका नाम ही ब्रह्म है। वह अनन्त, सर्वव्यापक, लीला–कथारहित तथा निर्विशेष स्वरूप है।

इस विषयमें विशेष जाननेकी इच्छा होनेपर श्रीभागवत–सन्दर्भका अवलोकन करें। अलमतिविस्तरेण॥४०॥

तात्पर्य—मायारचित अखिल ब्रह्माण्ड—श्रीगोविन्दकी एकपाद विभूति के अन्तर्गत है। इनके ऊपर स्थित तत्त्व ही निर्विशेष–ब्रह्म है। वह निर्विशेष ब्रह्म—श्रीगोविन्दकी त्रिपाद–विभूतिरूप चिज्जगतके बाहर प्राचीररूपसे अवस्थित ज्योतिविशेष है; वह निष्कल अर्थात् कलारहित है। अतएव 'एकमेवाद्वितीयम्'–रूपमें प्रतीत होता है। वह अनन्त एवं अविशेष अर्थात् निर्विशेष–तत्त्व है॥४०॥

श्लोक ४१

माया हि यस्य जगदण्डशतानि सूते
त्रैगुण्यतद्विषयवेदवितायमाना ।
सत्त्वावलम्बिपरसत्त्वविशुद्धसत्त्वं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥४१ ॥

अन्वय—यस्य माया हि (जिनकी बहिरङ्गा त्रिगुणात्मिका मायाशक्ति ही) जगदण्डशतानि (असंख्य ब्रह्माण्डोंको) सूते (प्रसव करती है अर्थात् जन्म देती है) त्रैगुण्यतद् विषयवेद वितायमाना (और मायाका सत्त्व, रजः और तमोरूप त्रिगुणके सम्बन्धमें त्रैगुण्य विषयक वेदोंमें विस्तृत रूपसे वर्णन हुआ है) सत्त्वावलम्बि परसत्त्व विशुद्धसत्त्वं (फिर भी मायाका रजस्तमोमिश्रित जो सत्त्व गुण है, उसके आश्रयस्वरूप जो अमिश्रित-सत्त्व शुद्ध-सत्व है, उससे भी परम विशुद्ध चित्शक्तिकी वृत्तिरूप सत्त्व है जिनका अर्थात् जो मायास्पर्शरहित विशुद्ध सत्त्वमूर्त्ति हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥४१ ॥

अनुवाद—जो माया—सत्त्व, रजः और तमः—त्रिगुणमयी है और इस ब्रह्माण्ड विषयक वेदके ज्ञानकी विस्तारिणी हैं, जो भगवान्‌की अपरा शक्ति स्वरूपा हैं, ऐसी मायाके आश्रय स्वरूप, विशुद्ध सत्त्व-स्वरूप आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥४१ ॥

टीका—तदेवं तस्य स्वरूपगतं माहात्म्यं दर्शयित्वा तद्गतमाहात्म्यं दर्शयति द्वाभ्याम्। तत्र बहिरङ्गशक्तिमायाचिन्त्यकार्य्यगतमाह-माया हीति। मायया हि तस्य स्पर्शो नास्तीत्याह,—सत्त्वेति। सत्त्वस्य रजस्तमो-मिश्रितस्याश्रयि यत् परं तदमिश्रं शुद्धं सत्त्वं चिच्छक्तिवृत्तिरूपं यस्य तम्; तथोक्तं श्रीविष्णुपुराणे—"सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु॥ इति। विशेषतः श्रीभागवतसन्दर्भे तदिदमपि विवृतमस्ति॥४१ ॥

टीकानुवाद—इस प्रकार श्रीब्रह्माजी भगवान्‌की स्वरूपगत महिमाका वर्णनकर इन दो श्लोकोंमें अब उनके जड़गत-जगत् माहात्म्यको प्रदर्शित कर रहे हैं।

उनमेंसे पहले भगवान्‌की बहिरङ्गा मायाशक्तिके अचिन्त्य जगत्-सृष्टि-कार्यका वर्णनकर रहे हैं। यद्यपि भगवान् अपनी बहिरङ्गा मायाशक्तिके द्वारा अनन्त जड़-जगत्मय ब्रह्माण्डोंकी रचना कराते हैं; किन्तु उस मायाके साथ भगवान्‌का कोई संस्पर्श नहीं रहता है; क्योंकि भगवान् सदैव विशुद्ध सत्त्वमें अवस्थित

होते हैं। विशुद्ध–सत्त्वको समझानेके लिए कहते हैं—प्रकृतिके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। इनमेंसे रजोगुण द्वारा सृष्टि होती है, रज–मिश्रित सत्त्वसे स्थिति या पालन होता है तथा तमोगुणसे विनाश या प्रलय होता है। इन तीनों गुणोंके मिश्रणको प्राकृत–सत्त्व कहते हैं। इस प्राकृत सत्त्वसे अतीत—त्रिगुणोंसे अमिश्रित सत्त्व—शुद्धसत्त्व कहलाता है। यह शुद्धसत्त्व अप्राकृत होता है। इसको परसत्त्व भी कहा गया है। इससे भी श्रेष्ठ—परसत्त्वमें जिस स्वरूपकी नित्य स्थिति रहती है, वह विशुद्ध–सत्त्व है। यह विशुद्ध–सत्त्व चित्शक्तिकी वृत्ति है। अतएव श्रीगोविन्दका श्रीविग्रह—विशुद्ध–सत्त्वस्वरूप है। ऐसे श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ। श्रीविष्णु पुराणमें भी ऐसा ही कहा गया है—'सत्त्वादयो न.........प्रसीदतु॥' अर्थात् सत्, रज, तम—ये प्राकृत गुण भगवान्‌में नहीं हैं; वे मायिक गुणोंसे सर्वथा रहित अर्थात् पूर्ण रूपेण विशुद्ध तथा निखिल अप्राकृत सद्‌गुणोंसे परिपूर्ण हैं। ऐसे शुद्ध–वस्तुओंमें भी परम विशुद्ध आदिपुरुष हमारे प्रति प्रसन्न हों। विशेष जिज्ञासाके लिए श्रीमद्‌भागवत–सन्दर्भ द्रष्टव्य है॥४१॥

तात्पर्य—सृष्टि—रजोगुणसे होती है और स्थिति—रजो मिश्रित सत्त्व–गुणके द्वारा होती है एवं विनाश—तमोगुणके द्वारा होता है। त्रिगुण मिश्रित सत्त्वको प्राकृत–सत्त्व कहा जाता है। परन्तु रज और तम गुणोंसे अमिश्रित सत्त्व—शुद्धसत्त्व कहलाता है; वही अप्राकृत तथा नित्य वर्तमान धर्म परसत्त्व है; उस परसत्त्वमें जिस स्वरूपकी नित्य अवस्थिति होती है, वे ही विशुद्ध–सत्त्व—मायासे अतीत, प्रपञ्चसे परे निर्गुण और चिदानन्द हैं मायाने ही जड़–जगतके समस्त विधिमय त्रैगुण्य विषयक वेदोंका विस्तार किया है॥४१॥

श्लोक ४२

आनन्दचिन्मयरसात्मतया मनःसु
यः प्राणिनां प्रतिफलन् स्मरतामुपेत्य।
लीलायितेन भुवनानि जयत्यजस्रं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥४२॥

अन्वय—यः (जो) आनन्दचिन्मयरसात्मतया (उज्ज्वल नामक प्रेमरसमें विभावित होनेके कारण) प्राणिनां (प्राणियोंके) मनःसु (शुद्ध-हृदयमें) प्रतिफलन् (कुछ अंशमें—[प्रतिबिम्बरूपमें] प्रतिफलित होकर) स्मरताम् उपेत्य (कन्दर्प-स्वरूपता प्रकट करते हुए) लीलायितेन (अपने लीलाविलास-द्वारा) अजस्रं (निरन्तर) भुवनानि (ब्रह्माण्डोंको) जयति (जययुक्त कर रहे हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥४२॥

अनुवाद—जो आनन्दचिन्मय रस-स्वरूपमें अर्थात् उज्ज्वल-शृंगाररस-स्वरूपमें स्मरणकारी प्राणियोंके मनमें प्रतिफलित अर्थात् उदित होकर साक्षात् मन्मथके भी मन्मथ होते हैं तथा अपनी लीला-चेष्टाओंके द्वारा निरन्तर त्रिभुवनको जय करते हैं, उन आदि पुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥४२॥

टीका—अथ तन्मयमोहनत्वमाह,—आनन्देति। 'आनन्दचिन्मयरस' उज्ज्वलाख्यः प्रेमरसस्तदात्मतया तदालिङ्गिततया प्राणिनां मनःसु प्रतिफलन् सर्वमोहनस्वांशच्छुरित-परमाणुप्रतिबिम्बतया किञ्चिदुदयन्नपि स्मरतामुपेत्यादि योज्यम्। यदुक्तं रासपञ्चाध्यायां—"साक्षान्मन्मथमन्मथ" इति। "चक्षुषश्चक्षुः" इतिवत् तदेवं तत्कारणत्वेऽपि स्मरावेशस्य दृष्टत्वं जगदावेशवत्॥४२॥

टीकानुवाद—अनन्तर ब्रह्माजी श्रीगोविन्ददेवकी उन्नत-उज्ज्वल-प्रेममय मोहनताका वर्णन इस प्रस्तुत श्लोकके द्वारा कर रहे हैं—'आनन्दचिन्मयरस'—तत्त्वज्ञ और रसिक भक्तोंके संग और सदुपदेशोंके श्रवणसे जिन निष्कपट साधक-भक्तोंके हृदयमें ब्रज-रस पानेकी लालसा—उत्कट लोभ उत्पन्न हो गया है, तथा उन उपदेशोंके अनुसार वे सदैव श्रीकृष्णकी मन्मथमन्मथ-मूर्त्ति, तत्सम्बन्धीय नाम, रूप, गुण और लीला आदिका निरन्तर स्मरण करते हैं, उन्हीं यथार्थ स्मरणकारी साधक-भक्तोंके हृदयमें श्रीकृष्ण अपने आनन्द-चिन्मय रसात्मकरूपसे अर्थात् उज्ज्वल शृंगार रस-स्वरूपसे किञ्चित् प्रतिफलित होकर त्रिभुवनको वशीभूत करते हैं।

इसका निष्कर्ष यह है कि साधकोंके हृदयमें वे अपने सर्वमोहन मन्मथके भी मनको मथन करनेवाले स्वरूपमें किञ्चित परमाणुरूप अंशसे प्रतिफलित होकर अर्थात् प्रतिबिम्बरूप आभासके द्वारा कन्दर्प-स्वरूपको प्रकट कर लीलासे—अनायास ही त्रिभुवनको जय करते हैं। इसीलिए श्रीमद्भागवत रासपञ्चाध्यायीमें भी श्रीकृष्णके मन्मथमन्मथ-रूपका उल्लेख किया गया है—'साक्षात् मन्मथमन्मथः' अर्थात् श्रीकृष्ण—जगमोहन कामदेवके दर्पको भी चूर्ण-विचूर्ण करनेवाले हैं। उदाहरणके द्वारा समझा जा सकता है—'चक्षुषश्चक्षु' अर्थात् निखिल नेत्रोंके एक नेत्र श्रीकृष्ण ही हैं; इसी प्रकार श्रीकृष्ण ही निखिल मन्मथोंके मन्मथ हैं। अतएव जागतिक कामरूप स्मरका कारण ईश्वर होने पर भी स्मरका आवेश जीवोंके लिए सर्वथा अनिष्टकारी है; वैसे ही जगत् ईश्वरका अंश (बाह्यतः) होने पर भी जगतके किसी भी पदार्थमें भोक्ताका अभिमान साधकोंके लिए सर्वथा अनिष्टकारी है—जानना चाहिए॥४२॥

तात्पर्य—भगवद् रस-रसिक भक्तोंके मुखसे विगलित भगवल्लीला-कथाओंके निरन्तर श्रवण करनेसे जिन सौभाग्यवान निष्कपट-साधकोंके हृदयमें व्रजवासियों जैसी प्रेम-सेवाको प्राप्त करनेके लिए उत्कट लोभ उत्पन्न हो गया है तथा उन भक्तोंके सदुपदेशोंके अनुसार सदैव उज्ज्वल-रसगत श्रीकृष्णकी मन्मथमन्मथ मूर्त्ति, तत्सम्बन्धीय नाम, रूप, गुण और लीलाका स्मरण करते हैं, वे ही यथार्थ (रागानुगीय) स्मरणकारी हैं; उन्हींके हृदयमें धाम और लीलामय श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं। उनके हृदयमें उदित वह धामगत-लीला जड़-जगतके सम्पूर्ण ऐश्वर्य और माधुर्यको सर्वतोभावेन जय कर लेती है॥४२॥

श्लोक ४३

गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य
देवी-महेश-हरि-धामसु तेषु तेषु।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥४३॥

अन्वय—येन (जिससे) गोलोकनाम्नि निजधाम्नि (गोलोक नामक सर्वोपरि विराजमान अपने धाममें) तस्य तले च (और उस गोलोक धामके नीचे) तेषु तेषु देवी-महेश-हरिधामसु च (उन-उन देवी धाममें, उसके

ऊपर स्थित महेश धाममें और उसके ऊपर वर्त्तमान हरिधाममें अर्थात् वैकुण्ठ धाममें भी) ते ते प्रभाव निचयाः (उन-उन धामोंके अनुरूप शास्त्र आदिमें प्रसिद्ध प्रभाव समूह) विहिता (विहित हुए हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ) ॥४३॥

अनुवाद—चौदह भुवनरूपी देवी धाम, उसके ऊपर महेश धाम, उससे ऊपरमें हरिधाम एवं सबसे ऊपर गोलोक नामक अपना (स्वयं-भगवान् श्रीगोविन्दका) धाम है। उन-उन धामोंके अलग-अलग, विशेष-विशेष प्रभावोंका जो नियमन करते हैं, उन आदि पुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥४३॥

टीका—तदिदं प्रपञ्चगतं माहात्म्यमुक्त्वा निजधामगतमाहात्म्यमाह,—गोलोकेति। देवीमहेशेत्यादि-गणनं व्युत्क्रमेण ज्ञेयम्। देव्यादीनां यथोत्तरमूर्द्धोर्द्धप्रभव-वत्वात्तल्लोकानामूर्द्धोर्द्धभावित्वमिति। गोलोकस्य सर्वोर्द्धगामित्वं सर्वेभ्यो व्यापकत्वञ्च व्यवस्थापितमस्ति; भुवि प्रकाशमानस्य वृन्दावनस्य तु तेनाभेदः पूर्वत्र दर्शितः। "स तु लोकस्त्वया कृष्णः सीदमानः कृतात्मना। धृतो धृतिमता वीर निघ्नतोपद्रवं गवाम्" इत्यनेनाभेदेनैव हि। गोलोक एव निवसतीत्येव-कारः संघटते, यतो भुवि प्रकाशमानेऽस्मिन् वृन्दावने तस्य नित्यविहारित्वं श्रूयते; यथादिवाराहे—"वृन्दावनं द्वादशकं वृन्दयापरिरक्षितम्। हरिणाधिष्ठितं तच्च ब्रह्मरुद्रादि-सेवितम्॥" तत्र च विशेषः—"कृष्ण क्रीडासेतुबन्धं महापातमनाशनम्। वल्लवीभिः क्रीड़नार्थं कृत्वा देवो गदाधरः॥ गोपकैः सहितस्तत्र क्षणमेकं दिने दिने। तत्रैव रमणार्थं हि नित्यकालं स गच्छति॥ इति। अतएव गौतमीये, श्रीनारद उवाच,—"किमिदं द्वात्रिंशद्वनं वृन्दारण्यं विशाम्पते। श्रोतुमिच्छामि भगवन्! यदि योग्योऽस्मि मे वद॥" श्रीकृष्ण उवाच,—"इदं वृन्दावनं नाम मम धामैव केवलम्। अत्र ये पशवः पक्षिमृगाः कीटा नराधमाः। निवसन्ति मयाविष्टे मृता यान्ति ममालयम्॥ अत्र या गोपकन्याश्च निवसन्ति ममालये। गोपिन्यस्ता मया नित्यं मम सेवापरायणाः। पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्। कालिन्दीयं सुषुम्नाख्या परमामृतवाहिनी॥ अत्र देवाश्च भूतानि वर्त्तन्ते सूक्ष्मरूपतः। सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित्॥ आविर्भावस्तिरोभावो भवेन्मेऽत्र युगे युगे। तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्म्मचक्षुषा॥" इति। एतद्रूपमेवाश्रित्य वाराहादौ ते नित्यकदम्बादयो दर्शिता वर्णिताश्च। तस्मादस्मद्दृश्यमानस्य एव वृन्दावनस्य अस्मद्दृश्यतादृश-प्रकाशविशेष एव गोलोक इति लब्धम्। यदा चास्मद्दृश्यमाने प्रकाशे सपरिकरः श्रीकृष्ण

आविर्भवति तदैव तस्यावतार उच्यते, तदेव च रसविशेषपोषाय संयोगविरहः पुनः संयोगादिमयविचित्रलीलया तया पारदार्य्यादिव्यवहारश्च गम्यते। यदा तु यथात्र यथा वान्यत्र कल्पतन्त्रयामलसंहिता–पञ्चरात्रादिषु तथा दिग्दर्शनेन विशेषा ज्ञेयाः। तथा च श्रीदशमे—"जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिषत् स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्म्मम्। स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मित–श्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवम्॥" इत्यादि। तथा च पाद्मे निर्वाणखण्डे श्रीभगवद्व्यासवाक्ये—"पश्य त्वं दर्शयिष्यामि स्वरूपं वेदगोपितम्। ततो पश्याम्यहं भूप बालं कालाम्बुदप्रभम्। गोपकन्यावृतं गोपं हसन्तं गोपबालकैः॥" इति; अनेनालब्धस्त्री–धर्म्मवयस्कतादि–बोधकेन कन्यापदेन तासामन्यादृशत्वं निराक्रियते॥ तथा च गौतमीयतन्त्रे चतुर्थाध्याये—"अथ वृन्दावनं ध्यायेत्" इत्यारभ्य, तद्ध्यानं—"स्वर्गादिव परिभ्रष्ट–कन्यका–शतमण्डितम्। गोपवत्सगणाकीर्णं वृक्षषण्डैश्च मण्डितम्॥ गोपकन्यासहस्रैस्तु पद्मपत्रायतेक्षणैः। अर्च्चितं भावकुसुमैस्त्रैलोक्यैकगुरुं परम्॥" इत्यादि। तद्दर्शनकारी च दर्शितस्तत्रैव सदाचारप्रसङ्गे—"अहर्निशं जपेन्मन्त्रं मन्त्री नियतमानसः। स पश्यति न सन्देहो गोपरूपधरं हरिम्॥" इति; तत्रैवान्यत्र "वृन्दावने वसेद्धीमान् यावत् कृष्णस्य दर्शनम्" इति; त्रैलोक्यसन्मोहनतन्त्रे चाष्टादशाक्षरप्रसङ्गे—जपेद्यस्तु मन्त्री नियतमानसः। स पश्यति न सन्देहो गोपवेशधरं हरिम्॥" इति। अतएव तापन्यां ब्रह्मवाक्यं—"तदुहोवाच ब्रह्मसवनं चरतो मे ध्यातः स्तुतः परार्द्धान्ते सोऽबुध्यते गोपवेशो मे पुरुषः पुरस्तादाविर्बभूव" इति। तस्मात् क्षीरोदशाय्याद्यवतारतया तस्य यत् कथनं तत्तु तदंशानां तत्र प्रवेशोपेक्षया। तदलमतिविस्तरेण श्रीकृष्णसन्दर्भे दर्शितचरणे प्रस्तुतमनुसरामः ॥४३ ॥

टीकानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्णके प्रपञ्चगत माहात्म्यका वर्णन करते हुए अब उनके धामकी महिमा—इस 'गोलोक नाम्नि' श्लोकमें प्रकाश कर रहे हैं।

इस श्लोकमें देवी–महेश आदि धामकी स्थिति व्युत्पत्ति क्रमसे अर्थात् विपरीत रूपसे दिखायी गई है। देवीधाम आदिसे प्रारम्भकर ऊपर–ऊपरके धामका वर्णन करते हुए सबसे ऊपर विराजमान अपना लोक गोलोक धामका स्वरूप निरूपण कर रहे हैं। वह गोलोक धाम सर्वोर्द्धगामी होनेसे समस्त धामोंमें व्यापक रूपसे अवस्थित है अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है। इस धरातलपर प्रकाशमान वृन्दावन और उस गोलोकमें कोई भेद नहीं है। इन दोनोंका अभिन्न स्वरूप पहले वर्णन किया गया है।

जैसे हरिवंशमें कहा है—ब्रह्मकी उपासना करने वाले ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं परन्तु वह गौओंका लोक गोलोक अतिशय दुर्लभ है। उस लोकको केवलमात्र धृतिमान—धीर साधक पुरुष ही प्राप्त कर पाते हैं।

वह सबके लिए सुलभ नहीं होता है। वह समस्त प्रकारके उपद्रवोंसे रहित है। इससे दोनों धामोंका अभिन्न रूपसें वर्णन किया है।

'गोलोक एव निवसति'—इस एव कारके द्वारा उसकी निश्चयता बोध होता है। अर्थात् बारह वनोंसे युक्त वृन्दावन, श्रीवृन्दादेवीके द्वारा परिरक्षित है। यहाँ ब्रह्मा, रुद्र आदि प्रमुख देवगण जिनके श्रीचरणकमलोंकी निरन्तर सेवा करते हैं, उन श्रीहरि स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णका नित्य-अधिष्ठान स्वरूप श्रीवृन्दावन धाम है।'

इस धामकी विशेषता यह है कि देवदेव गदाधर श्रीकृष्ण अपनी वल्लभाओंके साथ नित्य क्रीड़ा विहार करते हैं। वहाँ महापातक नाशक सेतुबन्ध आदि विविध प्रकारकी लीलाएँ होती हैं। उन-उन लीला स्थलियोंमें श्रीकृष्ण वलभी स्थापन कर गोप सखाओंके साथ दिन-प्रतिदिन क्रीड़ाकर आनन्दित होते हैं तथा वहाँ विहार करनेके लिए वे नित्यकाल तक अतिवाहित करते हैं

इसी प्रकार गौतमीय तन्त्रमें भी उल्लेख है। श्रीनारदजीने भगवान्से जिज्ञासा की—हे विशाम्पते! द्वादश वनोंसे युक्त वृन्दावनके विषयमें मैं जानना चाहता हूँ, यदि मैं सुननेके लिए योग्य हूँ तो मेरे लिए कृपया वर्णन किया जाय, तब श्रीकृष्णने कहा—

इदं वृन्दावनं नाम मम धामैव केवलम्।
अत्र ये पशवः पक्षिमृगाः कीटा नराधमाः॥
निवसन्ति मयाविष्टे मृता यान्ति ममालयम्।
अत्र या गोपकन्याश्च निवसन्ति ममालये॥
गोपिन्यस्ता मया नित्यं मम सेवा परायणाः।
पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्॥
कालिन्दीयं सुषुम्नाख्या परमामृतवाहिनी।
. . . .
तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्म्मयक्षुषा॥

यह वृन्दावन केवलमात्र मेरा ही धाम है। यहाँ पशु-पक्षि, मृग, कीट-पतङ्ग एवं नराधम मनुष्यतक जो कोई भी निवास करते हैं, वे सभी मुझमें आविष्ट

रहनेके कारण यहाँ मरने पर मेरे नित्य धामको प्राप्त करते हैं। यहाँ जितनी भी गोपकन्याएँ हैं, वे सभी मेरे साथ संयोग–प्राप्त और मेरी नित्य–सेवापरायण हैं। यह पाँच योजन विस्तारवाला वृन्दावन मेरा शरीर है और परमामृत वाहिनी कालिन्दी मेरी सुषुम्ना नाड़ी है। यहाँ जितने भी देवता और प्राणी हैं वे समस्त सूक्ष्मरूपसे यहाँ अवस्थान करते हैं। मैं सर्वदेवमय हूँ, कभी भी इस वृन्दावनका परित्याग नहीं करता हूँ। इस धाममें मेरा समय–समयपर आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। यह तेजोमय और सुरम्य धाम है। चर्मचक्षुओंसे यह दृष्टिगोचर नहीं होता है।

इस प्रकारके वैशिष्ट्यपूर्ण वृन्दावन धामके विषयमें वाराह पुराणादिमें भी कदम्ब वृक्ष आदिके नित्यकाल अवस्थानका उल्लेख किया गया है।

अतएव अप्राकृत वृन्दावन धामका दर्शन अप्राकृत नेत्र या प्रेमनेत्रसे ही होता है। उस प्रकार वृन्दावनमें भी प्रकाश विशेषसे गोलोकका दर्शन होता है। इसलिए कहा है—गोलोकमें गोकुल और गोकुलमें गोलोकका दर्शन होता है, जिस समय दृश्यमान भौम–वृन्दावनमें सपरिकर भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव होता है, उस समय उस आविर्भावको अवतार कहा जाता है। उसी समय रस विशेषकी पुष्टिके लिए संयोग एवं विरह तथा पुनः संयोगमय विचित्र लीलाओंके द्वारा उनमें परदारत्व आदि व्यवहार दृष्टिगोचर होते हैं। वृन्दावनके प्रकट–प्रकाशमें इन लीलाओंका जैसा अनुष्ठान होता है, अप्रकट–प्रकाशमें भी वैसा ही होता रहता है। इसका विवरण कल्प, तन्त्र, यामल, संहिता, पञ्चरात्र आदि ग्रन्थोंमें दिग्–दर्शनके द्वारा प्राप्त होता है। उन विशेषताओंको उन–उन शास्त्रोंसे जानना चाहिए।

वैसे दशम स्कन्धमें भी कहा है—

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपरिषत् स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मित–श्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवम्॥

(भा. १०.९०.४८)

अर्थात् जन समुदायके हृदयमें अर्न्तयामी रूपमें जिनका निवास है अथवा गोप, यादवादि निजजनोंमें जिनका निवास है या जो समस्त जीवोंके हृदयमें निवास करते हैं या सबके आश्रय हैं, देवकीके गर्भसे जिनका जन्म हुआ है—यह जिनके लिए एक प्रवाद मात्र है, यथार्थतः जो जन्मरहित हैं, यदुश्रेष्ठगण

जिनके सेवक हैं या जो यादवोंके सभापति हैं, जो अपनी इच्छामात्रसे सबकुछ करनेमें समर्थ होकर भी अपनी भुजाओंके बलसे अथवा अपने समान भीम-अर्जुनादि भक्तरूप बाहुबलके द्वारा धर्म-विद्वेषी असुरोंका संहार करते हैं, जो स्थावर-जङ्गम आदि प्राणियोंके संसार दुःखका हरण करते हैं या जो ब्रजपुर स्थित चर-अचर प्राणिमात्रके तदीय विरह जनित दुःखको हरण करते हैं तथा अपने प्रसन्न मुखारविन्द द्वारा ब्रजपुरकी वनिताओंका या मथुरा, द्वारका और ब्रजपुरीकी वनिताओंका काम वर्द्धन करते हैं, ऐसे श्रीकृष्ण जययुक्त हों।'

और भी पद्मपुराणके निर्वाण खण्डमें श्रीभगवान् और श्रीव्यासजीके संवादमें कहा गया है—'पश्य त्वं दर्शयिष्यामि........गोपबालकैः।'

'भगवान्‌ने कहा—हे व्यास! मैं तुम्हें अपने वेद-गोपनीय स्वरूपका दर्शन कराता हूँ, तुम उसका दर्शन करो। तदनन्तर श्रीव्यासदेव भगवत्स्वरूपका दर्शन कर कहते हैं—हे राजन! मैंने गोपकन्याओं द्वारा परिवेष्टित तथा गोपबालकोंके साथ हँसते-हँसाते हुए नीले जलदके समान श्यामल कान्तिवाले उन परम पुरुष श्रीकृष्णका दर्शन किया।'

यहाँ कन्या पदके द्वारा गोपियोंका विशेषत्व दिखाया गया है। विशेषता यह है कि ये गोपियाँ पूर्ण यौवना होकर भी अलब्ध स्त्री-धर्म अर्थात् नारी-धर्म विहीन हैं अथवा श्रीकृष्णमें प्रेमवती तो हैं परन्तु अपुष्पवती हैं। इस प्रकार इनको अप्राप्त वयस्का कहनेसे ये नित्य किशोरियाँ हैं। अतएव गोपियोंको कन्यापदसे उल्लेख कर उनकी दूसरी स्त्रियोंसे समताका खण्डन किया गया है।

ऐसे ही गौतमीय तन्त्रके चतुर्थ अध्यायमें कहा गया है—'अथ वृन्दावनं ध्यायेत्'—अनन्तर वृन्दावनका ध्यान करें। यहाँसे प्रारम्भकर उनका ध्यान वर्णन करते हैं। स्वर्गसे अर्थात् गोलोक धामरूप स्वर्गसे सैकड़ों गोपकन्याएँ, गोप-समुदाय एवं गो, गोवत्स आदि यहाँ अवतीर्ण होकर सर्वत्र ही सुशोभित हैं। ऐसे सुरम्य वृन्दावनमें कमल जैसी सुदीर्घ नेत्रोंवाली हजारों-हजारों गोपियाँ भावकुसुमके द्वारा उस त्रैलोक्य गुरु (तीनों लोकोंके गुरु) श्रीहरिकी पूजा अर्चना करती हैं, इत्यादि।

इसी प्रकार उसी ग्रन्थमें, उनके दर्शन करने वाले तथा जिन्होंने दर्शन किया है,—उन सबके सदाचार प्रसङ्गमें कहा गया है—

'अहर्निशं जपेन्मन्त्रं मन्त्री नियतमानसः।
स पश्यति न सन्देहो गोपरूपधरं हरिम्॥'

अर्थात् जो मन्त्र–साधक निरन्तर एकाग्र चित्त होकर दिवानिशि कृष्णमन्त्रका जप करता है, वह गोपवेशधारी श्रीकृष्णका निश्चित रूपसे दर्शन करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

और भी, उसी ग्रन्थमें अन्यत्र उल्लेख है—'वृन्दावने वसेत् धीमान् यावत् कृष्णस्य दर्शनम्'—अर्थात् बुद्धिमान पुरुष वृन्दावनमें तबतक वास करे, जबतक कृष्णका दर्शन होता रहे।

और भी त्रैलोक्य सम्मोहन तन्त्र तथा अष्टादशाक्षर–मन्त्र प्रसङ्गमें कहा है—जो एकाग्र चित्त होकर इस मन्त्रकी साधना करता है, वह निश्चित रूपसे गोपवेशधारी श्रीकृष्णका दर्शन करता है।

अतएव श्रीगोपाल तापनीमें श्रीब्रह्माजीके कथनमें देखा जाता है—'तदुहोवाच' आदि। (श्रुति २७)

'हे वत्स! मेरी परमायुके प्रथम भागमें जब मैं वर्त्तमान था, उस समय मैंने परमब्रह्म श्रीकृष्णका ध्यान और स्तव किया। उस समय ब्राह्मी निशाके अवसान होनेपर वे मेरे हृदयमें गोपवेशमें आविर्भूत हुए।'

इस प्रकार श्रीकृष्णका परमेश्वर, परब्रह्म, परम पुरुष आदिके रूपमें वर्णन होते हुए भी कहीं–कहीं उनका क्षीरोदशायीके अवतार रूपमें जो सुना जाता है, वह केवल उनमें अंशावतारोंके प्रवेश होनेसे ही इस प्रकारका वर्णन किया गया है। इसलिए यहाँ विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं समझता हूँ। श्रीकृष्ण–सन्दर्भमें इसका विशेष रूपसे वर्णन हुआ है।

इस प्रकार भगवान्‌की प्रपञ्चगत महिमाका वर्णन कर यहाँ भगवान्‌के निजस्व धामकी महिमा 'गोलोकनाम्नि' इस श्लोकके द्वारा कर रहे हैं—श्रीगोलोक धाम—सारे लोकोंसे ऊपरमें विराजमान हैं; परन्तु लोक पितामह ब्रह्माजी देवीधामके अन्तर्गत ब्रह्मलोकमें अवस्थित हैं। इसलिए वे यथार्थ क्रममें विपरीत नीचे–से–ऊपर तक अवस्थित लोकोंमें विराजमान भगवद्–माहात्म्यका वर्णन कर रहे हैं; यथार्थ–क्रमसे तो श्रीगोलोक, उससे नीचे वैकुण्ठ लोक, उससे नीचे महेशलोक और उससे भी नीचे देवीलोक अवस्थित है। निम्न और ऊर्द्ध–क्रम विवेचन उन–उन लोकोंमें विराजमान भगवन्महिमाके तारतम्यके अनुसार ही होता है। गोलोक धामकी सर्वोर्द्धगामिता और व्यापकता शास्त्रोंमें यत्रतत्र सर्वत्र ही संस्थापित है। यदि कहो कि श्रीवृन्दावन धाम

तो देवीधामके ही अन्तर्गत है; तो ऐसा नहीं कह सकते हो। क्योंकि भौमजगतमें वृन्दावनकी स्थिति प्रतीत होने पर भी वह प्रतीति केवल योगमायाके प्रभावसे दीख पड़ती है; यथार्थतः श्रीवृन्दावन-गोकुलधाम—श्रीगोलोक धामसे अभिन्न है। दोनोंका अभेद शास्त्रीय-प्रमाणोंके आधार पर पहले प्रदर्शित किया जा चुका है। श्रीमद्भागवत दशम-स्कन्धमें वर्णित 'स तु लोकस्त्वया कृष्णा. ..निघ्नोपद्रवान् गवाम्'—अर्थात् हे कृष्ण! हे वीर! वृन्दावन नामक लोक विपन्न होने पर, हे धृतिमान सर्वसमर्थ! आपने उसको धारणकर गो, गोपीसमूहको—सारे गोकुलको उपद्रवोंसे उद्धार किया—इस कथनसे गोलोक और वृन्दावनकी अभेद प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'गोलोक एव निवसति' में 'एव'-के उल्लेख द्वारा गोलोक और वृन्दावनका अभेदार्थ ही अभिव्यञ्जित है; क्योंकि भूलोकमें प्रकाशमान वृन्दावन-नामक स्थानमें श्रीकृष्णकी नित्य-स्थितिका वर्णन शास्त्रोंमें उल्लिखित है। आदि वाराह पुराणमें कहा गया है—'वृन्दावनं द्वादशकं...सेवितम्'॥

तात्पर्य—सबसे ऊपर विराजमान श्रीगोलोक धाम है। श्रीब्रह्माजी देवीधामके अन्तर्गत ब्रह्मलोक या सत्यलोकसे ऊपरकी ओर देखकर ही पहले देवीधाम और तदनन्तर क्रमशः महेश आदि धामोंमें विराजित भगवन्महिमाओंका वर्णन कर रहे हैं। पहले देवीधाम अर्थात् यह जड़ जगत है, इसके अन्तर्गत—भूः, भूवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य—ये सात ऊपरके लोक है एवं अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल—ये सात नीचेके लोक हैं। अतः देवीधामके अन्तर्गत उक्त चौदह लोक हैं।

इस देवीधामके ऊपर शिवधाम है, उस धामका एक भाग अन्धकारमय तथा दूसरा भाग प्रकाशमय है। उसमेंसे वह अन्धकारमय लोक महाकाल-धाम नामसे और प्रकाशमय-धाम सदाशिव लोक नामसे प्रसिद्ध है। उसके ऊपरमें हरिधाम या चित्-जगत वैकुण्ठ लोक अवस्थित है।

देवी धाममें मायाका वैभवरूप प्रभाव एवं शिवधाममें काल और द्रव्यमय वैभवरूप व्यूह-प्रभाव तथा विभिन्नांशगत स्वांश-आभासमय प्रभाव हैं। किन्तु हरिधाम—वैकुण्ठमें चिद् ऐश्वर्यमय प्रभाव है। इसी प्रकार गोलोकमें सर्वैश्वर्यका निराशकारी महामाधुर्यमय प्रभाव है। ऐसे-ऐसे प्रभाव समूहका नियमन उन-उन धामोंमें जिन्होंने साक्षात् और गौणरूपसे किया है, वे आदिपुरुष गोविन्द देव हैं॥४३॥

श्लोक ४४

सृष्टि-स्थिति-प्रलय-साधनशक्तिरेका
छायेव यस्य भुवनानि विभर्त्ति दुर्गा।
इच्छानुरूपमपि यस्य च चेष्टते सा
गोविन्दमादिपुरुष तमहं भजामि॥४४॥

अन्वय—एका सृष्टि-स्थिति-प्रलय-साधन शक्तिः दुर्गा (एकमात्र सृष्टि, स्थित और प्रलय साधनकारिणी शक्ति दुर्गादेवी) यस्य छाया इव (जिनकी छायाकी भाँति वर्त्तमान रहकर) भुवनानि विभर्त्ति (भुवन समूहको पोषण कर रही हैं) यस्य च इच्छानुरूपं अपि (तथा जिनकी इच्छाके अनुरूप ही) चेष्टते (दुर्गादेवी आचरण करती हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥४४॥

अनुवाद—स्वरूपशक्ति या चित्-शक्तिकी छायारूपा प्रापञ्चिक जगतकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयकारिणी मायाशक्ति ही भुवन पूजिता 'दुर्गा' जी हैं। वे जिनकी इच्छाके अनुसार सारी चेष्टाएँ करती हैं, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥४४॥

टीका—पूर्वं देवीमहेशहरिधाम्नामुपरिचरधामत्वं तस्य दर्शितम्; सम्प्रति तु तत्तदाश्रयत्वात्तदेव योग्यमिति दर्शयति,—सृष्टीति पञ्चभिः। यथोक्तं श्रुतिभिः,—"त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधरस्तव बलिमुद्वहन्ति-समदन्त्यजयानिमिषा" इति॥४४॥

टीकानुवाद—पूर्व-श्लोकमें देवीधाम, महेशधाम, हरिधाम और सबसे ऊपर अवस्थित गोलोक धामका वर्णन किया है। सम्प्रति उन-उन धामोंके आश्रय अर्थात् अधिष्ठातृ देव-देवियोंका वर्णन 'सृष्टि-स्थिति' आदि पाँच श्लोकोंमें कर रहे हैं। इन चौदह भुवनोंकी अधिष्ठातृ देवी 'दुर्गा' हैं। श्रुतिओंमें भी कहा गया है—

'त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधरस्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्य-जयानिमिषा।' (१०.८७.२८)

हे प्रभो! आप प्राकृत इन्द्रिय सम्बन्धसे रहित स्वतन्त्र ईश्वर होकर भी समस्त प्राणियोंकी सम्पूर्ण इन्द्रिय-शक्तिकी परिचालना करते हैं। खण्डराज्यके अधिपतिगण जैसे अपनी-अपनी प्रजाओंके प्रदत्त उपहारको ग्रहणकर पुनः उन उपहारोंको अपने अधीश्वर महामण्डलेश्वरको प्रदान करते हैं, वैसे ही दुर्गादेवी, महेश आदि अधिष्ठातृ देव-देवियाँ समस्त पूजोपहार

आप गोलोकपति श्रीगोविन्दके श्रीचरणकमलोंमें ही समर्पण करती हैं; आपसे भयभीत होकर प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने अधिकारके अनुरूप कर्मोंका सम्पादन करते हैं। श्रीदुर्गादेवी भी इसी प्रकार धामकी अधिष्ठातृ देवी होकर भी श्रीगोविन्ददेवके श्रीचरणकमलोंमें पूजोपहार समर्पण करती हैं॥४४॥

तात्पर्य—पूर्वमें देवी धामकी विशेषताका वर्णन किया गया है, अब प्रस्तुत श्लोकमें उसकी अधिष्ठातृ देवीका वर्णन किया जा रहा है। जहाँ ब्रह्माजी अवस्थित होकर गोलोकनाथका स्तव कर रहे हैं, वह विश्व जगत चौदह-भुवनात्मक देवीधाम है। उसकी अधिष्ठातृ देवी 'दुर्गा' हैं। वे दश प्रकारके कर्मरूप दश भुजाओंवाली हैं, वीर प्रतापमें अवस्थित होनेसे वे सिंहवाहिनी हैं, पाप-दमनी रूपा 'महिषासुर-मर्दिनी' हैं; शोभा और सिद्धि रूप कार्त्तिक और गणेश दो पुत्रोंकी जननी हैं, जड़-ऐश्वर्य और जड़-विद्या सङ्गिनीरूपा लक्ष्मी और सरस्वतीके मध्यवर्त्तिनी हैं, वे पाप दमन करनेके लिए बहुत प्रकारके वेदोक्त धर्मरूप विंशति अस्त्रधारिणी हैं; काल-शोभा विशिष्ट होनेसे वे सर्पशोभिनी है। इतने सारे स्वरूपोंसे विशिष्ट वे दुर्गाजी हैं।

वे दुर्गा—दुर्ग विशिष्टा हैं। दुर्ग शब्दसे कारागार समझा जाता है अर्थात् तटस्था-शक्ति प्रसूत जीवगण कृष्ण-बहिर्मुख होकर जिस प्रापञ्चिक कारागारमें अवरुद्ध होते हैं, वही दुर्गाजीका दुर्ग है। कर्म चक्रमें पीसना ही उनका दण्ड है। बहिर्मुख जीवोंके प्रति उस प्रकार शोधन-प्रणाली युक्त कार्य ही श्रीगोविन्दका इच्छानुरूप कर्म है। दुर्गाजी निरन्तर उसीका सम्पादन करती हैं। सौभाग्यवश साधुसङ्ग पाकर जीवोंकी जब बहिर्मुखता दूर होती है और अन्तर्मुख भाव उदित होता है, तब पुनः गोविन्दकी इच्छासे दुर्गा ही उन-उन जीवोंकी मुक्तिका कारण होती हैं। अतएव भगवान्‌के प्रति अन्तर्मुख भाव दिखलाकर कारारक्षी दुर्गाको परितुष्टकर उनकी निष्कपट करुणा प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिए। धन, जन, पुत्र, परिवारकी प्राप्ति तथा उनसे आरोग्य आदि लाभ करनेके लिए जो वर माँगा जाता है और वे उन्हें पूर्ण करती हैं, उसे देवीकी कपट कृपा ही समझनी होगी। वे दुर्गा ही दश महाविद्याओंके रूपमें प्रापञ्चिक जगतमें कृष्ण-बहिर्मुख जीवोंके लिए जड़ीय आध्यात्मिक लीलाका विस्तार करती हैं।

जीव—चित्कण स्वरूप हैं, परन्तु कृष्ण-बहिर्मुखताका दोष होनेपर वे मायाके आकर्षणसे विक्षिप्त हो जाते हैं, जीवके विक्षिप्त होते ही दुर्गाजी

उनको कैदीकी पोषाककी भाँति पञ्चभूत, पञ्च तन्मात्रा और एकादश इन्द्रियोंसे युक्त स्थूल-शरीरको पहनाकर कर्म चक्रमें डाल देती हैं। उस कर्मचक्र पर आरूढ़ होकर जीव सुख-दुःख तथा स्वर्ग-नरक आदिका भोग करते हैं। इसके अतिरिक्त स्थूल शरीरके भीतर मन, बुद्धि, अहंकाररूप एक सूक्ष्म शरीर भी प्रदान करती हैं। जीव एक स्थूल शरीरको त्यागकर उस सूक्ष्म लिङ्ग शरीरसे दूसरे शरीरको धारण करते हैं। जबतक मुक्ति नहीं होती, तबतक अविद्या दुर्वासनामय लिङ्ग शरीर दूर नहीं होता है। लिङ्ग देहके दूर होनेपर जीव विरजामें स्नानकर हरिधाममें गमन करते हैं। दुर्गादेवी इन सारे कार्योंको श्रीगोविन्दकी इच्छानुसार ही करती हैं।

'विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः॥'

श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा ही कहा गया है—बहिर्मुख जीवोंके साथ ही दुर्गाका सम्बन्ध है। जड़ जगतमें जिन दुर्गाजीकी पूजा होती है, वे छायारूपा दुर्गा हैं; परन्तु भगवत्-धामके आवरण रूपमें जिन मन्त्रमयी दुर्गाका वर्णन है, वे चिन्मयी कृष्णदासी हैं, छाया दुर्गा उनकी दासी रूपमें जगतमें कार्य करती हैं। इस विषयमें इस ग्रन्थके तृतीय श्लोकको टीकाका अनुशीलन करें॥४४॥

श्लोक ४५

क्षीरं यथा दधि विकारविशेषयोगात्
सञ्जायते न हि ततः पृथगस्ति हेतोः।
यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्याद्-
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥४५॥

अन्वय—क्षीरं यथा (दूध जैसे) विकारविशेषयोगात् (अम्लादि विकार-विशेषके योगसे) दधि सञ्जायते (दहीके रूपमें परिणत होता है) हि (ऐसा होने पर भी) ततः हेतो (उपादान-कारण स्वरूप उस दूधसे) पृथक् न अस्ति (पृथक् वस्तु नहीं है) तथा (उसी प्रकार) यः (जो) कार्य्यात् (कार्यवशतः) शम्भुताम अपि (शम्भुरूपता भी) उपैति (प्राप्त होते हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥४५॥

अनुवाद—दुग्ध जिस प्रकार विकारविशेषके (अम्ल) योगसे दधि बन जाता है, तथापि वह (दधि) अपने कारणरूप दुग्धसे पृथक् कोई पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ नहीं होता; वैसे ही जो कार्यवशतः शम्भुताको प्राप्त होते हैं, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥४५॥

टीका—अथ क्रमप्राप्तं महेशं निरूपयति,—क्षीरमिति। कार्य्यकारणभावमात्रांशे दृष्टान्तोऽयं दार्ष्टान्तिकस्य कारणनिर्विकारत्वात् चिन्तामण्यादिवत् अचिन्त्यशक्त्यैवा तदादिकार्य्यतयापि स्थितत्वात्। श्रुतिश्च—"एको ह वै पुरुषो नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः स मुनिर्भूत्वा समचिन्तयत्। तत एते व्यजायन्त विश्वो हिरण्यगर्भोऽग्निवरुणरुद्रेन्द्र" इति, तथा—"स ब्रह्मणा सृजति रुद्रेन नाशयति। सोऽनुत्पत्तिलय एव हरिः कारणरूपः परः परमानन्दः" इति। शम्भोरपि कार्य्यत्वं गुणसम्बलनात्; यथोक्तं श्रीदशमे—"हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः। शिवः शक्तियुतः शश्वत्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः॥" इति; एतदेवोक्तं—'विकारविशेषयोगात्' इति। कुत्रचिद्भेदोक्तिर्या दृश्यते तामपि समादधाति; ततो हेतोः पृथक्त्वं नास्तीति। यथोक्तमृग्वेदशिरसि—"अथ नित्यो नारायणः ब्रह्मा च नारायणः, शिवश्च नारायणः, शक्रश्च नारायणः, कालश्च नारायणः, दिशश्च नारायणः, अधश्च नारायणः, उर्द्ध्वञ्च नारायणः, अन्तर्बहिश्च नारायणः। नारायण, एवेदं सर्वं जातं जगत्यां जगत्" इत्यादि। ब्रह्मणा त्वेवमुक्तं—"सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः। विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्॥" इति॥४५॥

टीकानुवाद—अनन्तर क्रम-प्राप्त महेश्वर (महादेव) स्वरूपका निरूपण 'क्षीरमिति' इस श्लोक द्वारा कर रहे हैं। जिस प्रकार दुग्ध, अम्ल आदि द्रव्यके संयोगसे दधिरूपमें परिणत होता है, उसी प्रकार कार्यवशतः श्रीगोविन्द शम्भुरूप धारण करते हैं। यहाँ पर दधिका दृष्टान्त कार्यकारणभावका बोध करानेके लिए दिया गया है; विकार-अंशमें नहीं अर्थात् विकार-बोध हेतु नहीं दिया गया है। इसका कारण यह है कि श्रीगोविन्ददेव अविकारी तत्त्व हैं; उनका विकार संभव नहीं है। जिस प्रकार चिन्तामणिसे इच्छानुसार बहुत-सी वस्तुएँ प्रकट होती हैं, चिन्तामणि अपने स्वरूपसे अविकृत रहकर ही अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे मुँहमाँगी वस्तुओंको प्रकट करती है, उसी प्रकार भगवान् गोविन्द भी अपने स्वरूपसे अविकृत रहकर ही कार्य निमित्त शम्भुरूपमें प्रकट होते हैं। जैसे श्रुतियोंमें कहा गया है—'एको ह वै पुरुषो नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शंकरः। स मुनिर्भूत्वा समचिन्तयत्। तत एते व्यजायन्त विश्वो हिरण्यगर्भोऽग्निर्वरुणरुद्रेन्द्राः तथा—स ब्रह्मणा सृजति रुद्रेण नाशयति

इत्यादि अर्थात् सृष्टिसे पहले एकमात्र परम पुरुष भगवान् नारायण ही थे। उस समय ब्रह्मा और शंकर भी नहीं थे। वे भगवान् ही मुनि होकर सृष्टि निमित्त चिन्ता करने लगे। उस समय यह हिरण्यगर्भरूप विश्वकी उत्पति हुई तथा अग्नि, वरुण, रुद्र, इन्द्र आदि देवता भी प्रकट हुए। और भी, भगवान् ब्रह्माके रूपमें सृजन करते हैं तथा रुद्रके रूपमें विनाश करते हैं। वे परमानन्दस्वरूप श्रीहरि ही एकमात्र उत्पत्ति और लयरहित हैं; वे ही गुणावतारके रूपमें विश्वकी सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय आदि कार्य करते हैं; तमोगुण आदिके अङ्गीकार हेतु ही उनका शम्भुत्व है।

जैसे, दशमस्कन्धमें कहा है—

'हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
शिवः शक्तियुतः शश्वत्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः॥'

(भा. १०/८८/५)

अर्थात् भगवान् श्रीहरि सर्वदर्शी, मायिकगुणोंसे अतीत, प्रकृतिसे अतीत साक्षात् परम पुरुष हैं किन्तु शिव—वैकारिक, तैजस और तामस, इन तीन प्रकारके अहंकारके द्वारा सकृत सम्बन्धयुक्त तथा सर्वदा मायाशक्तिसे युक्त हैं। अतः श्रीहरिके भजन करनेसे ही जीव निर्गुण होते हैं।

इसी तथ्यको और भी सुस्पष्ट रूपसे यहाँ 'विकार-विशेष योगात्'के द्वारा वर्णन कर रहे हैं, अर्थात् वे विकारमयी मायासे संयुक्त हैं। इसलिए शिव-तत्त्वको कहीं भेदरूपमें तो कहीं अभेद रूपमें वर्णन किया गया है। उसमेंसे भेदका समाधान करते हुए कहा गया है कि सर्वकारण-कारण श्रीहरिसे स्वतंत्र पृथक्रूपमें शिव—ईश्वर या कारण नहीं हैं; परतत्त्व श्रीहरिके अधीन ही उनका ईश्वरत्व है।

जैसे ऋग्वेदमें कहा है—'अथ अनन्तर एक नारायण ही नित्य हैं, ब्रह्मा नारायण हैं, शिव नारायण हैं, इन्द्र नारायण हैं, काल भी नारायण हैं, दिशाएँ भी नारायण हैं, अधः भी नारायण हैं, उर्द्ध भी नारायण हैं, अन्तः भी नारायण हैं, बहिः भी नारायण हैं, इस जगतका जो सबकुछ है, वे भी नारायण ही हैं।

द्वितीय स्कन्धमें ब्रह्माजीने भी इसी प्रकार कहा है—मैं भगवान्के द्वारा प्रेरित होकर सृजन करता हूँ, श्रीशिव उनके अधीन होकर ही संहार करते हैं और त्रिशक्तियोंसे सम्पन्न श्रीहरि ही पुरुषरूपसे परिपालन करते हैं।

इस प्रकार भगवान् तीन शक्तियोंके द्वारा अर्थात् सत्त्व, रजः और तमोगुणके

द्वारा जगतका सृजन, पालन तथा संहार करते हैं॥४५॥

तात्पर्य—प्रस्तुत 'क्षीरं यथा' श्लोकमें महेशधामके अधिष्ठातृ देवता पूर्वोक्त शम्भुके स्वरूपका निर्णय किया जा रहा है। यथार्थतः शम्भु—श्रीकृष्णसे अलग कोई स्वतंत्र ईश्वर-तत्त्व नहीं है। किन्तु जो लोग शम्भुको श्रीकृष्णसे अलग एक स्वतंत्र ईश्वर समझते हैं—श्रीकृष्ण और शम्भुमें भेद-बुद्धि रखते हैं, वे भगवान्के निकट अपराधी हैं। शम्भुकी ईश्वरता श्रीगोविन्दकी ईश्वरताके अधीन है। अतएव वे वस्तुतः अभेद तत्त्व हैं। अभेदका लक्षण यह है कि जैसे दुग्ध, अम्ल आदिरूप विकार-विशेषके योगसे दधि बन जाता है, वैसे ही विकार-विशेषके योगसे ईश्वर पृथक्-स्वरूप प्राप्त होकर भी परतन्त्र हैं। पृथक्रूप प्राप्त उक्त स्वरूपकी स्वतन्त्रता नहीं है।

मायाका तमोगुण, तटस्थ शक्तिका स्वल्पता-गुण और चित्शक्तिका ह्लादिनी मिश्रित सम्विद्-गुण—इनके मिश्रणसे एक विकार-विशेष बनता है,। उसी विशेष विकारसे युक्त स्वांश-भावाभास-स्वरूप ही—ईश्वर ज्योतिर्मय शम्भुलिङ्ग रूप 'सदाशिव' हैं और उनसे ही रुद्रदेव प्रकट होते हैं। सृष्टि कार्यके लिए द्रव्यव्यूहमय उपादान, स्थितिकार्यमें किसी-किसी असुरका विनाश, संहारकार्यके लिए सारी क्रियाओंके सम्पादनके लिए स्वांशभावापन्न विभिन्नांश-रूप शम्भु-रूपमें श्रीगोविन्द ही 'गुणावतार' होते हैं। इन शम्भुको ही कालपुरुष कहा गया है। इस विषयमें प्रमाणसमूह टीकामें उद्धृत हैं।

'वैष्णवानां यथा शम्भुः' इत्यादि भागवत-कथनोंका तात्पर्य यह है कि वे शम्भु अपनी कालशक्तिके द्वारा श्रीगोविन्दकी इच्छानुसार दुर्गादेवीके साथ मिलकर कार्य करते हैं। तन्त्रादि बहुविध शास्त्रोंमें जीवोंके अधिकार भेदसे भक्ति-प्राप्तिके सोपान-स्वरूप धर्मकी शिक्षा दी गयी है। श्रीगोविन्दकी इच्छाके अनुसार वे मायावाद तथा कल्पनामूलक आगमके प्रचारके द्वारा शुद्धभक्तिका संरक्षण और पालन करते हैं। शम्भुमें जीवोंके पचास गुण प्रचुररूपमें तथा जीवोंमें न पाये जानेवाले और भी पाँच महागुण आंशिक रूपमें होते हैं। अतएव शम्भुको जीव नहीं कहा जा सकता है; वे ईश्वर हैं तथापि विभिन्नांशगत हैं॥४५॥

श्लोक ४६

दीपार्च्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य
दीपायते विवृतहेतुसमानधर्मा।
यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥४६॥

अन्वय—दीपार्च्चिः एवः हि (एक दीप शिखा ही जैसे) दशान्तरम् (दशान्तर अर्थात् एक दूसरी बत्तीको) अभ्युपेत्य (प्राप्त होकर) दीपायते (एक दूसरे दीपके रूपमें प्रकाशित होता है) विवृत हेतु समान धर्मा च (और प्रकाश कार्यमें पूर्व दीपककी भाँति ही प्रकाश देता है) तादृक् एव हि यः (उसी प्रकार मूल दीप स्वरूप जो) विष्णुतया च (दूसरे दीपरूप विष्णुरूपमें) विभाति (प्रकाशित होते हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥४१॥

अनुवाद—जिस प्रकार एक मूल प्रदीपकी शिखा दशान्तर अर्थात् अन्य वर्त्तिको प्राप्त होकर उसके तुल्य ही दूसरे प्रदीपके रूपमें परिणत होकर मूल प्रदीपकी भाँति ही प्रकाशित होती है, उसी प्रकार जो मूल-विष्णु—कारणवारिमें शयन करनेवाले महाविष्णुका रूप ग्रहण करते हैं; उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥४६॥

टीका—अथ क्रमप्राप्तं हरिस्वरूपमेकं निरूपयन् गुणावतारमहेशप्रसङ्गाद्-गुणावतारं विष्णुं निरूपयति,—दीपार्च्चिरेति। तादृक्त्वे हेतुः—"विवृतहेतु-समानधर्म्मा"। इति। यद्यपि गोविन्दांशांशः कारणार्णवशायी तस्य गर्भोदकशायी तस्य चावतारोऽयं विष्णुरिति लभ्यते, तथापि महादीपात् क्रमपरम्परया सूक्ष्मनिर्म्मलदीपस्योदितस्य ज्योतिरूपांशे यथा तेन सह साम्यं तथा गोविन्देन रूपान्तरं विष्णुर्गम्यते। शम्भोस्तु तमोऽधिष्ठानात् कज्ज्वलमय, सूक्ष्मदीपशिखास्थानीयस्य न तथा साम्यमिति; तिरोधानात् तदित्थमुच्यते अग्रे तु महाविष्णोरपि कला-विशेषत्वेन दर्शयिष्यमाणत्वात्॥४६॥

टीकानुवाद—अनन्तर क्रमप्राप्त एक हरि-स्वरूपका निरूपण करनेके लिए गुणावतार महेशके प्रसङ्गमें गुणावतार विष्णुका स्वरूप वर्णन कर रहे हैं—'दीपार्चिरेव' इस श्लोकके द्वारा।

एक मूल प्रदीपसे जैसे बहुतसे प्रदीप प्रज्वलित होते हैं और सब प्रदीप समान रूपसे प्रज्वलित होते हैं, वैसे ही यद्यपि श्रीगोविन्दके अंशके अंश कारणार्णवशायी महाविष्णु हैं, उनके अंश गर्भोदकशायी विष्णु और उनके

अंश हैं यह क्षीरोदशायी विष्णु हैं तथापि मूल–महाप्रदीपसे क्रम–परम्परामें अतिशय क्षुद्र आकारवाले प्रदीपसे निर्गत ज्योति, मूल महाप्रदीप तथा दूसरे प्रदीपोंकी ज्योति एक समान ही निर्मल होती है, ज्योतिके विषयमें सबका साम्य है। किन्तु लीलाहेतु तमोगुणके अधिष्ठाता होनेके कारण कज्जलमय प्रदीप–शिखा स्थानीय शम्भुका श्रीगोविन्दके साथ साम्य–धर्म नहीं है; महाविष्णु भी श्रीगोविन्दके कला–विशेष हैं, इसका आगे विवेचन किया जाएगा॥४६॥

तात्पर्य—प्रस्तुत श्लोकमें हरिधामके अधिष्ठाता 'हरि', 'नारायण', 'विष्णु' आदि नाम–प्राप्त स्वांश–तत्त्वका वर्णन कर रहे हैं। परव्योमपति अर्थात् वैकुण्ठाधिपति श्रीनारायण, श्रीकृष्णकी विलास–मूर्त्ति हैं; उनके अंश प्रथम–पुरुषावतार कारणोदकशायी महाविष्णु हैं, उनके अंश—द्वितीयपुरुषावतार गर्भोदशायी विष्णु और उनके अंश—तृतीय पुरुषावतार क्षीरोदकशायी विष्णु हैं। 'विष्णु'–शब्द वाचक तत्त्व—अपनी सभी अवस्थाओंमें सर्वव्यापकत्वका परिचायक होता है अर्थात् मायिक जगतमें अवतरित होने पर भी वह मायासे सर्वथा अतीत और सर्वव्यापी होता है। प्रस्तुत श्लोकमें क्षीरोदशायी–विष्णु–तत्त्वके निरूपण द्वारा स्वांश–विलासका निरूपण किया जा रहा है। सत्त्वगुणावतार विष्णुतत्त्व—मायिक गुणों आदिसे–मिश्र शम्भु–तत्त्वसे विलक्षण हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीगोविन्दका जो स्वरूप है, विष्णुका भी वही स्वरूप है। दोनोंमें ही शुद्ध–स्वरूपता है; विष्णु—गोविन्दसे प्रकटित होनेके कारण श्रीगोविन्दके समानधर्मी हैं; अर्थात् मायातीत निर्मल तत्त्व हैं। त्रिगुणमयी मायामें जो सत्त्वगुण होता है, वह रजोगुण और तमोगुणसे मिश्रित होनेके कारण अशुद्ध सत्त्व है। ब्रह्मा—रजोगुण–मिश्रित स्वांशप्रभावविशिष्ट विभिन्नांश हैं तथा शम्भु—मायाके तमोगुण–मिश्रित स्वांश–विशिष्ट विभिन्नांश हैं। विभिन्नांश होनेका कारण यह है कि ये दोनों तत्त्व मायाके रजोगुण और तमोगुणसे मिश्रित होनेके कारण नितान्त अचित् अर्थात् जड़ होनेसे स्वयंरूप या तदेकात्म तत्त्वसे बहुत दूर फेंक दिये गये हैं। किन्तु मायाके सत्त्वगुणमें अवस्थित होने पर भी उनमें जो विशुद्ध–सत्त्वका अंश है, वह गुणावतार विष्णु मायिकगुणोंसे सर्वथा अतीत निर्मल विशुद्ध–तत्त्व है। इसलिए विष्णु पूर्णरूपसे स्वांश–विलास और महेश्वर–तत्त्व हैं; वे मायायुक्त नहीं, मायाके प्रभु हैं। विष्णुमें श्रीगोविन्दका अपनत्व भाव है। तदीय विलासमूर्त्ति श्रीनारायणमें श्रीगोविन्दका सम्पूर्ण ऐश्वर्य अर्थात् साठ गुण पूर्णरूपसे प्रकटित हैं। अतएव ब्रह्मा और शिव जिस प्रकारसे मायागुणमिश्र तत्त्व हैं तथा गुणावतार होने पर भी विष्णुके समान

निर्मल तत्त्व नहीं हैं; श्रीनारायणका कारणोदकशायी महाविष्णुरूपमें आविर्भाव, महाविष्णुका गर्भोदशायीरूपमें आविर्भाव तथा उनका क्षीरोदशायीरूपमें विष्णुका आविर्भाव ही चरिष्णुधर्मका उदाहरण है। जो सर्वत्र एक ही स्वरूपसे प्रकाशित होते हैं—उन्हें चरिष्णु कहते हैं। विष्णु ही ईश्वर हैं, इनके अतिरिक्त ब्रह्मा और महेश—दोनों गुणावतार, सारे देवता—उन विष्णुके ही अधीन आधिकारिक-तत्त्व हैं। मूल महाप्रदीप स्वरूप श्रीगोविन्दकी विलासमूर्त्तिसे प्रकटित कारणोदकशायी महाविष्णु, गर्भोदकशायी, क्षीरोदकशायी तथा श्रीराम आदि स्वांश-अवतार-समूह पृथक्-पृथक् वर्त्तिगत या दशान्तरगत प्रदीप स्वरूपमें श्रीगोविन्दकी चित्-शक्ति द्वारा नित्य विराजमान हैं।

श्लोक ४७

यः कारणार्णवजले भजति स्म योग-
निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः
आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्त्तिं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥४७॥

अन्वय—अनन्तजगदण्डसरोमकूपः (जिनके रोम-रोममें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं) आधारशक्तिम् (और आधार शक्तिस्वरूप) परां (श्रेष्ठ) स्वमूर्त्तिम् (अनन्त नामक अपनी मूर्त्ति विशेषका) यः (जो) अवलम्ब्य (आश्रय कर) कारर्णाणवजले (कारण समुद्रके जलमें) योगनिद्राम् (योगनिद्राका अर्थात् स्वरूपशक्तिका) भजति स्म (उपभोग करते हैं अर्थात् योगनिद्रामें शयन करते हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥४७॥

अनुवाद—आधार-शक्तिमय शेष नामक अपनी श्रेष्ठ मूर्त्तिका आश्रयकर जो अपने प्रत्येक रोमकूपमें अनन्त ब्रह्माण्डोंके साथ कारणवारिमें शयन करते हुये योगनिद्राका संभोग करते हैं, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥४७॥

टीका—अथ कारणार्णवशायिनं निरूपयति,—अनन्तजगदण्डैः सह रोमकूपाः यस्य सः सह-शब्दस्य पूर्वनिपाताभाव आर्षः। 'आधारशक्तिमयीं' परां स्वमूर्त्तिं शेषाख्याम्॥४७॥

टीकानुवाद—अनन्तर कारणाब्धिशायी विष्णुका तत्त्व वर्णन कर रहे हैं। जिनके असंख्य रोमकूपोंमें अनन्त करोड़ ब्रह्माण्ड अवस्थान करते हैं, जिनके

श्वाससे असंख्य-ब्रह्माण्डसमूह निकलते हैं और श्वास ग्रहण करते ही पुनः वे ब्रह्माण्डसमूह उन्हींमें प्रवेश कर जाते हैं। ऐसे महाविष्णु कारणवारिमें शयन करते हैं। यहाँ 'सहरोमकूपः'में 'सह'-शब्दका पूर्व-निपात न होना आर्षप्रयोग है। भगवान् शेष (अनन्तदेव)—उनकी आधारशक्तिमयी अपनी परामूर्त्ति हैं। उन्हींको शय्यारूपमें आश्रय कर वे योगमायाका संभोग करते हैं—शयन करते हैं॥४७॥

तात्पर्य—इस श्लोकमें महाविष्णुकी शय्यारूप अनन्तदेवके तत्त्वका वर्णन कर रहे हैं। कारणोदकशायी महाविष्णु जिस शय्याके ऊपर शयन करते हैं, वे श्रीअनन्तदेव—श्रीकृष्णके दास-तत्त्व 'शेष' नामक भगवदवतार हैं॥४७॥

श्लोक ४८

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य
जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥४८॥

अन्वय—अनन्तर महाविष्णुका स्वरूप वर्णन कर रहे हैं—यस्य एक निश्वसितकालम् (जिन महाविष्णुके एक निश्वास मात्र कालको) अवलम्ब्य (अवलम्बन कर) लोमविलजाः (लोमकूपसे प्रकटित) जगदण्डनाथाः (ब्रह्माण्डपतिगण अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिव) इह (अपने-अपने ब्रह्माण्डमें) जीवन्ति (जीवित रहते हैं अर्थात् प्रत्येक ब्रह्माण्डके अधिपतिगण अपने-अपने कार्योंके निमित्त प्रकट रहते हैं) सः (वे) महान् विष्णुः (वे कारणार्णवशायी महाविष्णु) यस्य (जिनके) कलाविशेषः (अंशके अंश विशेष हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥४८॥

अनुवाद—जिन महाविष्णुका एक निःश्वास बाहर निकलकर जितने समय तक वह बाहर स्थित रहता है, उनके रोम-कूपोंसे प्रकटित ब्रह्माण्डपति ब्रह्मादि उतने ही काल तक जीवित रहते हैं; वे महाविष्णु—जिनके कलाविशेष अर्थात् अंशके अंश हैं, उन आदिपुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥४८॥

टीका—तत्र सर्वब्रह्माण्डपालको यस्तवावतारतया महाब्रह्मादि-सहचरत्वेन तदभिन्नत्वेन च महाविष्णुर्दर्शितः; तत्र च तमप्येवं तल्लक्षणतया वर्णयति,—'तत्तज्जगदण्डनाथाः' विष्णवादयः 'जीवन्ति' तत्तदधिकारतया जगति प्रकटं तिष्ठन्ति॥४८॥

टीकानुवाद—अवतार प्रकरणमें जिन महाविष्णुका उल्लेख हुआ है, वे आप श्रीगोविन्दके अवतार (अंशके अंश कला) हैं, सारे ब्रह्माण्डोंके पालक हैं, महाब्रह्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ प्रजापति, गर्भोदशायी विष्णुके सहचर होते हुए भी उनसे अतिशय भिन्न हैं, उन्हींका स्वरूप यहाँ निर्णय किया जा रहा है। जिन महाविष्णुके एक निःश्वास-कालका अवलम्बनकर उनके रोमकूपोंसे प्रकटित असंख्य ब्रह्माण्डपति ब्रह्मा आदि जीवित रहते हैं अर्थात् पालनकर्त्ता विष्णु, सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा तथा संहारकर्त्ता शिव, अपने-अपने अधिकारमें अवस्थित रहते हैं—अपने-अपने निर्दिष्ट कार्यमें तत्पर रहते हुए इस जगतमें प्रकट रहते हैं। तदनन्तर वे पुनः उन्हीं महाविष्णुके निश्वासके साथ उन्हींमें प्रविष्ट हो जाते हैं। वे महाविष्णु—श्रीगोविन्दके अंशके अंश—कला हैं॥४८॥

तात्पर्य—इसमें विष्णुतत्त्वका महैश्वर्य दिखलाया गया है॥४८॥

श्लोक ४९

भास्वान् यथाश्मशकलेषु निजेषु तेजः
स्वीयं कियत् प्रकटयत्यपि तद्वदत्र।
ब्रह्मा य एष जगदण्डविधानकर्त्ता
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥४९॥

अन्वय—भास्वान् (सूर्य) यथा (जैसे) निजेषु अश्मशकलेषु (अपने नामसे प्रसिद्ध प्रस्तर खण्डोंमें अर्थात् सूर्यकान्त मणियोंमें) कियत् (कुछ परिमाणमें) स्वीयं तेजः (अपना तेज) प्रकटयति अपि (प्रकाश करते हैं और उसके द्वारा स्वयं दहन आदि कार्य करते रहते हैं) तद्वदत्र (उसी प्रकार इस प्राकृत सृष्टि व्यापारमें) यः एषः ब्रह्मा (जो अपने अंशसे या विशेष योग्य जीवमें स्वयं ब्रह्मा होकर) जगदण्ड विधानकर्त्ता (ब्रह्माण्डमें व्यष्टि सृष्टिकर्ता होते हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥४९॥

अनुवाद—जिस प्रकार सूर्य, सूर्यकान्त-मणियोंमें अपने बहुत ही थोड़ेसे तेजको प्रकटित कर उसे प्रदीप्त (दाहशक्ति प्रदान) करते हैं; उसी प्रकार ब्रह्माण्ड-सृजनकर्त्ता ब्रह्माको भी जो सृष्टिशक्ति प्रदान करते हैं, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥४९॥

टीका—तदेवं देव्यादीनां तदाश्रयकत्वं दर्शयित्वा प्रसङ्गसङ्गत्या ब्रह्मणश्च

दर्शयन्नतीव भिन्नतया जीवत्वमेव स्पष्टयति,—भास्वानिति। 'भास्वान्' सूर्य्यो यथा 'निजेषु' नित्यस्वीयत्वेन विख्यातेषु 'अश्मसकलेषु' सूर्य्यकान्ताख्येषु स्वीयं किञ्चित्तेजः प्रकटयति; 'अपि'—शब्दात् तेन तदुपाधिकांशेन दाहादिकार्य्यं स्वयमेव करोति, तथा य एव जीवविशेषे किञ्चित्तेजः प्रकटयति, तेन तदुपाधिकांशेन स्वयमेव ब्रह्मा सन् जगदण्डे ब्रह्माण्डे विधानकर्त्ता व्यष्टिसृष्टिकर्त्ता भवतीत्यर्थः; यद्वा, महाब्रह्मैवायं वर्ण्यते, तदुपलक्षितो महाशिवश्च ज्ञेयः; ततश्च जगदण्डानां विधानकर्त्तृत्वञ्च युक्तमेव। यद्यपि दुर्गाख्या माया कारणार्णवशायिन एव कर्म्मकरी, यद्यपि च ब्रह्मविष्णवाद्या गर्भोदकशायिन एवावतारास्तथापि तस्य सर्वाश्रयतया तेऽपि तदाश्रयितया गणिताः। एवमुत्तरत्रापि॥४९॥

टीकानुवाद—देव-देवियाँ सभी श्रीकृष्णके आश्रित हैं, स्वतंत्र नहीं हैं—उसे प्रदर्शित कर उसी प्रसंगमें ब्रह्माका स्वरूप भी निर्णय कर रहे हैं। 'भास्वान् यथाश्म' इस श्लोकके द्वारा ब्रह्मा—भगवत्तत्त्वसे अतीव भिन्न प्रचुर पुण्यसम्पन्न विभिन्नांश जीव हैं—इसका प्रतिपादन कर रहे हैं। जिस प्रकार सूर्य किञ्चित् परिमाणमें अपने तेजको सूर्यकान्त मणियोंमें प्रकट कर उसे प्रदीप्त करते हैं, उसी प्रकार भगवान् भी ब्रह्माण्ड सृजनकर्त्ता ब्रह्माको किञ्चित् परिमाणमें सृष्टि-शक्ति प्रदानकर उनके द्वारा जगतकी सृष्टि कराते हैं।

इस श्लोकमें 'अपि' शब्दके द्वारा उस मणिकी औपाधिक-अंश दाहिका शक्तिको समझना चाहिए। यह दाहिका शक्ति मणिकी नहीं है। क्योंकि मणि स्वयं किसीको भस्म नहीं कर सकती है। उसमें सूर्यकी किरणें किञ्चित् परिमाणमें प्रविष्ट होकर दूसरोंको भस्म कर सकती हैं, उसी प्रकार जीव-तत्त्व ब्रह्मामें भी भगवान्‌की शक्ति प्रकाशित होती है और उसीसे सृष्टिकी रचना होती है।

इसलिए यह दाह-कार्य जैसे सूर्यका है, वैसे सृष्टि-कार्य भी भगवान्‌का ही है। वह केवल मात्र ब्रह्माको निमित्त बनाकर ही होता है। इसलिए भगवान् किसी जीव विशेषमें अपना तेज प्रकट करते हैं तथा उसीसे सृष्टि कार्य करवाते हैं।

इस प्रकार भगवान् कभी-कभी स्वयं ही ब्रह्मा होकर जगदण्डरूप ब्रह्माण्डमें विधानकर्त्ता व्यष्टि सृष्टिकर्त्ता होते हैं। अथवा स्वयं महाब्रह्मा होकर सृष्टि आदिका कार्य करते हैं। उपलक्षणके द्वारा महाशिवको भी ग्रहण करना होगा अर्थात् कभी-कभी स्वयं भगवान् ही महाशिवके रूपमें प्रकट होकर

प्रलय आदि कार्योंको करते हैं। अतएव ब्रह्माण्डकी सृष्टि, स्थिति और पालन आदि विधानका मूल कर्त्तृत्व आपमें ही (श्रीगोविन्दमें) निहित है।

यद्यपि मायादेवी दुर्गा कारणाब्धिशायी विष्णुकी कार्यकारिणी–शक्ति हैं और ब्रह्मा, विष्णु आदि गर्भोदशायी विष्णुके ही अवतार हैं, फिर भी भगवान् श्रीकृष्ण समस्त अवतारोंके मूल अवतारी हैं। वे सबके आश्रय हैं और दूसरे सभी उनके आश्रित हैं।

इसी प्रकार आगे भी जिनका वर्णन होगा, वे सभी आश्रित–तत्त्व हैं॥४९॥

तात्पर्य—ब्रह्मा दो प्रकारके होते हैं। किसी कल्पमें उपयुक्त जीवमें भगवत् शक्तिका आवेश होनेपर वही जीव 'ब्रह्मा' होकर कार्य करते हैं और कभी–कभी किसी कल्पमें योग्य जीव न मिलनेपर तथा पहले कल्पके ब्रह्मा मुक्त हो जानेपर श्रीकृष्ण स्वयं अपनी शक्तिके विभाग द्वारा रजोगुणके अवतार ब्रह्माको प्रकट करते हैं।

तत्त्वतः ब्रह्मा—साधारण जीवोंसे अति श्रेष्ठ हैं। परन्तु उन्हें साक्षात् ईश्वर–तत्त्व नहीं कहा जा सकता है। दूसरी बात, यह भी स्मरण रखना होगा कि पूर्वोक्त शम्भुमें ब्रह्माकी अपेक्षा ईश्वरत्व अधिक परिमाणमें हैं। मूल तात्पर्य यह है कि 'ब्रह्मा' में जीवोंके पचास–गुण अधिक मात्रामें एवं उसके अतिरिक्त और भी पाँच गुण आंशिक मात्रामें हैं और शम्भुमें पचास गुण तथा इनके अतिरिक्त पाँच गुणोंका अंश भी तदपेक्षा अधिक परिमाणमें है॥४९॥

श्लोक ५०

यत्पादपल्लवयुगं विनिधाय कुम्भ–
द्वन्द्वे प्रणामसमये स गणाधिराजः।
विघ्नान् विहन्तुमलमस्य जगत्रयस्य
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥५०॥

अन्वय—सः गणाधिराजः (वे प्रसिद्ध विघ्नविनायक गणेश) प्रणाम समये (प्रणाम करते समय) यत् पाद–पल्लवयुगं (जिनके युगल चरणकमलोंको) कुम्भ द्वन्दे (अपने मस्तकके दोनों कुम्भों पर) विनिधाय (धारण करके ही) अस्य जगत्रयस्य (इस त्रिजगतके) विघ्नान् विहन्तुम् (विघ्न समूहको विनाश करनेमें) अलम् (समर्थ होते हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥५०॥

अनुवाद—सिद्धिदाता गणेश (गणपति) त्रिजगतके विघ्नोंको दूर करनेके उद्देश्यसे, उस कार्यहेतु शक्ति-सामर्थ्य पानेके लिए जिनके श्रीचरणकमलोंको अपने मस्तकके कुम्भयुगलके ऊपर सदैव धारण करते हैं, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥५०॥

टीका—अथ सर्वे सर्वविघ्ननिवारणार्थं प्रथमं गणपतिं स्तुवन्तीति तस्यैव स्तुतियोग्यतेत्याशङ्क्य प्रत्याचष्टे,—यत्पादेति। कैम्युतेन तदेव दृढ़ीकृतं श्रीकपिलदेवेन—"यत्पादनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन तीर्थेन मूर्द्धन्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्॥५०॥

टीकानुवाद—जगत्के अधिकांश लोग अपनी-अपनी विघ्न-बाधाओंको दूर करनेके लिए सर्वप्रथम विघ्न-विनायक गणेशजीकी पूजा करते हैं। वे लोग गणेशजीको ही मूलतः और स्वतंत्र ईश्वर मानकर उनका पूजन करते हैं। अतः आदि-पुरुषरूपमें श्रीगणेशजीकी पूजा होनी चाहिए अथवा नहीं—इस शंकाका समाधान 'यत्पादपल्लव' इस प्रस्तुत श्लोकमें कर रहे हैं। गणाधिराज विघ्नविनायक गणेशजी संसारकी विघ्न-बाधाओंके दूर करनेकी शक्ति पानेके लिए, स्वयं जिनके श्रीचरणकमलोंको अपने मस्तकके कुम्भ-युगलके ऊपर सदैव धारण करते हैं—जिनकी कृपासे ही गणेशजी सर्व-सिद्धियाँ प्रदान करते हैं अथवा अपने प्रणतजनोंकी विघ्न-बाधाओंको दूर करते हैं; यथार्थतः श्रीगोविन्दजी ही मूल सिद्धिदाता या विघ्न-विनाशक हैं; वे ही जगतके मूल आश्रय हैं; बुद्धिमान पुरुष उन्हींका आश्रय ग्रहण करते हैं। कैमुतिक-न्यायसे उक्त-सिद्धान्तको दृढ़ करनेके लिए श्रीमद्भागवतमें वर्णित कपिल-देवहूति संवादसे उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। भगवान् कपिलदेवने कहा है—

यत्पादनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।
ध्यातुर्मनः शमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्॥

(भा. ३.२८.२२)

अर्थात् जिनके चरणकमलके प्रक्षालन-वारिसे समुत्पन्ना सरित-प्रवरा भगवती गंगाका पवित्र जल मस्तकमें धारण करके शिवजी शिव-स्वरूप अर्थात् मङ्गलमय हुए हैं, जो व्यक्ति उन श्रीचरणकमलोंका ध्यान करते हैं, उनका समस्त कल्मष वैसे ही विध्वंस हो जाता है, जैसे वज्रके निक्षेपसे पर्वत टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। अतः निरन्तर उन भगवान्के श्रीचरणकमलोंका

ध्यान करना चाहिए।'

इस प्रकार जिनके श्रीचरणकमलोंकी कृपासे ही समस्त प्रकारके शक्ति–सामर्थ्य प्राप्त होते हैं, अन्यथा सबकुछ व्यर्थ हो जाता है, ऐसे मङ्गलमय भगवान् श्रीहरिका ध्यान करना चाहिए॥५०॥

तात्पर्य—श्रीगणेशजी—जगतके विघ्नोंके विनाशरूप कार्यके लिए भगवान्‌के अधिकार–प्राप्त एक विशेष अधिकारी हैं। वैसे अधिकारमें स्थित लोगोंके ही वे उपास्य हैं; यहाँ तक कि वे पञ्चदेवताओंके अन्तर्गत उपास्य सगुण–ब्रह्म माने जाते हैं। वे गणेश—एक शक्त्याविष्ट अधिकारिक देवता हैं। श्रीगोविन्दकी कृपासे ही उनकी सारी महिमाएँ प्रकटित हैं।॥५०॥

श्लोक ५१

अग्निर्मही गगनमम्बु मरुद्दिशश्च
कालस्तथात्ममनसीति जगत्रयाणि।
यस्माद्भवन्ति विभवन्ति विशन्ति यञ्च
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥५१॥

अन्वय—अग्निः (अग्नि), मही (पृथ्वी), गगनम् (आकाश), अम्बु (जल), मरुत् (वायु), दिशः च (और दिशाएँ), कालः (काल) तथा (और) आत्ममनसी (आत्मा और मन) इति (ये नौ पदार्थयुक्त) जगत्रयाणि (त्रिजगत) यस्मात् (जिससे) भवन्ति (उत्पन्न होता है) विभवन्ति (जिसमें स्थिति लाभ करता है) यं च (और जिनमें) विशन्ति (प्रलय कालमें प्रवेश कर जाता है), तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥५१॥

अनुवाद—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशाएँ, काल, मन और आत्मा—इन नौ पदार्थोंसे त्रिजगतकी सृष्टि हुई है; जिनसे ये उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिनमें स्थिति लाभ करते हैं, और प्रलयकालमें जिनमें प्रवेश कर जाते हैं, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥५१॥

टीका—तच्च युक्तमित्याह—अग्निर्महीति—सर्वं स्पष्टम्॥५१॥

टीकानुवाद—सबकुछ स्पष्ट है।

तात्पर्य—पञ्च महाभूत—पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश; दिशा, काल, जीवात्मा और बद्ध जीवोंके लिङ्ग–शरीररूप मन, बुद्धि, अहंकारात्मक मन तत्त्वके बिना जगतमें दूसरा और कुछ नहीं है। कर्मीजन यज्ञीय अग्निमें

हवन करते हैं; बहिर्मुख जीव इस परिदृश्यमान नौ तत्त्वविशिष्ट जगतके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं जानते हैं। शुष्क-ज्ञानी जिस आत्मारामताका अनुसन्धान करते हैं, जीव स्वयं ही वह आत्मा है। सांख्य जिसको प्रकृति कहते हैं, वह तथा सांख्यकी आत्मा भी इसीमें अवस्थित है, अर्थात् समस्त प्रकारके तत्त्ववादियोंके निर्दिष्ट तत्त्व—इन्हीं नौ तत्त्वोंके अन्तर्गत हैं। अतएव श्रीगोविन्द ही इन तत्त्व समुदायके जन्म, स्थिति और भङ्गके मूल कारण या स्थान हैं॥५१॥

श्लोक ५२

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां
राजा समस्तसुरमूर्त्तिरशेषतेजाः ।
यस्याज्ञया भ्रमति संभृतकालचक्रो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥५२॥

अन्वय—सकलग्रहाणां (सभी ग्रहोंके) राजा (अधिपति) समस्त सूरमूर्त्तिः (सारे देवताओंके अधिष्ठान-स्वरूप) अशेषतेजाः (और अति तेजस्वी) एषः सविता (ये सूर्यदेव) यस्य आज्ञया (जिनकी आज्ञाके अनुसार) सम्भृत कालचक्रः (कालचक्र धारण कर) भ्रमति (सर्वदा भ्रमण कर रहे हैं) यच्चक्षुः (और जो सूर्यदेवके भी चक्षुस्वरूप अर्थात् प्रकाशक हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥५२॥

अनुवाद—सारे ग्रहोंके राजा, अशेष तेजविशिष्ट देवमूर्त्ति सविता या सूर्यदेव—जो सारे जगतके नेत्र-स्वरूप हैं; वे जिनकी आज्ञासे काल-चक्र पर आरूढ़ होकर नियमितरूपसे परिभ्रमण करते हैं, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥५२॥

टीका—ननु केचित् सवितारं सर्वेश्वरं वदन्ति ? तत्राह,—यच्चक्षुरिति। य एव 'चक्षुः' प्रकाशको यस्य सः,—"यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥" इति श्रीगीताभ्यः, "भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः" इत्यादि श्रुतेः, विराड्रूपस्यैव सवितृचक्षुष्ट्वाच्च॥५२॥

टीकानुवाद—कतिपय व्यक्ति सूर्यदेवको ही सर्वेश्वर या आदिपुरुष कहते हैं। इस शंकाका समाधान करनेके लिए प्रस्तुत 'यच्चक्षुरेष' श्लोकमें सूर्य तत्त्वका विवेचन कर रहे हैं। यथार्थतः सारे ग्रहोंके राजा, अशेष तेज-विशिष्ट,

जगत्‌के चक्षु-स्वरूप सूर्यदेव—भगवान् श्रीगोविन्दके ही एक अधिकार प्राप्त देव-विशेष हैं; वे कोई पृथक् स्वतंत्र देवता नहीं हैं, श्रीगोविन्ददेवकी आज्ञानुसार ही वे काल-चक्र पर आरूढ़ होकर सदैव अपनी इस सेवामें तत्पर रहते हैं। श्रीगीतामें भी ऐसा ही कहा गया है—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।॥

(गी. १५.१२)

'जो तेज सूर्यमें स्थित होकर सम्पूर्ण जगतको प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमा एवं अग्निमें है, वह सारा मेरा ही तेज है।'

श्रुतियोंमें भी ऐसा ही वर्णन पाया जाता है—'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' अर्थात् मुझसे भयभीत होकर वायु चलता रहता है और मेरे भयसे सूर्य प्रकाशित होता है।

और भी, श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्॥

(भा. ३.२५.४२)

मेरे भयसे ही पवन प्रवाहित होता है, सूर्य मेरे भयसे ताप प्रदान करता है, इन्द्र मेरे भयसे वारि वर्षण करता है, अग्नि मेरे भयसे ही भस्मीभूत करती है, मृत्यु मेरे भयसे सर्वत्र घूमती-फिरती रहती है।

उसकी टीकामें—

इनमेंसे कोई यदि मेरे भक्तको किसी प्रकार कष्ट देता है तो मैं उनको अपने अधिकारसे हटानेमें विलम्ब नहीं करता हूँ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

भगवान् और उनके धामको सूर्य, चन्द्र, तारकायें, विद्युत् और अग्नि भी प्रकाशित नहीं कर सकते हैं; परन्तु उन्हींके प्रकाशसे ये समस्त प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार श्रुतियोंमें अनेक स्थलों पर विराट् पुरुषके चक्षुके रूपमें ही सूर्यका वर्णन पाया जाता है॥५२॥

तात्पर्य—बहुत-से वैदिक लोग सूर्यदेवको ब्रह्म मानते हैं तथा उनकी

ही पूजा करते हैं; पञ्चोपासनाके अन्तर्गत सूर्यदेव भी एक उपास्य देवता माने गये हैं। कुछ लोग तो उत्तापको ही जनक मानते हैं; उत्तापके भी आधार और जगत्‌के कारण होनेसे सूर्यदेवको ही आदि-पुरुष मानते हैं। ये लोग जो कुछ मानें, मानते रहें; यथार्थमें सूर्य—जड़-तेजःपुंज-विशिष्ट एक मण्डलके अधिष्ठातृ देवता हैं; अतएव एक आधिकारिक देवता हैं। वे सूर्यदेव भगवान् श्रीगोविन्दजीकी आज्ञानुसार ही अपनी सेवामें सदा तत्पर रहते हैं॥५२॥

श्लोक ५३

धर्मोऽथ पापनिचयः श्रुतयस्तपांसि
ब्रह्मादिकीटपतगावधयश्च जीवाः।
यद्दत्तमात्रविभवप्रकटप्रभावा
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥५३॥

अन्वय—धर्मः (पुण्यकर्म अर्थात् वेदोक्त वर्णधर्म और आश्रम धर्म) अथ (अथवा) पापनिचयः (पापसमूह) श्रुतयः (श्रुतिगण अर्थात् ऋक, साम, यजुः और अथर्व नामक चारों वेद और उनके शिरोभूषण उपनिषद समुदाय) तपांसि (तपस्या समूह) ब्रह्मादिकीट पतगावधयः जीवाः च (ब्रह्मासे प्रारम्भकर कीड़े-मकोड़ों तक जीवगण) यदत्त मात्रविभव प्रकटप्रभावाः (जिनके प्रदत्त वैभवसे अपना-अपना प्रभाव विस्तार करते हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥५३॥

अनुवाद—धर्म, अधर्म अर्थात् पापसमूह, श्रुतियाँ, तपःसमूह और ब्रह्मासे प्रारम्भकर कीड़े-मकोड़ों तक जीव समुदाय जिनके प्रदत्त वैभवसे ही अपने-अपने प्रभावका विस्तार करते हुए विद्यमान हैं, उन आदिपुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥५३॥

टीका—किं बहुना? धर्म्म इति।—"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।" इति श्रीगीताभ्यः॥५३॥

टीकानुवाद—अधिककी तो बात ही क्या? संसारमें जितने भी धर्म, अधर्म, प्राणी समुदाय हैं, वे सभी अपना-अपना जो प्रभाव या पराक्रम प्रकट कर रहे हैं, वे समस्त भगवान्‌के ही दिये हुए हैं। अन्यथा स्वतंत्र रूपमें किसीकी भी अपनी कुछ भी सामर्थ्य नहीं है, जो अपना प्रभाव दिखा सकें। गीतामें भी ऐसा ही कहा गया है—

'अहं सर्वस्व प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।' मैं ही सबकी उत्पत्तिका स्थल हूँ और मैं ही सबका प्रेरक हूँ॥५३॥

तात्पर्य—धर्म अर्थात् वेदोंमें कथित मानव कल्याणके लिए सदाचार, बीस–धर्म शास्त्रोंमें प्रकटित वर्ण–धर्म तथा आश्रमधर्म; उनमेंसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंका स्वाभाविक–धर्म ही 'वर्णधर्म' है तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—इन चारों आश्रमवासियोंका आश्रमोचित धर्म ही 'आश्रम–धर्म' है। इन्हीं दो प्रकारके धर्मोंमें ही मानवजातिके सब प्रकारके जीवनके सदाचारोंका निर्णय किया गया है। 'पाप समूह'का तात्पर्य—पापमूल अविद्या और पापवासना, महापातक, अनुपातक, पातकादि अर्थात् सब प्रकारके अवैध आचरण हैं। 'श्रुतिगण'से ऋक्, साम, यजु और अथर्व वेद तथा वेदका शिरोभाग उपनिषदोंको समझना चाहिए। 'तपः समूह'से धर्मको लक्ष्यकर जितने प्रकारके कठोर अभ्यास—क्लिष्ट साधनाओं आदिकी जो शिक्षाएँ धर्मशास्त्रोंमें उल्लिखित हैं, उनको समझना चाहिए; अनेक स्थलोंमें 'पञ्चतप' आदि क्रियाएँ बड़ी ही कठिन होती हैं; (अष्टाङ्गयोग और ब्रह्मज्ञान निष्ठा भी तदन्तर्गत व्यापार है।) ये सभी बद्ध जीवोंके कर्मचक्रके अन्तर्गत हैं।

बद्धजीव चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते हैं। वे देव, दानव, राक्षस, मानव, नाग, किन्नर और गन्धर्व आदिके भेदसे बहुत प्रकारके होते हैं। वे सारे जीव ब्रह्मासे लेकर क्षुद्रकीट तक अनन्त प्रकारके हैं। वे सभी कर्मचक्रमें भ्रमण करते हुए एक–एक प्रकारके विशेष वैभव(प्रभाव) को प्राप्त हैं अर्थात् कोई–कोई बड़े बलवान हैं, और कोई–कोई अलौकिक बुद्धिमान हैं; आदि। किन्तु उनके अपने विशेष प्रभाव स्वतःसिद्ध नहीं हैं। श्रीगोविन्ददेवने जिनको जितना वैभव या पराक्रम दिया है, उसीके अनुसार ही उनका प्रभाव दीख पड़ता है॥५३॥

श्लोक ५४

यस्त्विन्द्रगोपमथवेन्द्रमहो स्वकर्म
बन्धानुरूपफलभाजनमातनोति ।
कर्म्माणि निर्द्दहति किन्तु च भक्तिभाजां
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥५४॥

अन्वय—अहो (बड़े आश्चर्यका विषय है कि) यः तु (जो किन्तु) इन्द्रगोपम् (इन्द्रगोप नामक अति क्षुद्र रक्तवर्णका एक कीड़ेका) अथवा (अथवा) इन्द्रम् (देवराज इन्द्रको अर्थात् अति क्षुद्रजीवसे लेकर देवराज इन्द्र तक सभीको) स्वकर्मबन्धानुरूप फल भाजनम् आतनोति (स्व-स्व कर्म-बन्धनके अनुरूप फलभोगको देनेवाले हैं अर्थात् निरपेक्षरूपसे बद्ध जीवोंको उनके अपने पूर्व कर्मोंके अनुसार फल प्रदान करते हैं) किन्तु (परन्तु) भक्तिभाजां (अपने प्रति शुद्धभक्ति परायण भक्तोंके) कर्म्माणि (पूर्व-पूर्व कर्मफलोंको) निर्द्दहति च (निःशेष रूपसे अर्थात् सब प्रकारसे दग्ध कर देते हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥५४॥

अनुवाद—चाहे वह 'इन्द्रगोप' नामका क्षुद्र कीट हो या देवताओंके राजा इन्द्र हों, कर्म मार्गमें विचरण करनेवाले जीवोंके लिए जो पक्षपात रहित होकर उनके अपने-अपने कर्म बन्धनके अनुरूप फलको प्रदान करते हैं। परन्तु आश्चर्यका विषय यही है कि भक्तिमानजनोंके कर्मोंको सम्पूर्णरूपसे समूल ही दग्ध करते हैं, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥५४॥

टीका—तत्र तत्र सर्वेश्वरस्तु 'पर्ज्जन्यवद्द्रष्टव्यः' इति न्यायेन कर्म्मानुरूपफलदातृत्वेन साम्येऽपि भक्ते तु पक्षपातविशेषं करोतीत्याह, —यस्त्वेन्द्रेति। "समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ इति, "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥" इति च श्रीगीताभ्यः ॥५४॥

टीकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्ण सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सर्वेश्वरेश्वर हैं। वे जो कुछ उचित समझते हैं, वैसा ही वह विधान करते हैं; उनपर किसीका कुछ भी नहीं चलता है। वे मेघकी भाँति समदर्शी हैं। इस नियमके अनुसार श्रीकृष्ण भी निरपेक्ष फलदाता हैं अर्थात् वर्षाकालीन एक अतिशय क्षुद्र लालरंगके 'इन्द्रगोप' नामक कीड़ेसे लेकर स्वर्गाधिपति इन्द्र तक सबको

अपने–अपने भले–बुरे कर्मोंके अनुसार भला–बुरा फल प्रदान करते हैं; परन्तु अपने भक्तिपरायण अनन्य भक्तोंके कर्मों, कर्मफलों, कर्मवासना और अविद्या तकको भी समूल दग्ध कर देते हैं; उनका यह भक्तपक्षपातित्व बड़े ही आश्चर्यका विषय है। मेघके समान समदर्शी कहनेका यह गूढ़ तात्पर्य है कि जिस प्रकार मेघ कहीं पानी बरसाता है, कहीं नहीं भी बरसाता है, कहीं कम, कहीं अधिक बरसाता है; उस पर किसीका वश नहीं चलता, उसी प्रकार भगवान् समदर्शी होने पर भी निग्रह और अनुग्रह करनेमें सर्व–तन्त्र–स्वतंत्र सामर्थ्यवान पुरुष हैं। प्रस्तुत 'यस्त्विन्द्रगोप' श्लोकके द्वारा भगवान्के इसी विशेष गुणका वर्णन करते हैं।

जैसे गीतामें भी स्वयं भगवान्ने कहा है—

समोऽहं सर्व्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

'मैं समस्त प्राणियोंमें सम भाव–सम्पन्न हूँ। कोई भी मेरा शत्रु या मित्र नहीं है; परन्तु जो लोग भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ; और भी 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां' अर्थात् ऐसे अनन्य भक्तियोगसे मेरी उपसना करनेवाले अनन्य भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ, उनका सदैव संरक्षण भी करता हूँ।

कोई–कोई ऐसा कहते हैं कि भगवान् अपने भक्तोंको संसारसे मुक्ति दिलाकर अपने चरणोंकी प्रेममयी सेवा प्रदान करते हैं, परन्तु अपने अभक्तोंके लिए ऐसा नहीं करते हैं। इससे उनमें राग और द्वेषजनित विषमता है। परन्तु भगवान्में कदापि ऐसी विषमता नहीं है। क्योंकि भगवान् भक्तवत्सल हैं। भक्त–वात्सल्य भगवान्का एक विशेष गुण है। यह गुण उनका भूषण है, इसमें कोई दोष या विषमता नहीं है।

जैसे श्रीमद् भागवतमें वर्णन है—'तथापि भक्तं भजते महेश्वरः' (भा. ८.१६.१४) अर्थात् यद्यपि समस्त प्रजाएँ भगवान्से उत्पन्न हुई हैं और भगवान् उनके प्रति समभाव युक्त हैं, फिर भी अपने भक्तोंके प्रति भगवान्का विशेष अनुग्रह प्रकाशित होता है। जिस प्रकार भक्त, भगवान्के प्रति सर्वदा आसक्त रहता है, उसी प्रकार भगवान् भी भक्तके प्रति सर्वदा आसक्त रहते हैं; भक्त जैसे अपने प्रेमपाशसे भगवान्को बाँधकर अपने हृदयमें आबद्ध रखते हैं, वैसे ही भगवान् भी भक्तोंको अपने मधुर–गुणोंसे बाँध लेते हैं—

'विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः प्रणय-रसनया धृताङ्घ्रिपद्मः'। (११.२.५५)

और भी आदि पुराणमें कहा गया है—'अस्माकं गुरवो भक्ता भक्तानां गुरुवो वयम्। मद्भक्ता यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छामि पार्थिव।'

हे राजन्! भक्त मेरे गुरु हैं और मैं भक्तोंका गुरु हूँ, मेरे भक्त जहाँ जाते हैं, मैं भी वहीं जाता हूँ।

श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा ही कहते हैं—

सारथ्यपारषद्सेवनसौख्यदौत्य-
वीरासनानुगमन-स्तवन-प्रणामान् ।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिञ्च विष्णो-
र्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे॥

(श्रीमद्भा. १.१६.१६)

'समस्त जगतके प्राणी जिनको प्रणाम करते हैं, ऐसे श्रीकृष्ण प्रिय पाण्डवोंके सारथ्य (रथके सारथि), सभापतित्व, सेवा, सख्य, द्वारपालकी भाँति निशा (रात्रि) में तलवार लेकर द्वारकी रक्षा करते हुए, अनुगमन, स्तव और प्रणाम आदि करते हुए उन्होंने भक्त-वात्सल्य गुणोंको इस प्रकार प्रकट किया है कि गायोंके मुखोंसे यह समस्त संगीतके रूपमें सुनकर महाराज परीक्षितको श्रीकृष्णके चरणोंमें निरतिशय व्याकुलतापूर्ण भक्तिका उदय हुआ।'

इस प्रकार अक्रूरजीने कहा है—

न तस्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः॥

(श्रीमद्भा. १०.३८.२२)

यद्यपि श्रीकृष्णके प्रिय सुहृत् या अप्रिय द्वेष योग्य कोई नहीं है अथवा उपेक्षाका पात्र भी कोई नहीं है फिर भी कल्पवृक्षसे जो जैसी प्रार्थना करता है, वह वैसा ही फल प्राप्त करता है, वैसे श्रीकृष्णसे भी भजनके अनुरूप फल प्राप्त करता है।

कल्पवृक्षका आश्रय ग्रहण करनेवाला व्यक्ति ही फल प्राप्त करता है परन्तु दूसरेको नहीं। इससे कल्पवृक्षका कोई वैषम्य नहीं होता। वैसे भगवानका भी आश्रित और अनाश्रितके प्रति फल प्रदान करनेमें भेद रहनेपर भी कोई

वैषम्य नहीं है। फिर भी कल्पवृक्षसे भगवान्‌का वैशिष्ट्य अधिक है। जैसे कल्पवृक्ष किसी आश्रितके अधीन नहीं रहता है परन्तु भगवान आश्रित जनोंके अधीन बने रहते हैं।

भगवान सर्वत्र सम हैं—इस विषयमें श्रीमद्‌भागवतका वचन जैसे—

न तस्य कश्चिद्दयितः प्रतीपो न ज्ञाति बन्धुर्न परो न च स्वः।
समस्य सर्वत्र निरञ्जनस्य सुखे न रागः कुतः एव रोषः॥

(श्रीमद्भा. ६.१७.२२)

अर्थात् वे समस्त प्राणियोंमें सम, उनका प्रिय या अप्रिय कोई नहीं है, वे अनासक्त हैं, इसलिए विषय सुखमें अनुराग नहीं है तथा विषय सुखके प्रतिफलमें द्वेष नहीं है। यद्यपि जीवोंके कर्मानुयायी फलको प्रदान करते हुए किसीको सुख, किसीको दुःख, किसीको बन्धन और किसीको मोक्षरूप फल प्रदान करते हैं फिर भी उनमें राग और द्वेष जनित वैषम्यका प्रकाश नहीं होता है।

'तथापि तच्छक्ति विसर्ग एषां सुखाय दुखाय हिताहितायः'—अर्थात् भगवान् मूल कर्त्ता होनेपर भी स्वयं रूपमें वे जीवके सुख, दुःख, बन्धन, मोक्ष आदिके हेतु नहीं है।

जीवके कर्म अनुसार उसकी गुणमाया ही पाप पुण्य आदिकी सृष्टिकर जीवोंके जन्म-मृत्युका कारण बनती है। यह यद्यपि मायाका कार्य है, फिर भी उसे भगवान्‌का कार्य समझा जाता है। इसमें उनके वैषम्यकी कल्पना नहीं की जा सकती है। क्योंकि जीव अपने-अपने कर्मफलका भोग करता है। वैसे सूर्यका प्रकाश सबके लिए सुखदायी होनेपर भी उल्लूक और कुमुद आदिके लिए दुःखदायी है परन्तु सूर्यमें कोई विषमता नहीं देखता वैसे ही भगवान्‌की मायाके द्वारा जीव अपने कर्म अनुसार फल प्राप्त करता है तो इसमें भगवान्‌की कोई विषमता नहीं है।

भगवान् जीवोंको कर्मफल प्रदान करते हैं, यह साधारण नियम या विधि है परन्तु वे सर्वत्र सम होकर भी अपने भक्तजनोंके प्रति वात्सल्य प्रकट करते हैं—यह उनका कोई वैषम्य नहीं है।

भगवान् भक्तवत्सल हैं—यह सर्वत्र प्रसिद्ध है परन्तु वे ज्ञानी-वत्सल या योगी-वत्सल हुये—ऐसा कभी नहीं हुआ। यहाँतक कि वे किसी देवी भक्तवत्सल या देवता भक्तवत्सल भी नहीं हैं परन्तु वे स्वभक्त-वत्सल हैं।

इसलिए ब्रह्मसूत्रमें कहा है कि 'उपपद्यते च अपि उपलभ्यते च।'

(२.१.३६) अर्थात् भगवानका भक्तवात्सल्य गुण पक्षपातरूप वैषम्य युक्त है। भक्तोंके रक्षण आदि उनकी स्वरूपशक्तिकी वृत्तिसे होती है।

यह भक्त पक्षपातरूप वैषम्य—श्रीहरिके गुणोंके वर्णनमें पाया जाता है। अधिक क्या भगवानमें जितने भी गुण हैं, उनमेंसे भक्त पक्षपातरूप गुण समस्त गुणोंका भूषण है।

इस प्रकार प्रस्तुत श्लोककी टीकामें श्रीजीव गोस्वामीपादने गीताके दूसरे श्लोकको प्रस्तुत किया है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

इस श्लोकके द्वारा भगवान्ने स्वयं अपने अनन्य भक्तोंका वैशिष्ट्य वर्णन करते हुए कहा कि जो मेरे अनन्य भक्त हैं, वे केवलमात्र मुझको ही एकमात्र प्रयोजन समझकर अनन्य भावसे मेरे चिन्तन-परायण होते हैं अर्थात् मेरे बिना दूसरी अभिलाषाकी वस्तु या भजनीय दूसरे किसी देवताका आश्रय न लेकर अनन्त कल्याण गुणोंके आकर, अद्भुत लीलामृतके सार—मेरे चरणोंमें आश्रय लेकर एक निष्ठाके साथ भजन करते हैं, ऐसे भक्तोंको अपनी देहयात्रा आदिके निर्वाहके लिए स्मरण भी नहीं रहता है, इसलिए उनके योगक्षेम अर्थात् भोजनादिका संग्रह तथा संरक्षण मैं ही करता हूँ।

यहाँ श्लोकमें 'करोमि' न कहकर 'वहामि' कहनेका तात्पर्य यह है कि उन अनन्य भक्तोंके पालनका भार मेरे ऊपर ही होता है; जैसे गृहस्थ व्यक्ति अपने कुटुम्बका भरण-पोषण स्वयं करता है।

भक्तोंका पालन-भार भगवान् स्वयं स्वेच्छासे करते हैं और सृष्टि आदि कार्य उनके संकल्प मात्रसे ही सिद्ध होता है। इसलिए उनके लिए यह कोई भार नहीं है।

जैसे पुरुष अपने भोग्या कान्ताका पालन करता है, उससे उसे सुख अनुभव होता है, वैसे भगवान भक्तोंका पालन करते हुये सुख अनुभव करते हैं।

इस विषयमें वेदान्त सूत्र जैसे—'स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः' (३.४.४४)

निरपेक्ष भक्त अपने प्रयत्नसे या परमेश्वरके प्रयत्नसे अपनी देहयात्रा निर्वाह करते हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा—भक्तके लिए भगवान प्रयत्न करें, ऐसा भक्त भी नहीं चाहता है। अतएव भक्त अपने प्रयत्नसे ही निर्वाह करते हैं।

यद्यपि भगवान् स्वयं भक्तोंका पालन करते हैं, फिर भी तैत्तरीय उपनिषद्की फलश्रुतिको देखकर आत्रेय मुनिने कहा—सर्वेश्वर भगवानसे ही भक्तोंकी देहयात्राका निर्वाह होता है। मत्स्य, कूर्म और विहङ्गमगण—दर्शन, चिन्तन और स्पर्शके द्वारा अपने–अपने सन्तानोंको जैसे पालन करते हैं। वैसे मैं भी अपने भक्तोंका पालन करता हूँ।

ऐसे अनन्य भक्तोंको मेरे धामकी प्राप्ति करानेका दायित्व मेरा है, दूसरे अर्चिरादि देवताओंको नहीं है। 'विशेषं च दर्शयति'—इस सूत्रमें जो लोग निरपेक्ष परम आर्त्त हैं, ऐसे भक्तोंको भगवान बिना किसी विलम्बके अतिशीघ्र अपने धामको प्राप्त कराते हैं।

यही भगवानकी विशेष व्यवस्था है। वराह पुराणमें भी पाया जाता है—

नयामि परमं स्थानमर्च्चिरादि गतिं विना।
गरुडस्कन्धमारोप्य यथेच्छमनिवारितः॥

अर्थात् अर्च्चिरादि गतिके बिना निरपेक्ष भक्तोंको गरुड़के स्कन्धमें आरोहण कराकर यथेच्छ और अबाध रूपसे मैं परम धाममें उपस्थित कराता हूँ।

इसलिए भगवान स्वयं अनन्य भक्तोंका योगक्षेम वहन करते हैं अर्थात् अन्य किसीसे नहीं करवाते हैं। इसमें उनको कोई भार बोध नहीं होता है परन्तु भक्त वात्सल्य हेतु उनको यह अत्यन्त सुखद होता है। क्योंकि अनन्य भक्तगण उनके अतिशय प्रिय हैं॥५४॥

तात्पर्य—ईश्वर समदर्शी हैं। वे पक्षपातरहित होकर बद्धजीवोंके पूर्वानुष्ठित कर्मानुसार ही उनको उत्तरकालीय कर्म–प्रवृत्ति प्रदान करते हैं; फिर भी भक्तोंके प्रति विशेष कृपापूर्वक उनकी कर्मवासना और अविद्याको तथा उसके साथ ही उनके धर्माधर्म सम्बन्धी सारे कर्मोंको भी सम्पूर्ण रूपसे दग्ध कर देते हैं।

कर्म अनादि होनेपर भी विनाशशील है। जो लोग कर्मफलकी आशासे कर्म करते हैं, उनका कर्म अक्षय होता है, वह कभी भी विनाश नहीं होता। संन्यास–धर्म भी एक प्रकारका आश्रमोचित कर्म ही है; उसमें मोक्षकी अभिलाषारूप फल–कामना रहनेके कारण वह श्रीकृष्णको प्रीतिकर नहीं होता; वे लोग भी कर्मानुसार फल प्राप्त करते हैं; नितान्त निष्काम होनेपर भी आत्मारामतारूप तुच्छ फलको ही प्राप्त होते हैं। किन्तु शुद्धभक्त अन्याभिलाषिताशून्य होकर ज्ञान–कर्मादि स्वतन्त्र चेष्टाओंका सर्वथा परित्याग करके आनुकूल्य भावके साथ निरन्तर श्रीकृष्णाका अनुशीलन करते हैं।

श्रीकृष्ण ऐसे अनन्य भक्तोंके समस्त कर्म, कर्मवासनाओं तथा अविद्याको सम्पूर्णरूपसे दग्ध कर देते हैं। निरपेक्ष होकर भी श्रीकृष्णका यह भक्तपक्षपातित्व आश्चर्यका विषय है॥५४॥

श्लोक ५५

यं क्रोधकामसहजप्रणयादिभीति–
वात्सल्यमोहगुरुगौरवसेव्यभावैः ।
सञ्चिन्त्य तस्य सदृशीं तनुमापुरेते
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥५५॥

अन्वय—क्रोधकामसहजप्रणयादिभीतिवात्सल्यमोहगुरुगौरवसेव्यभावैः (शत्रुता-भावके कारण शिशुपाल आदिका श्रीकृष्णके प्रति क्रोध, कृष्ण प्रीतिवाञ्छामूलक गोपियोंका काम अर्थात् मधुर भाव या प्रेम, श्रीदाम सुबलादि सखाओंका श्रीकृष्णके प्रति सहज प्रणयादि अर्थात् सख्यभाव, कृष्ण द्वारा निहत होऊँगा—इस दुश्चिन्तासे कंस आदिका सदैव भय, नन्द-यशोदा आदिका श्रीकृष्णके प्रति वात्सल्य, मायावादियोंका मोह अर्थात् सर्वविस्मरण मयभाव—अपनेको ब्रह्मरूपमें सायुज्य मुक्तिका चिन्तन, शान्तरसके सेवकोंका गुरु-गौरव भाव, दास्यरसके सेवकोंकी सेवा अर्थात् दास्य-भाव—इन भावोंके द्वारा) यं सञ्चिन्त्य (जिनका निरन्तर चिन्तन कर) एते (ये सभी) तस्य सदृशीं तनुं (उन भगवान्के सदृश देह वाले अर्थात् क्रोध, भय और मोह-आवेशयुक्त पुरुषगण चिन्मयत्व मात्र अंशमें सायुज्य और दूसरे अर्थात् शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रसके सेवक-सेविकाएँ ये अपनी-अपनी भावनाके अनुरूप रूप गुणके तारतम्य तुल्य देहको) आपुः (प्राप्त करते हैं) तम् (उन) आदिपुरुषं (आदिपुरुष) गोविन्दम् (श्रीगोविन्दका) अहं (मैं) भजामि (भजन करता हूँ)॥५५॥

अनुवाद—काम, क्रोध, सख्यरूप सहज प्रणय, भय, वात्सल्य, मोह, गुरुगौरव और सेव्यभावद्वारा जिनका चिन्तन करते हुए अनुशीलन करनेवाले अपनी-अपनी भावनाके अनुरूप रूप, गुणके तारतम्यसे तुल्य देहको (परिकर-देह) प्राप्त करते हैं, उन आदिपुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥५५॥

टीका—स एव च स्वयन्तु वैरिभ्योऽप्यन्यदुर्ल्लभफलं ददाति, किमुत

स्वविषयक–कामादिना निष्कामश्रेष्ठेभ्यः। ततः को वान्यो भजनीय इति? भजामीत्यन्तप्रकरणमुपसंहरति,—यं क्रोधेति। 'सहजप्रणयः' सख्यम्; 'वात्सल्यं' पित्र्याद्युचितभावः; 'मोहः' सर्वविस्मरणमयो भावः, परब्रह्मतया स्फूर्त्तिः; 'गुरुगौरवं' स्वस्मिन् पितृत्वादिभावनामयम्; सेव्यभावः 'सेव्योऽयं ममेति भावना, दास्यमित्यर्थः। 'तस्य सदृशीं' क्रोधावेशिनो प्राकृततत्वमात्रांशैर्नान्येषु तु तत्तद्भावना–योग्य– रूपगुणांश–लाभतारतम्येन तुल्यमित्यर्थः। "अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्य्यगुणैः समम्" इति श्रीवसुदेववाक्यस्य, "जगद्व्यापारवर्ज्जम्" इति ब्रह्मसूत्रस्य, "प्रयोज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्" इति नारदवाक्यस्य च दृष्ट्या सर्वथा तत्सदृशत्वाविरोधात्, "वैरेण यं नृपतयः" इत्यादौ "अनुरक्तधियां पुनः किम्" इत्यनुरक्तधीषु स्तुत्वा तेन विशिष्टं स्वतस्त्विति प्राप्ते तेष्वपि तत्तदनुरागतारतम्येनापि तत्तारतम्यं लभ्यत इति। अनेन गोलोकस्थ–प्रपञ्चावतीर्णयोरेकत्वमेव दर्शितम्; तदुक्तं—"नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा" इत्यादि॥५५॥

टीकानुवाद—स्वयं–भगवान् श्रीकृष्ण ही फलदाता हैं। वे सबको यथायोग्य फल प्रदान करते हैं। दूसरोंके दिये हुए फल नश्वर होते हैं; परन्तु उनका दिया हुआ फल कभी नश्वर नहीं होता। भगवान् नित्य हैं, उनके भक्त भी नित्य हैं; उनकी भक्ति और भक्ति–फल भी नित्य हैं। जो प्रभु जब अपने विरोधी शत्रुओंको भी योगियोंके लिए भी परम दुर्लभ फलको प्रदान करते हैं, तब कैमुतिक न्यायानुसार श्रेष्ठ निष्काम योगियोंकी अपेक्षा भी परम श्रेष्ठ परमासक्तिपूर्वक नैरन्तर्यमयी अनुकूल कृष्णानुशीलन करनेवाले अपने भक्तोंको, वे सर्वोत्तम फल प्रदान करेंगे ही, इसमें बात ही क्या है। ऐसे परम उदार प्रभु श्रीकृष्णको छोड़कर कौन बुद्धिमान व्यक्ति दूसरे किसी देवी–देवता आदिका भजन करेगा? ऐसा कहकर 'उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका भजन करता हूँ'—इस प्रकरणको 'यं क्रोधकाम'—श्लोकके द्वारा समाप्त करते हैं। 'क्रोध' आदिसे भय, द्वेष और क्रोध भी ग्रहण करना चाहिए। कंस, शिशुपाल आदिकी भाँति भक्ति–प्रतिकूल इन भावोंके द्वारा भी भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रति आविष्ट होने पर उन्हें सद्गति प्रदान करते हैं। अहो! परमोदार दयालदाता श्रीकृष्णने बालघाती, रक्तपान करनेवाली राक्षसी पूतनाको भी माताका वेश धारण करनेके कारण गोलोकमें धात्री–उचित गति, वृषभासुर तथा केशी दैत्यको भी गोलोक ब्रजमें गाड़ी खींचनेवाले बैलों जैसी गति, दुष्ट कालीयनागको भी गोलोक ब्रजमें अपने जलविहारके लिए

उपयुक्त नौकासदृश गति प्रदान की है। दूसरे-दूसरे भगवदवतार हतारिगतिदायक होने पर भी उन्होंने असुरोंका संहारकर उनको स्वर्गसुख, भोग-वैभव आदि तो प्रदान किया है, किन्तु उनको मुक्ति तक प्रदान नहीं की है।

क्रोध—शत्रुभाव है; स्वाभाविक प्रणय—सख्य भाव है; काम—शृंगार या मधुर भाव है; माता-पिताका स्नेह—वात्सल्य भाव है; गुरुतुल्य गौरवकी बुद्धि—शान्त भाव है, सेव्य अर्थात् सेवनीयकी भावना रखना—दास्य भाव है; तथा मोह अर्थात् सर्वविस्मरणमय अपनेमें ब्रह्मकी स्फूर्ति—यह निर्विशेष ज्ञानवादियोंका—ब्रह्ममय भाव है। इन्हीं भावोंके सदृश तनु प्राप्तिका तात्पर्य यह है कि साधनके समय इन भावोंमें आविष्ट रहनेसे सिद्धि होने पर उन-उन भावोंके अनुसार भगवत्-परिकरों जैसा तनु (देह) प्राप्त कर भगवत्सेवामें तत्पर हो जाते हैं। क्रोधाविष्ट व्यक्तिके लिए अप्राकृत विषयमें आविष्ट होनेसे उस अप्राकृत अंशमें ही सायुज्य-मुक्ति होती है; उससे भिन्न शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार भाववाले व्यक्तियोंके लिए उन-उन भावनाओंके योग्य रूप-गुणोंके अंश प्राप्तिके तारतम्यसे ही तुल्य तनुकी प्राप्ति होती है। इस विषयमें श्रीवसुदेवजीका कथन ही प्रमाण है—'अदृष्टान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः (श्रीमद्भा.१०/३/४१) अर्थात् मैंने पूर्वजन्ममें आपसे आपके जैसा ही सर्वगुण-सम्पन्न पुत्र-वर माँगा था, परन्तु आपने कहा था कि मेरे समान सर्वगुण सम्पन्न कोई भी दूसरा नहीं है या नहीं हो सकता है, अतः मैं ही तुम्हारे पुत्ररूपमें अवतरित होऊँगा। अतएव किसी भी जीवके लिए भगवान् जैसा सर्वसद्गुणोंसे सम्पन्न भगवत् तनु नहीं—आंशिक सद्गुणोंसे युक्त परिकर देहसे ही यहाँ 'सदृशी तनु'का तात्पर्य है।

ब्रह्मसूत्रमें भी ऐसा ही कहा गया है—'जगद्व्यापार वर्ज्जम्'—अर्थात् जीवोंके लिए जगतकी सृष्टि, स्थिति और संहारकार्य संभव नहीं है; यह कार्य एकमात्र ब्रह्म द्वारा ही संभव है। भगवान्का यह गुण जीवमें संभव नहीं है। श्रीनारदजीने भी कहा है—'प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भगवतीं तनुं' (श्रीमद्भा.१/६/२९) अर्थात् मेरी आराधना परिपक्व होने पर भगवान्ने अनुग्रहपूर्वक मुझे 'शुद्धां भगवतीं तनुं' अर्थात् शुद्ध पार्षद-देह प्रदान किया; मेरा पाञ्चभौतिक शरीर यहीं पड़ा रहा। मैं उस चिन्मय पार्षद शरीरसे भगवद्धाममें चला गया। इस कथनका भी यही निष्कर्ष है कि सबप्रकारसे भगवान्के सदृश कोई भी दूसरा नहीं है या कोई भी कभी नहीं हो सकता है।

'वैरेण यं नृपतयः' (श्रीमद्भा. ११/५/४८) अर्थात् शिशुपाल और दन्तवक्र

आदि राजाओंने जब वैरभावसे उन भगवान्‌को प्राप्त किया है, तब 'अनुरक्तधियां पुनः किं' प्रबल अनुरागके द्वारा अनन्य प्रेमीभक्त उनको क्यों नहीं प्राप्त करेंगे अर्थात् अवश्य ही प्राप्त करेंगे—इसमें कहना ही क्या है?

यद्यपि क्रोध, वैरभाव या द्वेषभाव, शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार—इनमेंसे किसी भावसे श्रीकृष्णमें आविष्ट होने पर उनकी प्राप्ति तो होती है, किन्तु जिस प्रकार वैरभाव और अनुरक्त भावमें अन्तर है, उसी प्रकार उनकी प्राप्तिमें भी अन्तर होता है। साधकोंके प्रेम या अनुरागके तारतम्यसे ही उनको श्रीकृष्णका परिकरत्व प्राप्त होता है। सर्वोत्तम-प्राप्ति तो सर्वोत्तम अनुरक्तजनोंको ही प्राप्त होती है। इस विवरणसे यह सिद्ध है कि गोलोकस्थित परिकरों और गोलोकसे भौमवृन्दावनमें अवतीर्ण परिकरोंमें कोई भेद नहीं है। दोनों अभिन्न हैं। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा ही कहा गया है—'नन्दादय तं दृष्ट्वा' अर्थात् श्रीनन्दाादि ब्रजवासीजन ब्रह्मह्रदमें गोलोकका वैभव देखकर आनन्दसे विस्मित हो गये थे। इसके द्वारा गोलोक और भौमवृन्दावनका एकत्व प्रतिपादित हुआ॥५५॥

तात्पर्य—भक्ति दो प्रकारकी होती है—वैधी और रागानुगा। शास्त्र और गुरूपदेशके माध्यमसे अल्पपरिमाणमें जो श्रद्धामूलक भक्ति उत्पन्न होती है, वह शास्त्र-विधियोंके पालनरूप बन्धनके कारण धीरे-धीरे अति विलम्बसे विकसित होती है—साधुसंगमें हरिकथा श्रवण, कीर्तन और स्मरण रूप कृष्णानुशीलनके द्वारा, वह निष्ठा, रुचि, आसक्ति तथा भावके रूपमें परिणत होती है; भाव उदित होने पर साधक भक्त श्रीकृष्णकी कृपाका पात्र हो सकता है। इस प्रक्रियामें भावावस्था तक पहुँचनेमें बहुत विलम्ब होता है। इसीको वैधी भक्ति कहते हैं।

रागात्मिका भक्ति—शीघ्र ही फलदेनेवाली तथा श्रीकृष्णको आकर्षण करनेवाली होती है; अतएव श्रेष्ठ है। इसका स्वरूप क्या है? किन-किन रूपोंमें दृष्टिगोचर होती है, इस प्रस्तुत श्लोकमें उसका वर्णन किया गया है। गुरु-गौरव शान्तभाव, सेव्यगत दास्यभाव, सहजप्रणयगत सख्यभाव, वात्सल्यभाव और कामगत मधुरभाव—ये कतिपय भाव रागात्मिक भक्तिके अन्तर्गत हैं। क्रोध, भय और मोह—ये रागात्मिक होने पर भी भक्तिके अन्तर्गत नहीं हैं; शिशुपाल आदि असुरोंका 'क्रोध', कंस आदिका 'भय' और मायावादी पण्डितोंका 'मोह' देखा जाता है। क्रोधरूप रागचेष्टा, भयरूप रागचेष्टा और सर्वविस्मरणमय अपनेमें ब्रह्मस्फूर्त्तिरूप रागचेष्टा, सबकुछ उनमें है आवेश

है; परन्तु उन भावोंमें श्रीकृष्णके प्रति अनुकूलता न होनेके कारण 'भक्तित्व' नहीं है। पुनः शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरमें शान्तभावमें अधिकतर उदासीनता रहनेके कारण, राग—लुप्तप्राय रहता है, फिर भी कुछ-कुछ अनुकूलता रहनेसे उसे भक्तिके अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। उसके अतिरिक्त अन्यान्य चार भावोंमें प्रचुर रूपसे राग देखा जाता है। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'—गीताके उक्त श्लोकके अनुसार क्रोध, भय और मोहरूप रागके अनुशीलनकारियोंको सायुज्यरूप मोह प्राप्त होता है। शान्तमें ब्रह्म परमात्मपरता रूप देहकी प्राप्ति होती है; जैसे सनक-सनातन आदि चारकुमारों और शुकदेव गोस्वामीका देह है। दास्य और सख्यमें अधिकार भेदसे यथायोग्य पुरुष या स्त्रीका देह (तनु) प्राप्त होता है; वात्सल्यमें माता-पिताके भावोपयोगी तनु तथा श्रृंगारमें विशुद्ध गोपी-तनुकी प्राप्ति होती है॥५५॥

श्लोक ५६

श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो
द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम्।
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी
चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च॥
स यत्र क्षीराब्धिः स्त्रवति सुरभीभ्यश्च सुमहान्
निमेषार्द्धाख्यो वा व्रजति न हि यत्रापि समयः।
भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यं
विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये॥५६॥

अन्वय—यत्र(जहाँ) श्रियःकान्ताः (परम लक्ष्मी स्वरूपा श्रीकृष्ण-प्रेयसी श्रीब्रजसुन्दरियाँ ही कान्ताएँ हैं), कान्तः परमपुरुषः (परमपुरुष स्वयं-भगवान् श्रीगोविन्द ही एकमात्र कान्त हैं), द्रुमाः कल्पतरवः (वहाँके वृक्षसमूह सबको सबकुछ देनेमें समर्थ कल्पवृक्ष हैं), भूमिः चिन्तामणि गणमयी (भूमि चिन्तामणि गणमयी अर्थात् तेजोमयी और मनोवाञ्छित अर्थको देनेवाली है), तोयम् अमृतम् (जल अमृत तुल्य सुस्वादु है), कथा गानं (कथा ही गान है), गमनम् अपि नाट्यम् (गमन ही नृत्य है), वंशी-प्रियसखी (वंशी ही प्रिय सखीकी भाँति प्रिय कार्य करनेवाली है), चिदानन्दं ज्योतिः (चिदानन्दस्वरूप वस्तु ही ज्योति है अर्थात् वहाँकी सारी वस्तुएँ चन्द्र-सूर्यकी भाँति सभी वस्तु-प्रकाशक हैं), तदेव परम् अपि (वे-वे प्रकाश्य वस्तुएँ भी चिदानन्दस्वरूप ही होती हैं) तत् आस्वादनम् अपि च (और वे ही वहाँके सभीके आस्वादनीय अर्थात् भोग्य हैं), सुरभीभ्यः च (तथा करोड़ों-करोड़ों सुरभी-गायोंके थनसे श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि आदिके आवेशसे स्वतः झरते हुए दुग्धसे) सः सुमहान् क्षीराब्धिः (वह महाक्षीरसमुद्र) स्त्रवति (निरन्तर स्त्रावित हो रहा है अर्थात् प्रवाहित हो रहा है), यत्र (जहाँ) निमेषार्द्धाख्य समयः अपि न हि ब्रजति (निमेषका अर्द्ध भाग समय भी बीतता नहीं है अर्थात् भूत और भविष्य रूप खण्डरहित अखण्ड चिन्मयकाल नित्य वर्त्तमान रहता है) वा (अथवा) वहाँ जागतिक कालका भी कोई प्रभाव नहीं होता) यं इह गोलोकम् इति (और जिसको इस ब्रह्माण्डमें अवतीर्ण गोलोक कहकर) क्षितिविरलचाराः (जड़ जगतमें अति अल्प संख्यक) कतिपय वे सन्तः विदन्तः (कतिपय भगवन्निष्ठ वैष्णव सन्तजन ही जानते हैं), तम् श्वेतद्वीपं अहम् भजे (उन श्वेतद्वीप नामक धामका मैं भजन करता हूँ)॥५६॥

अनुवाद—जहाँ अप्राकृत लक्ष्मीगण कान्ताएँ हैं, परमपुरुष श्रीकृष्ण ही एकमात्र कान्त हैं, वृक्षमात्र ही चिन्मय-कल्पतरु हैं, भूमिमात्र ही चिन्तामणि अर्थात् चिन्मय मणियाँ हैं, जलमात्र ही अमृत है, कथामात्र ही संगीत है, गमनमात्र अर्थात् चलना-फिरना ही नृत्य है, वंशी—प्रियसखी है, ज्योति-चिदानन्दमय है, परम-चित्पदार्थमात्र ही आस्वादनीय या भोग्य है, जहाँ करोड़ों-करोड़ों सुरभी-गायोंसे चिन्मय महाक्षीरसमुद्र निरन्तर प्रवाहित होता रहता है, वहाँ भूत और भविष्यत् रूप कालका खण्डत्व नहीं है—अखण्ड नित्यकाल वर्त्तमान है। अतएव वहाँ निमेषार्द्ध काल भी अतीत नहीं होता। उसी श्वेतद्वीपरूप परमपीठका मैं भजन करता हूँ। उसी धामको इस जगत्में कोई-कोई विरले अल्पसंख्यक साधुजन ही गोलोक नामसे परिज्ञात हैं॥५६॥

टीका—तदेवं निजेष्टदेवं भजनीयत्वेन स्तुत्वा तेन विशिष्टं तल्लोकं तथा स्तौति,—श्रिय कान्ता इति युग्मकेन। 'श्रियः' श्रीव्रजसुन्दरीरूपास्तासामेव मन्त्रे ध्याने च सर्वत्र प्रसिद्धेः। तासामनन्तानामप्येक एव 'कान्तः' इति परम-नाराणादिभ्योऽपि तस्य, तत्तल्लोकेभ्योऽपि तदीयलोकस्य चास्य, माहात्म्यं दर्शितम्। 'कल्पतरवो द्रुमाः' इति—तेषां सर्वेषामेव सर्वप्रदत्वात्तथैव प्रथितम् तद्वत् 'भूमिः' इत्यादिकञ्च भूमिरपि सर्वस्पृहां ददाति, किमुत कौस्तुभादि। 'तोयम्' अप्यमृतमिव स्वादु, किमुतामृतमित्यादि। 'वंशी' प्रियसखीति सर्वतः श्रीकृष्णस्य सुखस्थितिश्रावकत्वेन ज्ञेयम्। किं बहुना? 'चिदानन्द' लक्षणं वस्त्वेव 'ज्योति'श्चन्द्रसूर्य्यादिरूपम्;'समानोदितचन्द्रार्कम्' इति वृन्दावनविशेषणं गौतमीयतन्त्रद्वये; तच्च नित्यपूर्णचन्द्रत्वात्तथा तदेव परमपि तत्तत्प्रकाश्यमपीत्यर्थः। तथा तदेव तेषाम् 'आस्वाद्यं' भोग्यमपि च चिच्छक्तिमयत्वादिति भावः—"दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्" इति श्रीदशमात्। 'सुरभीभ्यश्च स्रवतीति तदीयवंशीध्वन्याद्यावेशादिति भावः। 'व्रजति नहि' इति तदावेशेन ते तद्वासिनः' कालमपि न जानन्तीति भावः; कालदोषास्तत्र न सन्तीति वा;—"न च कालविक्रमः" इति द्वितीयात्। अतएव 'श्वेतं' शुद्धं 'द्वीपम्' अन्यसङ्गरहितं, "यथा सरसि पद्मं तिष्ठति तथा भूम्यां हि तिष्ठति" इति तापनीभ्यः। क्षितीति,—तदुक्तं—"यं न विद्मो वयं सर्वे पृच्छन्तोऽपि पितामहम्" इति॥५६॥

टीकानुवाद—इस प्रकारसे ब्रह्माजी स्तुतिके माध्यमसे अपने इष्टदेवकी महिमा और वे ही एकमात्र सर्वश्रेष्ठ भजनीय हैं, वर्णन करके इष्टदेवके सहित सुशोभित उनके लोकका स्तव प्रस्तुत युग्म श्लोकों द्वारा कर रहे हैं। यहाँ 'श्रियः'-शब्दसे ब्रजसुन्दरियोंका बोध होता है। वे महालक्ष्मी-स्वरूपा

और गोलोकपति श्रीकृष्णकी कान्ताएँ हैं; उनके मंत्र और ध्यानमें ही ऐसा वर्णन है। 'कान्तः'—इस एक वचनान्त पदका तात्पर्य यह है कि उन असंख्य ब्रजसुन्दरियोंरूप कान्ताओंके केवल मात्र एक श्रीकृष्ण ही कान्त हैं। अतएव महानारायण आदिसे भी श्रीगोविन्दकी श्रेष्ठता तथा महावैकुण्ठ आदि धामोंसे भी गोविन्दधाम श्रीगोलोकका माहात्म्य अधिक है।

[महावैकुण्ठमें महालक्ष्मीजी महानारायणकी महैश्वर्य–बुद्धिसे निरन्तर सेवा करती हैं, महानारायण भी उनकी सेवा–ग्रहणकर उन पर प्रचुर अनुग्रह करते हैं; परन्तु गोलाक वृन्दावनमें नन्दनन्दन श्रीकृष्ण असंख्य गोपियोंके कान्त हैं, उनके साथ रास–नृत्यादि करते हैं तथा गोपियोंका अनुग्रह पानेके लिए लालायित रहते हैं। रसिकशेखर श्रीकृष्णका तथा ऐश्वर्य–आच्छादित—माधुर्यमण्डित उनके इस गोलोक धामका यह चमत्कारपूर्ण सर्वोत्तम माहात्म्य है।]

यहाँके वृक्ष कल्पतरु हैं। वे वृक्ष–समुदाय सबकी सभी प्रकारकी मनोकामनाओंको पूर्ण करते हैं; वे श्रीकृष्णके प्रति अतिशय प्रेमके कारण ही जड़वत वृक्ष बने हुए हैं—सबको मधुर फल प्रदान करते हैं, श्रीकृष्णके विरहमें अनुतप्त विरही और मिलनमें प्रेम–परिलुप्त होकर अष्ट–सात्विक विकारोंको धारण करते हैं। वहाँकी भूमि भी कल्पतरुकी भाँति सर्वकामनाप्रद है, अपने स्पर्शसे कृष्णप्रेमकी स्फूर्त्ति कराती है, अधिक क्या श्रीकृष्णके समान ही चिदानन्दमयी है; फिर कौस्तुभ आदि मणियोंकी तो बात ही अलग रहे। वहाँका जल अमृत जैसा सुस्वादु है, फिर वहाँके अमृतकी तो बात ही क्या है? वहाँ वंशी प्रियसखी है। वह अपनी मधुर स्वर लहरियोंसे, श्रीकृष्ण कहाँ सुखपूर्वक विराजमान हैं—इसकी सूचना कृष्णकान्ताओंको प्रदानकर, वहीं उनको बलपूर्वक आकर्षण कर लाती है। अधिक क्या वहाँकी सभी वस्तुएँ चिदानन्द–स्वरूप हैं, प्रत्येक पदार्थ चन्द्र–सूर्य जैसा स्वतः प्रकाशप्रद है। गौतमीय–तन्त्रमें ऐसा ही उल्लेख है—'समानोदित चन्द्रार्कम्।' वहाँ सूर्य और चन्द्र समान रूपसे उदित होते हैं। वहाँकी सभी वस्तुएँ चन्द्र–सूर्य जैसी स्वयं–प्रकाश शक्तियुक्त हैं। वहाँ नित्यप्रति सोलह कलाओंसे युक्त पूर्णचन्द्रसे प्रकाशित—प्रकाश्य वस्तुएँ भी स्वप्रकाश–स्वरूप हैं। उन सबके आस्वाद्य या भोग्य भी चित्–शक्तिमय हैं। 'दर्शयामास लोकं स्व गोपानां तमसः परम्' श्रीमद्भागवतीय (१०/२८/१४) श्लोकसे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्णने श्रीनन्द आदि व्रजवासियोंको प्रकृतिसे परे वैसे ही अपने लोकका

दर्शन कराया था। 'सुरभीभ्यश्च'के द्वारा यह बोध होता है कि श्रीकृष्णकी मधुर वंशीध्वनिको सुनकर वात्सल्यावेशसे वहाँकी सुरभियोंके स्तनसे स्वतः दुग्धधारा झरने लगती है, वे हरी-भरी घासोंका चरना और उन्हें निगलना भूलकर—अपने नेत्रोंको बन्दकर कर्णद्वयरूपी दोनोंसे उस अमृत-ध्वनिका पान कर अघाती नहीं हैं।

'व्रजति न हि'के द्वारा यह गूढ़ार्थ प्रकाशित होता है कि वहाँके सारे व्रजवासी श्रीकृष्णके प्रति प्रगाढ़ प्रेमके आवेशमें नित्य-निरन्तर डूबे रहनेके कारण देह-दैहिक सब कुछ विस्मृत हुए रहते हैं; उन्हें काल बीतनेका ध्यान ही नहीं रहता। अथवा वहाँ सदासर्वदा भूत-भविष्य रहित निर्दोष अखण्ड वर्त्तमान-काल विराजमान रहता है; वहाँ जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि, शोक-भय आदि रहित चिन्मयानन्दका महासमुद्र सर्वदा हिलोरें लेता रहता है। वहाँ कालका विक्रम नहीं है—'न च कालविक्रमः' (श्रीमद्भा. २/९/१०)

'श्वेत'का तात्पर्य शुद्ध, अन्य-संगरहित सर्वथा विशुद्धसे है। अतः वह श्वेतद्वीप या शुद्धद्वीप कहलाता है। गोपालतापनीमें भी ऐसा कहा गया है—'यथा सरसि पद्मं तिष्ठति तथा भूम्यां हि तिष्ठति' अर्थात् जिस प्रकार कमल जलमें रहकर भी जलसे निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार यह श्वेत-द्वीपधाम (वृन्दावन-नवद्वीप) भूमि तल पर रहकर भी भूमिगत दोषोंसे सदा निर्लिप्त रहते हैं। 'क्षितीति'—श्रीगोलोकके इस तथ्यको जगतीतलमें कोई-कोई विरले ही जानते हैं। सनकादि ऋषियोंने कहा है—'यं न विद्मो वयं सर्वे पृच्छन्तोऽपि पितामहम्' अर्थात् हम सब पितामह ब्रह्माजीसे पूछकर भी उस गोलोक-वृन्दावन धामको नहीं जान सके। अतः गोलोक-वृन्दावनधाम परम दुर्लभ धाम है, जिसे केवलमात्र श्रीकृष्णके कृपापात्र ही जान पाते हैं॥५६॥

तात्पर्य—जो स्थान—जीवोंके सर्वोत्कृष्ट रसमय भजनके द्वारा ही सुलभ होता है, वह सम्पूर्ण चिन्मय है; परन्तु उसको निर्विशेष नहीं कहा जा सकता है। क्रोध, भय और मोहके द्वारा निर्विशेष ब्रह्म-धामकी प्राप्ति होती है। भक्तगण अपने-अपने रसके अनुसार चित्-जगतके परव्योम-वैकुण्ठ या उसके ऊपरस्थित गोलोकधामको प्राप्त करते हैं। यथार्थतः वही धाम अत्यन्त विशुद्ध होनेके कारण ही श्वेतद्वीप कहलाता है। इस जगतमें जो लोग विशुद्ध भक्तिपथसे उपासना करते हुए विशुद्ध प्रेमभक्ति प्राप्त करते हैं, वे ही इस जगतमें स्थित गोकुल वृन्दावन और नवद्वीपमें उक्त श्वेतद्वीप तत्त्वका दर्शनकर उसे ही 'गोलोक' बतलाते हैं।

उस गोलोकमें चित् विशेषयुक्त कान्ता, कान्त, वृक्षलता, भूमि (पर्वत, नदी, वन आदिके साथ) जल, कथा, गमन, वंशीवाद्य, चन्द्र–सूर्य, आस्वाद्य, आस्वादन (अर्थात् चौंसठ कलाओंकी अचिन्त्य विशेषतामय चमत्कारिताएँ), गो–समूह, अमृत निःसृत क्षीर–समुद्र और नित्य वर्त्तमान रूप चिन्मय काल वहाँ सदैव सुशोभित रहते हैं। वेद, पुराण, तन्त्र आदि शास्त्रोंमें अनेकानेक स्थलों पर गोलोकका वर्णन है।

छान्दोग्य श्रुति कहती है—'ब्रूयाद् यावान् वा अयमाकाशस्तावानेष अन्तर्हृदये आकाशः उत अस्मिन् द्यावा पृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्यचन्द्रमसावुभौ विधुन्नक्षत्राणि यच्चान्यदिहास्ति यच्च नास्ति सर्वम् तस्मिन् समाहितमिति।'—इसका तात्पर्य यह है कि मायिक जगतमें जितनी प्रकारकी विशेषताएँ हैं, वे समस्त और उससे भी अधिक विशेषताएँ उस धाममें हैं। चिज्जगतकी विशेषताएँ समाहित होनेसे आनन्ददायक होती हैं और जड़ जगतकी विशेषताएँ असमाहित होनेसे सुख–दुःख दायक होती हैं। भगवद्भक्त और साधुजन—शुद्धभक्ति–समाधि योगके द्वारा वेद और वेदोदित तत्त्वज्ञान द्वारा निर्मल चित्तवृत्तिका अवलम्बनकर उस गोलोकधामका दर्शन करते हैं और कृष्णकी कृपासे उनकी क्षुद्र चित्तवृत्ति आनन्त्य धर्मको प्राप्तकर उस धाममें श्रीकृष्णके साथ भोग–समताको प्राप्त करती है अर्थात् सेवासुखका आस्वादन करती है। 'परममपि तदास्वाद्यमपि च'—पदका एक निगूढ़ अर्थ है; वह यह कि 'परमपि'–शब्दसे यह सूचित होता है कि गोलोकके अन्तर्गत सारी चिदानन्द विशेषताओंमें अर्थात् पदार्थोंमें श्रीकृष्ण ही परतत्त्व हैं और 'तदास्वाद्यमपि' शब्दसे अन्यान्य सभी चिदानन्दमयी विशेषताएँ श्रीकृष्णका आस्वाद्य–तत्त्व हैं अर्थात् श्रीकृष्णके भोग्य या आस्वादनीय हैं। श्रीमती राधिकाकी प्रणय–महिमा, श्रीमती राधिका जो कृष्णरस अनुभव करती हैं और उस रस–अनुभवसे श्रीमती राधिका जिस सुखको प्राप्त करती हैं—ये तीनों भाव श्रीकृष्णके आस्वाद्य होने पर श्रीकृष्ण जिस गौरवको प्राप्त करते हैं अर्थात् श्रीराधा–भावद्युति–सुवलित तनु श्रीगौरसुन्दररूपमें महिमान्वित होते हैं, वही तदीय प्रदर्शित रस–सेवासुख है। वही रस–सेवासुख श्वेतद्वीपमें नित्य वर्तमान है॥५६॥

श्लोक ५७

अथोवाच महाविष्णुर्भगवन्तं प्रजापतिम् ।
ब्रह्मन् महत्त्वविज्ञाने प्रजासर्गे च चेन्मतिः।
पञ्चश्लोकीमिमां विद्यां वत्स दत्तां निबोध मे॥५७॥

अन्वय—अथ (अनन्तर अर्थात् ब्रह्माकी स्तुति श्रवणके अनन्तर) महाविष्णुः (सर्वेश्वरेश्वर श्रीकृष्णने) भगवन्तं प्रजापतिम् (भगवान् ब्रह्माको) उवाच (कहा)—"ब्रह्मन्" (हे प्रजापते!) महत्त्व विज्ञाने (मेरे महत्त्व विज्ञानको अर्थात् चिद्ज्ञानको विशेष रूपसे जानने) प्रजासर्गे च (तथा प्रजासृष्टि करनेके लिए) चेत् (यदि) मतिः (तुम्हारी इच्छा है) (तब) वत्स! (हे वत्स!) मे द त्तां (मेरे द्वारा प्रदत्त) इमां पञ्चश्लोकीं विद्यां (यह पञ्चश्लोकी विद्या) निबोध (धारण करो) ॥५७॥

अनुवाद—इस प्रकार यह सारगर्भ स्तव श्रवणकर भगवान् कृष्णने ब्रह्माको कहा, हे ब्रह्मन्! यदि तुम्हें मेरे महत्त्वविज्ञानके द्वारा प्रजासृष्टि करनेकी अभिलाषा है, तब हे वत्स! मैं तुम्हें यह पञ्चश्लोकी विद्या प्रदान कर रहा हूँ, इसे ग्रहण करो॥५७॥

टीका—तदेवं तस्य स्तुतिमुक्त्वा श्रीभगवत्प्रसादलाभमाह,—अथेति सार्द्धेन। सर्वं स्पष्टम्॥५७॥

टीकानुवाद—इस प्रकार ब्रह्माजी द्वारा भगवान्‌की स्तुति किये जाने पर श्रीभगवान् द्वारा उनपर अनुग्रहका वर्णन 'अथोवाच' इस डेढ़ श्लोकके द्वारा कर रहे हैं। इस श्लोकमें सबकुछ स्पष्ट है।

तात्पर्य—श्रीब्रह्माजीने बड़े व्याकुल होकर अबतक भगवान्‌के रूप, गुण और लीलासूचक 'कृष्ण' और 'गोविन्द' नामोंसे युक्त अनेक प्रकारसे स्तुति की; उसे सुनकर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए। उस समय ब्रह्माके हृदयमें प्रजासृष्टिकी कामना थी। इसलिए उनकी भावना समझकर, संसारी जीव जिस प्रकार भगवान्‌की आज्ञाका पालन करते हुए विशुद्ध अनन्या भक्तिका साधन कर सके, उसी प्रकारसे भगवान्‌ने विचार करके ब्रह्माको कहा—हे ब्रह्मन्! चित्तत्त्वका ज्ञान ही महत्त्व-विज्ञान है। यदि तुम उस महत्त्व-विज्ञानके साथ प्रजासृष्टि करनेकी इच्छा करते हो, तब यह पञ्चश्लोकी अर्थात् इसके पश्चात् और पाँच श्लोकोंमें जिस भक्ति-विद्याका उपदेश कर रहा हूँ, उसे श्रवण करो।

भगवदाज्ञा पालन-रूप संसार कार्य करते-करते जिस प्रकारसे शुद्ध-भक्तिका साधन करना चाहिए, उसे बतला रहे हैं॥५७॥

श्लोक ५८

प्रबुद्धे ज्ञानभक्तिभ्यामात्मन्यानन्दचिन्मयी।
उदेत्यनुत्तमा भक्तिर्भगवत्प्रेमलक्षणा ॥५८ ॥

अन्वय—ज्ञानभक्तिभ्याम् (भगवत्तत्त्वज्ञान और भक्तिके द्वारा) आत्मनि प्रबुद्धे (आत्मा जागृत होने पर) भगवत् प्रेम लक्षणा आनन्दचिन्मयी (श्रीकृष्ण प्रेम लक्षणा चिन्मय रस स्वरूपा) अनुत्तमा (सर्वोत्तमा) भक्तिः उदेति (भक्ति उदित होती है) ॥५८ ॥

अनुवाद—श्रीकृष्ण प्रीति विषयिणी, ज्ञान और भक्तिके द्वारा चिद् विषयकी अनुभूति होनेपर आत्मप्रिय श्रीकृष्णमें भगवत्–प्रेमलक्षणा चिन्मयरस–स्वरूपा अत्यन्त उत्तमा भक्ति उदित होती है ॥५८ ॥

टीका—तत्र प्रसादरूपां पञ्चश्लोकीमाह,—प्रबुद्ध इति। "ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः" इत्येकादशात् ॥५८ ॥

टीकानुवाद—अब इन पाँच श्लोकोंमें भगवान्‌के अनुग्रहका वर्णन कर रहे हैं। 'प्रबुद्ध' इस श्लोकके द्वारा अपने अनुग्रहको प्रारम्भ कर रहे हैं। हे ब्रह्मन्! आप मेरे अनुग्रहसे ज्ञान–विज्ञान सम्पन्न होकर भक्तिभावसे मेरी आराधना करें।

जैसे भगवान्‌ने उद्धवजीको कहा है—'ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः ॥' (श्रीमद्भा. ११/१९/५) इससे 'मामेव भज अन्यत् सर्वत्यज' अर्थात् सबको छोड़कर एकमात्र मेरी आराधना करो। (श्रीधर स्वामीपाद)

सेवा ज्ञानात्मक है और सेवक विज्ञानात्मक है। सेव्य सेवकका स्वरूपज्ञान लाभ करते हुए भगवान्‌की सेवा करनेपर जीवोंका परम मंगल होता है। इसलिए सम्बन्धज्ञानयुक्त होकर उनकी सेवा करना ही परम कर्त्तव्य है। स्वरूपज्ञानके अभावमें विरूपकी सेवा करने पर भगवान्‌में प्रीति नहीं हो सकती है। (श्रील प्रभुपाद) ॥५८ ॥

तात्पर्य—ज्ञानका तात्पर्य सम्बन्ध–ज्ञानसे है। चित्तत्त्व, अचित्तत्त्व और कृष्ण–तत्त्वके ज्ञानके साथ इनके पारस्परिक सम्बन्ध–ज्ञानको ही ज्ञान कहते हैं। यहाँ आध्यात्मिक ज्ञानसे तात्पर्य नहीं है, क्योंकि वह भक्ति–विरोधी है। दशमूलके प्रथमोक्त सात तत्त्व मूल सम्बन्ध ज्ञान हैं—(१) गुरुपरम्परासे प्राप्त वेदादि शास्त्रवाक्य ही अमल प्रमाण है, (२) श्रीहरि ही परम तत्त्व हैं, (३) वे सर्वशक्तिमान हैं, (४) वे अखिलरसामृत–सिन्धु हैं, (५) जीवसमूह उनके विभिन्नांश–तत्त्व हैं, (६) बद्ध और मुक्तभेदसे जीव दो प्रकारके हैं,

(७) जीव और जगत्से भगवान्का अचिन्त्य-भेदाभेद सम्बन्ध है। भक्ति ही अभिधेय तत्त्व है। भक्तिके बहुत-से अङ्गोंमेंसे नौ प्रधान हैं। श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन आदि क्रियात्मक चेष्टाओंको कृष्णानुशीलन कहते हैं। ऐसे कृष्णानुशीलनको ही अभिधेय-तत्त्व समझना चाहिए। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें इसका साङ्गोपाङ्ग विवरण है। ऐसे ज्ञान और भक्तिके द्वारा ही प्रेमलक्षणा भक्ति प्रबुद्ध होकर उदित होती है। वही सर्वोत्तमा भक्ति है और वही जीवोंका साध्यतत्त्व है॥५८॥

श्लोक ५९

प्रमाणैस्तत्सदाचारैस्तदभ्यासैर्निरन्तरम् ।
बोधयत्यात्मनात्मानं भक्तिमप्युत्तमां लभेत्॥५९॥

अन्वय—प्रमाणैः (भगवत् शास्त्र अर्थात् शुद्धभक्ति-सिद्धान्त सम्मत शास्त्र समूह) सदाचारैः (साधु भक्तोंके आचरण) तदभ्यासैः (और साधुओंके सदाचारके पुनः-पुनः अभ्यास द्वारा) निरन्तरम् (सर्वदा) आत्मना आत्मनं बोधयति अपि (स्वयं ही अपनेको भगवदाश्रित शुद्ध जीव रूपमें अनुभव करने पर ही) उत्तमां भक्तिं लभेत् (शुद्धभक्ति प्राप्त होती है)॥५९॥

अनुवाद—प्रामाणिक शास्त्रोंके सदाचारोंके पालन और साधन-भजन आदिके पुनः पुनः अभ्यास द्वारा निरन्तर अपने स्वरूपकी उपलब्धि करें एवं अपनेको भगवद् आश्रित जानकर उनके चरणोंमें आत्मसमर्पण करें। इस प्रकार करते हुए साधकको उत्तमा भक्तिकी प्राप्ति होती है॥५९॥

टीका—प्रेमलक्षणभक्तेः साधनज्ञानरूपयोर्भक्त्योः प्राप्त्युपायमाह,—प्रमाणैरिति। 'प्रमाणैः' भगवच्छास्त्रैः 'तत्सदाचारैः' तदीया ये सन्तस्तेषामाचारैरनुष्ठानैः 'तदभ्यासैः' तेषामेव पौनःपुण्यबाहुल्येन, 'आत्मनात्मानं बोधयति' स्वयमेव स्वं भगवदाश्रितः शुद्धजीवरूपमनुभवति; ततोऽप्युत्तमां शुद्धां भक्तिं लभत इति। तथा च श्रुतिस्तवे,—"स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसम्वरणं तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम्। इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः॥" इति॥५९॥

टीकानुवाद—प्रेम-भक्ति प्राप्त करनेका उपाय एकमात्र साधन-भक्ति है। अतएव यहाँ 'प्रमाणैस्तत'-श्लोकके द्वारा उस साधन-भक्तिका विषय वर्णन कर रहे हैं। वेद, पुराण, गीता और श्रीमद्भागवत आदि प्रमाणित भक्ति शास्त्रोंमें कथित सदाचारके सहित शुद्धभक्तिके आचरणकारी महानुभावोंको सत् या

साधु कहते हैं; उनके आचरणके अनुरूप श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण आदि भक्तिके अङ्गोंके अनुष्ठान या अनुशीलनसे पुनः–पुनः उनके अभ्याससे साधक भक्त अपने हृदयमें स्वयं आत्मबोध करता है अर्थात् स्वयं ही अपनेको भगवदाश्रित शुद्धजीवके रूपमें अनुभव करता है। शुद्धभक्ति—रागानुगा–भक्तिके निरन्तर अनुशीलनसे निर्मल हृदयमें भगवत्कृपा या भागवत्कृपासे उसके शुद्ध स्वरूपकी —भगवद्दासस्वरूपकी स्फूर्ति होती है। तभी वह सर्वोत्तमा प्रेमलक्षणा भक्तिको प्राप्त करता है। श्रीमद्भागवतके श्रुतिस्तवमें भी उसका विशद् विवेचन है—'स्वकृतपुरेष्व वहि.....भुवि विश्वसिताः।' (श्रीमद्भा. १०/८/२०) अर्थात् शरीर और ब्रह्माण्ड समूहके अन्तर–बाहर नियन्त्रणकारी जो भी पुरुष हैं, वे स्वतंत्र नहीं हैं—श्रीहरिके ही अंश या विभिन्नांश हैं—इस प्रकार सत्य–ज्ञानको प्राप्त कर जो महानुभाव मनुष्यकी सकाम गतिसे अवगत होकर, वेदोक्त सकाम कर्मोंका सर्वथा त्यागकर—पूर्ण विश्वासके साथ परम निष्काम उपासना रूप अनन्य–उत्तमा–भक्तिका अनुशीलन करते हैं—इस जगतीतल पर रहकर आपके श्रीचरणकमलोंकी आराधना करते हैं, वे दुर्लङ्घ्य भवसागरको सहज ही पारकर आपको प्राप्त कर लेते हैं। आपके श्रीचरणकमल ही संसार–भयके एकमात्र निवारक हैं॥५९॥

तात्पर्य—'प्रमाण'का तात्पर्य वेद, उपनिषद, पुराण, गीता और श्रीमद्भागवत आदि भक्ति–शास्त्रोंसे है। 'सदाचार'से शुद्धभक्तों तथा अनुरागी वैष्णवजनोंके रागमूलक आचारको समझना चाहिए। 'तदभ्यास'—भक्तिशास्त्रोंसे दशमूल–तत्त्वको अवगत होकर उनके द्वारा निर्धारित भगवन्नाम, रूप, गुण और लीलात्मक हरिनाम–प्राप्तिके अनन्तर उनका निरन्तर अर्थात् दिन–रात अनुशीलन करना ही अभ्यास है। इसके द्वारा शास्त्र–अनुशीलन और साधुसंगको समझना होगा। सदाचारके साथ हरिनाम अनुशीलन करनेसे दस प्रकारके नामापराध दूर हो जाते हैं। शुद्ध–भक्तोंके जैसा अपराधरहित हरिनाम–अनुशीलनका अनुसरण करना ही 'अभ्यास' है। इस प्रकार अभ्यास करते–करते साध्यफल अर्थात् प्रेमलक्षणा भक्ति हृदयमें प्रकाशित होती है॥५९॥

श्लोक ६०

यस्याः श्रेयस्करं नास्ति यया निर्वृतिमाप्नुयात्।
या साधयति मामेव भक्तिं तामेव साधयेत्॥६०॥

अन्वय—यस्याः (जिससे) श्रेयस्करं न अस्ति (मङ्गलजनक और कुछ भी नहीं है) यया निर्वृत्तिम् आप्नुयात् (जिससे परमानन्द सुखकी प्राप्ति होती है) या माम् एव साधयति (और जो मुझको प्राप्त करानेमें समर्थ है) तां भक्तिम् एव (उस शुद्ध भक्तिका ही) साधयेत् (साधन करना चाहिए)॥६०॥

अनुवाद—प्रेमभक्ति ही साध्य है, उससे अधिक श्रेयस्कर और कुछ भी नहीं है, उसीके द्वारा परमानन्दकी प्राप्ति होती है। और वही मुझे साधित करती है। साधन भक्ति ही उस प्रेमभक्तिको साधित कराती है अर्थात् प्राप्त कराती है॥६०॥

टीका—तथाच प्रेमभक्तिरेव साध्या, नान्येत्याह,—यस्य इति। तदुक्तं चतुर्थे—"अतो मां सुदुराराध्यं सतामपि दुरापया। एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत् पादमूलं बिना बहिः॥" इति॥६०॥

टीकानुवाद—प्रेमभक्ति ही एकमात्र साध्य है; उससे बढ़कर जीवोंके लिए और कुछ भी श्रेयस्कर नहीं है। उसीसे भगवत्प्राप्ति होती है; वह परमानन्द-स्वरूप है। श्रीमद्भागवत चतुर्थ स्कन्धमें भी ऐसा कहा गया है—

तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया।
एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत् पादमूलं विना बहिः॥

अर्थात् हे भगवान्! आप सुदुराराध्य हैं; आपकी ऐकान्तिकी-भक्ति साधुओंके लिए भी अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे दुराराध्य आपके श्रीचरणकमलोंकी आराधनाकर संसारमें ऐसा कौन-सा दुर्भागा होगा जो आपके श्रीचरणयुगलकी प्रेममयी सेवाको छोड़कर अज्ञान प्रसूत सांसारिक भौतिक-सुख, स्वर्गसुख, मोक्ष-सुखादि इतर वस्तुओंकी कामना करेगा? इस विषयमें अधिक जाननेके लिए भक्तिसन्दर्भ द्रष्टव्य है॥६०॥

तात्पर्य—प्रेमभक्तिसे बढ़कर जीवोंके लिए और कुछ भी श्रेयस्कर नहीं है। वही साध्यभक्ति जीवोंका परमानन्द है। एकमात्र प्रेमभक्तिके द्वारा ही श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्ति होती है। जो लोग उस साध्यभक्तिको पानेके लिए अत्यन्त व्याकुलताके साथ साधनभक्तिका अनुशीलन करते हैं, केवलमात्र वे ही उस साध्यभक्तिको पा सकेंगे; दूसरे लोग उसे कदापि प्राप्त नहीं कर सकते॥६०॥

श्लोक ६१

धर्मानन्यान् परित्यज्य मामेकं भज विश्वसन्।
यादृशी यादृशी श्रद्धा सिद्धिर्भवति तादृशी॥
कुर्वन्निरन्तरं कर्म लोकोऽयमनुवर्त्तते।
तेनैव कर्मणा ध्यायन् मां परां भक्तिमिच्छति॥६१॥

अन्वय—अन्यान् धर्मान् परित्यज्य (दूसरे-दूसरे अर्थात् अज्ञान प्रसूत चर्तुवर्गात्मक धर्मोंका परित्यागकर) एकं माम् विश्वसन् भज (एकमात्र मेरा ही विश्वासपूर्वक भजन करो) यादृशी-यादृशी श्रद्धा (जैसी-जैसी श्रद्धा होती है) तादृशी सिद्धिर्भवति (वैसी-वैसी सिद्धि भी होती है) अयम् लोकः (इस जगतके लोग) निरन्तरं (सर्वदा) कर्म कुर्वन् (नाना प्रकारके कर्म) अनुवर्त्तते (करते रहते हैं) तेन कर्मणा एव (उन्हीं कर्मोंके द्वारा ही) मां ध्यायन् (मेरा चिन्तन करते हुए) परां भक्तिं इच्छति (परा भक्तिको प्राप्त करेंगे)॥६१॥

अनुवाद—हे ब्रह्मन्! दूसरे-दूसरे सारे धर्मोंका परित्यागकर सुदृढ़ विश्वासपूर्वक एकमात्र मेरा भजन करो। श्रद्धाके अनुरूप ही सिद्धि होती है अर्थात् जैसी श्रद्धा होती है, वैसी ही सिद्धि होती है। इस जगत्में मानवगण निरन्तर कर्म करते रहते हैं। उक्त कर्मोंके द्वारा मेरा ही चिन्तन करते हुए मेरी प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्तिकी कामना करें॥६१॥

टीका—पुनः शुद्धामेव साधनभक्तिं द्रढयन्नकामैरपि तामेव कुर्य्यादित्याह,—धर्म्मानन्यानिति। तदुक्तं—"अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेन भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥" इति॥६१॥

टीकानुवाद—पुनः विशुद्ध-भक्तिके साधनमें दृढ़ता सम्पादन करते हुए श्रीभगवान्ने कहा—ब्रह्मन्! सुदृढ़ विश्वासके साथ मेरा भजन करो। दूसरे-दूसरे सकामी या मुक्तिकामी व्यक्ति भी अपने-अपने कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए मेरा ही चिन्तन करें, दूसरेका नहीं। इस प्रकार अनन्य भक्तियोग द्वारा सभी लोग परमपुरुष मेरी ही आराधना करें। श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(२.३.१०)

अर्थात् निष्काम हों, समस्त प्रकारकी कामनावाले हों, मुक्तिकामी हों अथवा भक्तिकी कामनावाले अनन्य भक्त हों—सभी लोग अनन्य भक्तियोगके द्वारा मुझ परमपुरुष श्रीकृष्णकी ही आराधना करें॥६१॥

तात्पर्य—शुद्ध-भक्ति ही जीवोंके लिए परमधर्म है, वही जैवधर्म अर्थात् जीवमात्रका नित्यधर्म है। उसके अतिरिक्त दूसरे सारे धर्म—औपाधिक धर्म हैं। इस जगत्में निर्वाणपरक ब्रह्मज्ञान-धर्म, कैवल्य लक्षित अष्टाङ्ग आदि योगधर्म, भौतिक सुखमूलक बहिर्मुख कर्मकाण्डरूप धर्म, कर्मज्ञानमिश्र ज्ञानयोग-धर्म आदि नाना-प्रकारके औपाधिक धर्म दृष्टिगोचर होते हैं। इन औपाधिक धर्मोंका परित्यागकर श्रद्धामूलक भक्तिधर्मका अवलम्बनकर मेरा भजन करो। मुझमें अनन्य श्रद्धाको ही 'विश्वास' कहते हैं। वही विश्वासरूप श्रद्धा क्रमानुसार परिपक्व होने पर निष्ठा, रुचि, आसक्ति और भावका रूप धारण करती है। वही श्रद्धा जितने अधिक परिमाणमें परिपक्व अर्थात् प्रगाढ़ होगी, सिद्धि भी उतनी ही अधिक परिमाणमें उदित होती जायेगी।

यदि कहो कि इस प्रकार नित्य-निरन्तर भक्तिसिद्धिकी चेष्टामें ही व्यस्त रहा जाय, तो शरीर-रक्षा और जीविका-निर्वाह कैसे होगा? शरीर-रक्षा और जीविका-निर्वाहके अचल होने पर मृत्यु अनिवार्य है; फिर मृत्यु होने पर भक्तिसिद्धिकी प्रचेष्टा कैसे संभव है? इसी शंकाको दूर करनेके लिए भगवान् कहते हैं कि इस संसारमें मनुष्य अपनी जीविका-निर्वाह तथा शरीर-रक्षा आदिके लिए जिन-जिन कर्मोंको करते हैं, यदि उन सारे कर्मोंको भगवान्के उद्देश्यसे ही किया जाय, तब उन कर्मोंका कर्मत्व दूर होकर वे भक्तिमय हो जायेंगे। शारीरिक, मानसिक और सामाजिक—इन त्रिविध-प्रकारके कर्मोंके द्वारा मानव शरीर-धारण और जीविका निर्वाह करते हैं। भोजन, पान, आसन, भ्रमण, शयन, स्नानादि द्वारा शुद्धिकरण, आच्छादन आदि विविध प्रकारके शारीरिक कर्म; चिन्तन, स्मरण, धारण, विषयोपलब्धि, सुख-दुखकी अनुभूति आदि नाना प्रकारके मानसिक कर्म; तथा विवाह, राजा-प्रजा-सम्बन्ध, भ्रातृत्व, यज्ञ-समाधिवेशन, भवन-मन्दिर, कुँआ, चिकित्सालय आदि निर्माणरूप इष्टापूर्त्त, कुटुम्बपालन, अतिथिसेवा, व्यवहार, दूसरोंका यथायोग्य सम्मान आदि बहुत-से सामाजिक कर्म देखे जाते हैं। जब ये सारे कर्म अपने सुख भोगके लिए किये जाते हैं, तब इनको 'कर्मकाण्ड' कह सकते हैं। इन्हीं कर्मोंके द्वारा ज्ञान-अर्जनकी चेष्टा होने पर इनको कर्मयोग अथवा ज्ञानयोग कहा जा सकता है; और जब ये सारे कर्म, भक्तिसाधनके अनुकूल होते हैं, तब इन्हें 'गौण भक्तियोग' कह सकते हैं। परन्तु शुद्ध उपासना मूलक कर्मोंको ही एकमात्र 'साक्षात्-भक्ति' कहा जायेगा।

समयानुसार साक्षात् भक्ति और लोक–व्यवहारमें गौणी–भक्तिका अनुष्ठान करने पर ही प्रत्येक कर्मके द्वारा मेरा 'ध्यान' होता है; ऐसी दशामें कर्म करने पर भी मनुष्य बहिर्मुख नहीं होता;—इस प्रक्रियाके अनुसार कर्म किये जाएँ, तो वह अन्तर्मुखताका अनुष्ठान कहलाता है; जैसे ईशोपनिषद्में कहा गया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्चित् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यचिद्धनम्॥

इसमें भाष्यकारने कहा है—'तेन ईशत्यक्तेन विसृष्टेन'—सार तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी ग्रहण किया जाय, उन सबको सौभाग्यसे प्राप्त 'भगवान्का दिया हुआ प्रसाद' समझकर ग्रहण करने पर कर्मका कर्मत्व दूर हो जाता है, उसमें भक्तित्व उदित हो जाता है। अतएव ईशावास्य कहते हैं—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥' अर्थात् इस प्रक्रियाके अनुसार सैकड़ों वर्षोंतक जीवनभर कर्म करने पर भी मनुष्य कर्मलिप्त नहीं होता। इन दोनों मन्त्रोंका ज्ञानपक्षीय अर्थ है—कर्मफल–त्याग; किन्तु भक्तिपक्षीय अर्थ है—भगवत्–समर्पण द्वारा भगवत्प्रसाद लाभ करना। अर्चन मार्गमें भगवदुपासना–ध्यानके साथ सांसारिक कर्मोंको करो। ब्रह्माके हृदयमें सृष्टि करनेकी कामना है; यदि इस सृष्टि–कार्यको भगवान्की आज्ञा मानकर ध्यानके साथ उसका पालन किया जाय, तभी भगवान्की शरणागति होनेके कारण वह भक्तिके अन्तर्गत आनुकूल्य–पोषक गौण–धर्म होगा। अतः ब्रह्माको ऐसा उपदेश देना उपयुक्त है। भाव–प्राप्त जीवमें स्वाभाविकरूपसे कृष्णेतर विषयोंमें वैराग्य उदित होने पर इस उपदेशकी आवश्यकता नहीं रहती॥६१॥

श्लोक ६२

अहं हि विश्वस्य चराचरस्य
बीजं प्रधानं प्रकृतिः पुमांश्च।
मयाऽऽ हितं तेज इदं विभर्षि
विधे विधेहि त्वमथो जगन्ति॥६२॥

इति श्रीब्रह्मसंहितायां भगवत्सिद्धान्तसंग्रहेमूलसूत्राख्यः पञ्चमोऽध्यायः।

अन्वय—अहं ही (मैं ही) चराचरस्य विश्वस्य (स्थावर जङ्गमात्मक ब्रह्माण्डका) प्रधानं बीजं (सर्वश्रेष्ठ बीज अर्थात् मूल तत्त्व हूँ) प्रकृतिः (अव्यक्त नामक त्रिगुणात्मिका बहिरंगा शक्ति) पुमान् च (और मैं ही उसका द्रष्टा-पुरुष), किं बहुना (अधिक क्या कहूँ) विधे (हे विधातः!) त्वम् (अपि) (तुम भी) मया आहितं (मेरे द्वारा अर्पित) इदं तेजः (यह तेज अर्थात् शक्ति) विभर्षि (धारण कर रहे हो), अथो जगन्ति विधेहि (अब उस तेजके द्वारा स्थावर-जङ्गमात्मक सारी वस्तुओंका सृजन करो) ॥६२॥

इति श्रीब्रह्मसंहितायाः पञ्चमाध्यायस्यन्वयः।

अनुवाद—हे ब्रह्मन्! सुनो—मैं ही इस चराचर विश्वका बीज अर्थात् मूलतत्त्व हूँ। मैं ही प्रधान, मैं ही प्रकृति और मैं ही पुरुष हूँ। यह ब्रह्मतेज जो तुम्हारे अन्दर छिपा हुआ है, वह मैंने ही दिया है। इसलिए इस तेजको धारणकर तुम इस चराचर विश्वकी सृष्टि करो॥६२॥

टीका—तस्मात्तव सिसृक्षापि फलिष्यतीति सयुक्तिकमाह,—अहं हीति। 'प्रधानं" श्रेष्ठं, 'बीजं' पूर्णभगवद्रूपं, 'प्रकृतिः' अव्यक्तं, 'पुमान्' द्रष्टा; किं बहुना? त्वमपि मया 'आहितम्' अर्पितं तेजो विभर्षि, तस्मात्तेन मत्तेजसा 'जगन्ति' सर्वाणि स्थावर-जङ्गमानि, हे विधे, 'विधेहि' कुर्विति॥६२॥

तदुक्तं तत्रैव,—"अध्यायशतसम्पन्ना भगवद्ब्रह्मसंहिता। कृष्णोपनिषदां सारैः सञ्चिता ब्रह्मणोदिता॥" इति।

यद्यपि नानापाठान्नानार्थान् स्मरन्ति नानार्थास्ते।
तदपि च सत्पथलब्धा एवास्माभिस्त्वमी प्रमिताः॥
सनातनसमो यस्य ज्यायान् श्रीमान् सनातनः।
श्रीवल्लभोऽनुज सौऽसौ श्रीरूपो जीवसद्गतिः॥
श्रीकृष्णप्रीतये भवतादिति करुणामयमनिशं कृष्णं नमामि।

इति श्रीजीवगोस्वामि—कृता 'दिग्दर्शनी'
नाम्नी ब्रह्मसंहिता—टीका सम्पूर्णा।

टीकानुवाद—अतएव तुम्हारी सृष्टि करनेकी इच्छा भी सफल होगी—इसीको युक्तिपूर्वक 'अहं हि' इस श्लोकमें वर्णन करते हैं।

मैं ही 'प्रधान बीजं'—श्रेष्ठ कारणस्वरूप अर्थात् सर्वकारण-कारण-स्वरूप पूर्णब्रह्म या स्वयं भगवान् हूँ। प्रकृति अर्थात् अव्यक्त नामक त्रिगुणात्मिका बहिरङ्गा शक्ति और उसका द्रष्टा पुरुष हूँ। अधिक क्या कहूँ, तुम भी मेरे द्वारा अर्पित तेजको धारण कर रहे हो; अतएव हे ब्रह्मन्! उसी तेजके द्वारा स्थावर-जङ्गमात्मक सम्पूर्ण जगत्का सृजन करो।

ब्रह्मसंहितामें तथा अन्यत्र भी ऐसा उल्लेख है कि ब्रह्मसंहिता-ग्रन्थ सौ अध्याओंसे सम्पन्न है। यह श्रीब्रह्माजीके द्वारा संगृहीत श्रीकृष्णोपनिषद्का सारार्थ है। अर्थात् ब्रह्मसंहिताका यह पञ्चम अध्याय—सौ अध्याओंसे युक्त सम्पूर्ण ग्रन्थका सार-सङ्कलन है। यद्यपि इसके अनेक प्रकारके पाठान्तर हैं और इसके अनेक प्रकारके अर्थोंका उल्लेख पाया जाता है, तथापि सत्-सम्प्रदायलब्ध सत् सिद्धान्तोंके अनुरूप विचार-विश्लेषणपूर्वक हमने इसका शुद्धपाठ और अर्थका निर्णय किया है। सुधी विद्वान पाठक, श्रद्धापूर्वक इस ग्रन्थका अनुशीलन करेंगे। सनातन पुरुषके जैसे श्रीसनातन गोस्वामीपाद जिनके श्रेष्ठ भ्राता हैं, श्रीवल्लभ जिनके अनुज हैं, वे श्रीरूप गोस्वामीपाद ही मेरे एकमात्र आश्रय हैं॥६२॥

इस प्रकार श्रीजीव गोस्वामीपाद कृता श्रीब्रह्मसंहिताकी टीकाका अनुवाद सम्पूर्ण है॥६२॥

तात्पर्य—कतिपय विचारकोंके अनुसार निराकार, निर्विशेष, निर्गुण ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। उनके मतानुसार निर्विशेष ब्रह्म-वस्तु ही विवर्त्त हेतु

सविशेष-प्रतीतियुक्त दृष्टिगोचर होती है; अथवा माया ही परिच्छिन्न होने पर संसार और अपरिच्छिन्न-अवस्थामें ब्रह्म है; अथवा ब्रह्म-विम्ब है तथा जगत्—प्रतिबिम्ब है; अथवा सबकुछ जीवका भ्रम है—जीवके भ्रमसे ही निर्विशेष-ब्रह्ममें जीव और जगत्की भ्रान्ति होती है। किसी-किसीका कहना है—'स्वभावतः ईश्वर—एक है, जीव—एक है और जगत् या प्रपञ्च एक तत्त्व होने पर भी ये सभी नित्य स्वतंत्ररूपसे पृथक्-पृथक् हैं; अथवा ईश्वर—विशेष्य हैं, जीव और जगत् उस विशेष्यके विशेषण हैं, इस प्रकार विशेषणयुक्त विशेष्य—विशिष्टाद्वैत ब्रह्म ही परतत्त्व है। कतिपय विचारकोंका ऐसा भी मानना है कि परतत्त्व, कभी-कभी अचिन्त्य-शक्तिके प्रभावसे अद्वैत और कभी-कभी द्वैत—इन दोनों रूपोंमें प्रतिभात होते हैं, ये दोनों प्रतीतियाँ ही सत्य हैं। किन्हीं विचारकोंके सिद्धान्तके अनुसार शक्तिरहित अद्वैतवादी—निरर्थक और अयुक्तिसंगत हैं; अतएव ब्रह्म—शुद्धशक्तियुक्त नित्यशुद्ध अद्वैततत्त्व है। ये सारे मतवाद वेदोंसे ही वेदान्तसूत्रका अवलम्बन कर प्रसूत हुए हैं। ये मतवाद-समूह वेदोंके सार्वदेशिक सत्य-सिद्धान्त नहीं होने पर भी इनमें वेदोंका एकदेशीय सत्य अवश्य ही समाहित है। वेद-विरुद्ध—सांख्य, पातञ्जल, न्याय और वैशेषिक एवं वेदांशसम्मत केवल कर्मकाण्ड-प्रिय पूर्व मीमांसा आदि मतवादोंकी बात अलग रहे, बाह्यतः वेदान्तका अवलम्बन करके ही पूर्वोक्त अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत और शुद्ध-द्वैत आदि मतवाद-समूह उत्पन्न हुए हैं। हे ब्रह्मन्! इन वेदके एकदेशीय वादोंको छोड़कर तुम और तुम्हारा शुद्ध-सम्प्रदाय, वेदोंके सर्वदेशीय पूर्णसिद्धान्त—अचिन्त्यभेदाभेद रूप परम तत्त्वको ग्रहण करो। ऐसा होने पर ही तुम शुद्धभक्त हो सकोगे। सार तात्पर्य यह है कि यह चर-जगत् जीवमय है तथा अचर-जगत्—जड़मय है। उनमेंसे जीवसमुदायको मेरी पराशक्तिने तटस्थ-विक्रम (प्रभाव)से प्रकट किया है तथा जड़-जगत्को मेरी अपरा शक्तिने प्रकट किया है। मैं—इन सबका बीज हूँ अर्थात् उस प्रकृति शक्तिसे अभिन्नरूपसे अपनी इच्छाशक्ति द्वारा मैं उन सबका नियमन करता हूँ। उन-उन शक्तियोंके परिणामस्वरूप 'प्रधान', 'प्रकृति' और 'पुरुष' हुए हैं। अतएव शक्तित्वमें मैं ही 'प्रधान', 'प्रकृति' और 'पुरुष' होकर भी शक्तिमान-तत्त्वके रूपमें इन सबसे नित्य ही पृथक् हूँ। मेरी अविचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे ही इस प्रकार सर्वाङ्गपूर्ण युगपत् भेदाभेद-तत्त्व प्रकाशित हुआ है। अतएव अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्वमूलक 'जीव', 'जड़' और 'कृष्ण'—इन तीनोंके परस्पर

सम्बन्ध–ज्ञानसे पूर्ण शुद्धभक्ति योगके द्वारा कृष्ण–प्रेमको प्राप्त करना ही तुम्हारी सम्प्रदाय–परम्पराका आम्नाय–उपदेश बना रहे अर्थात् तुम्हारी श्रीब्रह्म–सम्प्रदायके अनुयायीजन भी इस शुद्धभक्तिकी विचारधाराको अपनाकर संसारका कल्याण करते रहें॥६२॥

जीवाभयप्रदा वृत्तिर्जीवाशय–प्रकाशिनी।
कृता भक्तिविनोदेन सुरभीकुञ्जवासिना॥

अर्थात् श्रीजीव गोस्वामीजीके अभिप्रायको प्रकाश करनेवाली तथा जीवोंको अभयप्रदान करनेवाली यह प्रकाशिका वृत्ति सुरभिकुञ्ज निवासी श्रीसच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरके द्वारा प्रकाशित की गयी है।

इति श्रीब्रह्मसंहिताया भगवत्सिद्धान्त–संग्रहे मूल सूत्राख्य पञ्चम अध्यायकी 'प्रकाशिनी' नामक 'गौड़ीय–वृत्ति' समाप्त।।

समाप्त